पर्वों की परिक्रमा

(प्रवचन संग्रह)

आचार्य श्री देवेन्द्र मुनि

श्री तारक गुरु जैन ग्रंथालय,
उदयपुर

श्री तारक गुरु जैन ग्रंथालय का ३६४वाँ पुष्प

✤ पर्वों की परिक्रमा

✤ प्रवचनकार :
आचार्य श्री देवेन्द्र मुनि

✤ संप्रेरणा :
श्री दिनेश मुनि

✤ सम्पादक :
श्रीचन्द सुराना 'सरस'

✤ प्रथम आवृत्ति २२००
वि. सं. २०५५, चैत्र
अप्रैल १९८८

✤ प्रकाशक :
श्री तारक गुरु जैन ग्रंथालय
गुरु पुष्कर मार्ग, उदयपुर-३१३ ००१
फोन : (०२९४) ४१३५१८

✤ मुद्रण :
संजय सुराना के निर्देशन में
दिवाकर प्रकाशन, आगरा

✤ मूल्य :
एक सौ रुपया मात्र

स्वतन्त्रता सेनानी कर्मठ कर्मयोगी स्व. श्यामसुन्दरलाल जी वर्डिया : एक परिचय

भारत के तत्वदर्शी महामनीषियों ने आत्मा, परमात्मा, जीव-जगत् आदि विविध दार्शनिक प्रश्नों पर जहाँ गहराई से अनुशीलन, परिशीलन किया है, वहाँ पर उन्होंने जीवन के संबंध में भी अपना स्पष्ट दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। केवल जीना ही जीवन नहीं है, जीवन वह है जिसमें परोपकार की भव्य भावना अठखेलियाँ कर रही हों। जीवन वह है जो सेवा, सहयोग और सहकार के लिए समर्पित हो, जीवन वह है जो परिवार, समाज और राष्ट्र के लिए प्रकाश-स्तम्भ की तरह जन-जन के लिए प्रेरणा का पावन स्रोत हो।

प्रस्तुत कसौटी पर जब हम जीवन को कसते हैं तो लगता है कि स्वतंत्रता के महान् सेनानी कर्मठ कर्मयोगी स्व. श्यामसुन्दरलाल जी वर्डिया का जीवन एक सच्चा और अच्छा जीवन था, जिनके जीवन के कण-कण में राष्ट्रीय भावना सदा ही अठखेलियाँ करती रही। जीवन के ऊषाकाल से ही राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के सफल विशिष्ट कार्यकर्त्ता रहे जिन्होंने अनेक बार कारागृह की यातनाएँ भी सहन कीं और भारतीय विद्या प्रचार समिति के अध्यक्ष और विभाग संघ-संचालक के दायित्व को बहुत ही कुशलता के साथ निर्वाह करते रहे।

झीलों की सुरम्य नगरी उदयपुर में आपका जन्म हुआ सन् १९२६ में। आपके पूज्य पिताश्री का नाम श्री नानालाल जी और मातेश्वरी का नाम श्रीमती सोहनदेवी जी था। आपका पाणिग्रहण लखावली निवासी श्री झड़ावचंद जी भण्डारी वर्षों से उदयपुर में ही निवास करते हैं उनकी सुपुत्री सुगनबाई जी के साथ सम्पन्न हुआ। सुगनबाई एक पतिव्रता सन्नारी रहीं, पति के हर राष्ट्रीय कार्यों में पूर्ण सहयोग प्रदान किया। सुगनबाई जी स्वभाव से सरल, हृदय से उदार धार्मिक और राष्ट्रीय भावना से उनका जीवन रँगा हुआ है। आपके एक सुपुत्र है और एक सुपुत्री है, पुत्र का नाम राकेश जी वर्डिया और पुत्री का नाम मंजु सिंघवी है। राकेश जी के जीवन में पिता के सद्संस्कार पूर्ण रूप से मुखरित हुये हैं। आपकी धर्मपत्नी का नाम श्यामला वर्डिया है। राकेश जी और श्यामला जी दोनों ने ही औद्योगिक क्षेत्र में नित नये कीर्तिमान स्थापित किये हैं। पिता के पदचिन्हों पर चलकर जिन्होंने व्यवसाय के क्षेत्र में अपनी ऐसी साख जमाई है जिसे निहारकर हर व्यक्ति को

आनंद की अनुभूति होती है। राकेश जी के एक सुपुत्र हैं शौनक और पुत्री का नाम है कालिन्दी। भाई और बहिन की जोड़ी अपूर्व है।

श्री श्यामसुन्दरलाल जी बर्डिया का जीवन जहाँ राष्ट्रीय भावना से ओतप्रोत रहा, वहाँ उन्होंने व्यवसाय के क्षेत्र में भी अपनी प्रतापपूर्ण प्रतिभा का परिचय दिया। रावतभाटा में उन्होंने विशेष रूप से औद्योगिक दृष्टि से कार्य किया था। भीलवाड़ा आदि औद्योगिक क्षेत्रों में और अन्य अनेक औद्योगिक क्षेत्रों में आपने ऐसे कार्य किये जिससे आपकी गौरव गरिमा में चार चाँद लगे। मेवाड़ खनिज उद्योग संस्थान आपका ऐसा संस्थान है जो उदयपुर के प्रसिद्ध संस्थानों में से है। जीवन में प्रारंभ से ही परिश्रम के प्रति अपार आस्था रही और पहले मुम्बई में अपने पूज्य पिताश्री के साथ कार्य किया और उसके पश्चात् उदयपुर ही आपके व्यवसाय का केन्द्र रहा। आप अनेक संस्थाओं से जुड़े रहे।

आचार्यसम्राट् श्री देवेन्द्र मुनि जी म. के आप सांसारिक चचेरे भाई थे। सन् १९९३ में आचार्यसम्राट् का उदयपुर में ऐतिहासिक चद्दर समारोह हुआ उस समय आपके अन्तर्मानस में धर्म के प्रति अपार आस्थाएँ जाग्रत हुई और समय-समय पर आचार्यसम्राट् के उदात्त, आध्यात्मिक एवं धार्मिक तथा राष्ट्रीय विचारों को श्रवण कर उनके अन्तर्मानस में जैन धर्म के प्रति पहले से अधिक धार्मिक आस्थाएँ जागृत हुई और जीवन के अंतिम समय में भी नवकार महामंत्र का स्मरण करते हुए २२ जनवरी, १९९८ को आप स्वर्गस्थ हुए। आपके पीछे भरा-पूरा परिवार है और सबकी अपार आस्था आचार्यसम्राट् के प्रति है। आचार्यसम्राट् के प्रस्तुत पुस्तक के प्रकाशन में आपका हार्दिक अनुदान प्राप्त हुआ है, तदर्थ हम आभारी हैं।

—चुन्नीलाल धर्मावत

श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय, उदयपुर

समर्पण

जिनका जीवन

दर्पण की तरह स्वच्छ

जल की भाँति सहज शीतल,

सूची की भाँति सरल, संयोजन कुशल,

और महावृक्ष की भाँति सबको आश्रय प्रदाता था।

उन परम श्रद्धेय, शान्तमूर्ति,

श्रमणसंघ के द्वितीय पट्ट प्रभावक

आचार्य सम्राट श्री आनन्द ऋषि जी म.

की पावन-स्मृति में समर्पित।

-आचार्य देवेन्द्र मुनि

अपनी बात....

पर्व मनुष्य जाति के आमोद-प्रमोद, हर्ष-उल्लास की अभिव्यंजना है। मनुष्य जीवन को रसमय एवं आनन्दमय बनाना चाहता है। जीवन का अधिक से अधिक स्वाद लेना चाहता है, आनन्द उठाना चाहता है। इसलिए वह किसी न किसी बहाने, सामने आये अवसरों का लाभ उठाकर आनन्द, खुशियाँ और प्रसन्नता का जीवन जीना चाहता है।

यों तो संसार भर में पर्व मनाये जाते हैं। जहाँ-जहाँ मानव सभ्यता है, वहाँ पर्वों की भी परम्परा है। परन्तु जहां तक भारतीय मानस का प्रश्न है, यहाँ तो प्रत्येक दिन पर्व है। प्राचीन काल में भी नाग महोत्सव, इन्द्र महोत्सव, कौमुदी महोत्सव, नगरीय उत्सव, गौरी पूजन, लक्ष्मी पूजन, काम पूजन, वसन्तोत्सव आदि सैकड़ों प्रकार के पर्व व त्यौहार मनाने के उल्लेख प्राचीन भारतीय साहित्य में प्राप्त होते हैं। इन पर्वों की परम्परा के पीछे कुछ मुख्य उद्देश्य भी होते थे। सबसे प्रथम उद्देश्य तो यही था—अमुक दिन अमुक देवता की पूजा, उपासना करके उससे अपने अनिष्ट निवारण की प्रार्थना करना तथा उसे प्रसन्न करना। ताकि जीवन में आने वाली भौतिक और आधिदैविक विपत्तियों से मानवजाति की रक्षा हो।

दूसरी बात, इस बहाने राजा-प्रजा, अमीर-गरीब, क्षत्रिय, वैश्य, ब्राह्मण एवं शूद्र चारों वर्ण बिना किसी भेदभाव के मिल जुलकर, एक साथ बैठकर आनन्द, उल्लास मनायें, नृत्य-गायन करें, सहयोग करें और एक दूसरे के साथ सुख-दुःख की चर्चा करें, यह सामुदायिकता की उदात्त भावना भी इस परम्परा में जुड़ी है। दुःख, चिन्ता, उदासी, भय, समस्याएँ प्रत्येक जीवन में रहती हैं। किन्तु मनुष्य उनसे मुक्ति चाहता है। उन समस्याओं से छुटकारा पाकर कुछ समय के लिए ही सही, वह उन्हें भूलकर हर्ष और उल्लास में बिताना चाहता है और उसके लिए 'पर्व' त्यौहार सबसे अच्छा साधन है।

प्राचीन काल से लेकर वर्तमान समय तक की सामाजिक परम्परा में सैकड़ों प्रकार के छोटे-बड़े पर्व मनाये जाते हैं। कुछ पर्व सामाजिक होते हैं, कुछ धार्मिक पर्व भी होते हैं। इस कारण हम पर्वों को दो भागों में विभक्त कर लेते हैं। एक आध्यात्मिक एवं धार्मिक प्रेरणा देने वाले लोकोत्तर पर्व।

दूसरे सामाजिक एवं सांस्कृतिक हर्षोल्लास से युक्त लौकिक एवं ऐतिहासिक पर्व।

लोकोत्तर पर्व—त्याग और साधना प्रधान होते हैं। उनमें भोजन के स्थान पर भजन, उपवास, नाच-गाने के स्थान पर ध्यान-साधना, मंत्र-साधना, तप-त्याग, सेवा, दान आदि आध्यात्मिक विकास करने वाली प्रवृत्तियों का महत्त्व होता है।

ये पर्व भोगों से निवृत्ति और त्याग में प्रवृत्ति की प्रेरणा देते हैं। शारीरिक सुख की जगह आत्मिक सुख व आत्मिक उल्लास की दृष्टि रहती है इनमें। ये आध्यात्मिक पर्व होते हैं पर्युषण, संवत्सरी, मौन एकादशी, ज्ञान पंचमी आदि।

लौकिक एवं ऐतिहासिक पर्वों में दीवाली, विजय दशमी, रक्षाबन्धन, होली आदि पर्वों को गिना जा सकता है।

पर्व मनाना मनुष्य का स्वभाव है। पर्व दिनों में हर्ष, उल्लास, आनन्द एवं सामूहिक भावना प्रकट होती है, किन्तु पर्व क्यों मनाया जाता है, उसके पीछे क्या घटना है, किस प्रसंग की खुशियाँ या किस घटना की याद में यह पर्व मनाया जाता है। इसके पीछे क्या प्रेरणा है। वर्तमान में उसके क्या रूप है और हम उन पर्वों के माध्यम से अपने बाह्य जीवन को जहाँ आनन्द, उल्लास से भरते हैं वहीं आन्तरिक जीवन को किस प्रकार परिष्कृत करें, कि उसकी चमक निखरे, उसकी आभा बिखरे और हमारा, परिवार का, समाज का तथा राष्ट्र का हित सम्पादन हो। आनन्द के साथ उत्थान का चिन्तन भी हो, हर्ष के साथ जीवन-विकास का कार्यक्रम भी सफल हो। यह सोचना भी महत्त्वपूर्ण है। पर्व को एक रूढ़ि के रूप में नहीं मानना है। उसे जीवन-सुधार का प्रसंग बनाना है। प्रगति का रथ बनाना है। पर्वों के माध्यम से हम परस्पर जुड़ें, एक दूसरे को खुशियाँ बाँटें, उनके दुःखों को भी बाँटें, एक दूसरे के जीवन-उत्थान में सहयोगी बनें। इस प्रकार का चिन्तन भी आवश्यक है। इसी में पर्व मनाने की सार्थकता है।

पर्व केवल लोक-रूढ़ि नहीं है। पर्वों के पीछे रहे हुए दृष्टिकोण को समझें, उनमें छिपे प्रतीकार्थ को प्रकट करें, और पर्वों के प्रणेता उन उदात्तचेता मनीषियों की दूरदृष्टि को पकड़ें तो मैं समझता हूँ हर पर्व प्रकाश देने वाला होगा। हर पर्व प्रेरणा देगा, प्रति पर्व रसोदयम्–प्रत्येक पर्व रस का उदय करेगा। पर्वों के माध्यम से हम सामूहिक जीवन-चेतना का विकास कर सकेंगे।

मैं अपने प्रवचनों में पर्वों के सम्बन्ध में जब चर्चा करता हूँ तो उन्हें केवल लोकरूढ़ि के रूप में नहीं देखता, उनके ऐतिहासिक प्रसंगों की चर्चा भी करता हूँ, और उन रूढ़ियों व अंधविश्वासों के आवरण में छिपी सामाजिक चेतना, आध्यात्मिक-भावना और लोकोपकारी वृत्ति पर भी चिन्तन करता हूँ। पर्वों को केवल प्राचीनता के परिप्रेक्ष्य में नहीं देखकर उन्हें वर्तमान सन्दर्भों के साथ भी जोड़ना चाहता हूँ। वर्तमान लोक जीवन में उन पर्वों के माध्यम से एक संदेश पहुँचाना चाहता हूँ। मुझे विश्वास है, इन प्रवचनों में आपको इतिहास, कथा, लोक रूढ़ि आदि के साथ वर्तमान संदर्भों पर भी चिन्तन का प्रकाश मिलेगा, मार्ग दर्शन मिलेगा और आप उसे आत्मसात् करने का प्रयास करेंगे तो पर्व सचमुच हमारे जीवन के आनन्दकेन्द्र बन सकेंगे। इसी विश्वास के साथ।

–आचार्य देवेन्द्र मुनि

दो शब्द

शब्द की शक्ति अद्‌भुत है। शब्द से भी मन एवं विचार की शक्ति लाख करोड़ गुनी अधिक प्रचण्ड है। जहाँ शब्द के साथ विचार शक्ति मिल जाती है तो वह शब्द राम-वाण की भाँति अचूक शक्ति का काम करता है। वचन वह शक्ति है जिसमें शब्द एवं विचार शक्ति का मिलन है, उसकी सम्प्रेषणीयता अत्यन्त प्रभावशाली तथा प्रखर होती है। संसार का घटना क्रम, इतिहास के पत्रे इस बात के साक्षी हैं कि मुँह से उच्चारित शब्दों ने मानव जाति का इतिहास बदल दिया। दुःख और पीड़ा को सुख और शान्ति में परिवर्तित कर दिया। निशा की गहरी अँधियारी में शब्दों की बिजली चमकी तो हर्ष और खुशियों का प्रकाश फैल गया।

वचन से भी अधिक प्रभावशाली होता है प्रवचन ! वचन में जहाँ कटुता व मधुरता की सँभावना रहती है, हित-अहित की दोनों धाराएँ छिपी होती हैं, वहाँ प्रवचन तो नितान्त हित-बुद्धि से प्रेरित होता है। उसमें कल्याण और श्रेष्ठता का दिशा संकेत ही मुख्य होता हैं। प्रवचन, जीवन की श्रेष्ठता और उदात्तता के प्रसाद तक पहुँचाने वाले सौपान हैं, जिनके श्रवण-मनन-ग्रहण से जीवन सार्थक होता है। संसार में आज जो भी श्रेष्ठता, उदात्तता और वरेण्यता का प्रकाश है, वह उन सत्पुरुषों, महापुरुषों के प्रवचन प्रभाकर की किरणों से ही निःसृत हुआ है, जिन्होंने वचन को शक्ति के रूप में सिद्ध किया है। मौन, ध्यान, चिन्तन, स्वाध्याय, अनुभव, निरीक्षण आदि प्रक्रियाओं से वाणी को पराशक्ति के रूप में प्रकट किया है। हम आज उन्हीं महापुरुषों के प्रवचनों के आधार पर जीवन सत्य को खोज रहे हैं।

'प्रवचन' केवल शब्दों का धराप्रवाह कुशल संयोजन मात्र नहीं है, किन्तु वह सत्य का दर्शन है, जीवन की जटिलताओं का सरलीकरण है, उनमें आत्म-परिष्कार और संस्कार की प्रेरणाएँ हैं। इसलिए प्रवचन को उपन्यास एवं कहानी की तरह सतही ढंग से नहीं पढ़ा जा सकता, किन्तु उसे पढ़ने के लिए मनोयोग की जरूरत है। उसके भीतर डूबने की जरूरत है। किनारों पर बैठे रहने वाला सागर की गहराई को क्या समझे? सागर में गहरी डुबकी लगाने वाला भी उसकी गहराई का पूरा अन्दाज नहीं लगा पाता।

महरुमे हकीकत है साहिल के तमाशाई,
हम डूबके समझें है, दरियाओं की गहराई।

इसी प्रकार प्रवचनों को पढ़ने और समझने के लिए उसकी गहराई में डूबना होता है। पढ़ने से पहले मानसिक तैयारी की जरूरत है। उसके प्रति आकर्षण और रुचि हो, मनोयोग हो और समझने की, चिन्तन करने की गहरी दिलचस्पी हो; तभी प्रवचन पढ़ने का आनन्द आता है और उसकी शक्ति का भीतर ही भीतर अनुभव होता है। उसकी प्रेरणाएँ मन को झंकृत, जागृत और उत्साहित करती है।

प्रस्तुत पुस्तक में आचार्य सम्राट श्री देवन्द्र मुनि जी के २१ प्रवचनों का संकलन है। हालांकि ये प्रवचन बहुत सरस और जीवनस्पर्शी हैं, जीवन की समस्याओं को छूते हैं, समाज के वातावरण को झकझोरते हैं। इतिहास के झरोखे से अतीत को दिखाते हैं तो शब्दों की परत उघाड़ कर उनके भीतर छिपी प्रतीकात्मक प्रेरणाओं को भी दर्शाने की चेष्टा करते हैं। इसलिए इनमें रोचकता के साथ प्रेरकता भी है। इतिहास के साथ अध्यात्म है। ज्ञान के साथ विज्ञान भी है। फिर भी पढ़ने के लिए, समझने के लिए मनोयोग की, तल्लीनता और दिलचस्पी की जरूरत तो होती ही है।

आचार्य श्री देवेन्द्रमुनि जी ने पिछले तीन वर्षों में पंजाब, हरियाणा, दिल्ली और राजस्थान की लम्बी धर्म यात्रा की, इस यात्रा प्रवास के समय, लुधियाना, पानीपत, दिल्ली जैसे विशाल धर्म क्षेत्रों में चातुर्मास भी व्यतीत किये। प्रवचनों में हजारों श्रोताओं की भीड़ उमड़ती थी। जिनमें श्रद्धालु श्रावक भी होते थे, तो बुद्धिजीवी जिज्ञासु भी। महिलाएँ व पुरुष भी, छात्र, अध्यापक भी, व्यापारी और वकील भी, सभी वर्ग उनके प्रवचन सुनते थे। आचार्यश्री अपने श्रोताओं को अधिक से अधिक विचार प्रधान, मार्गदर्शक और प्रेरक सामग्री देने का प्रयास करते हैं, जिसमें शब्दों की अधिक तड़क-भड़क, कथा-कहानी की तिलस्मी चमक-दमक भले ही कम हो, परन्तु विचारों की ताजगी और जीवन को सजाने-सँवारने की कला-दृष्टि अवश्य लक्षित होती है। आचार्यश्री के प्रवचन में अध्ययन की गहराई होती है। इतिहास और धर्म शास्त्र के परिपुष्ट साक्ष्य होते हैं। नपे-तुले शब्दों में वे अधिक से अधिक भावों को प्रकट करते हैं और समयोपयोगी मार्गदर्शन भी देते हैं। उनके विचार बासी नहीं, ताजगी लिए होते हैं, केवल अध्यात्मिकता की अबूझ पहेली ही नहीं, किन्तु वर्तमान ज्ञान-विज्ञान-राजनीति और समाज शास्त्र का गहरा चिन्तन भी होता है। इसलिए भले ही वह प्रवचन शैली भीड़ जुटाऊ नहीं हो सकती, तूफान मचाने वाली नहीं

हो सकती, किन्तु मन के भीतर जरूर तूफान पैदा करती है। विचारों को परिवर्तित करने और जीवन की दिशा मोड़ने में अवश्य ही वह प्रवचन सफल और समर्थ रहे हैं। श्रोताओं के मन के दीवट में ज्ञान की ज्योति जगाने के लिए माचिस पर रगड़ जरूर लग जाती है।

इसी प्रवचन क्रम में जब-जब पर्व, त्यौहार, संक्रान्ति एवं अन्य विशेष महत्त्वपूर्ण दिवस आते हैं तो आचार्यश्री उसी विषय पर बड़ी गहराई से अपना विचार-चिन्तन प्रस्तुत करते हैं। उनकी पृष्ठ भूमि पर प्रकाश डालते हैं, इतिहास तथा पौराणिक संदर्भों को भी उद्घाटित करते हैं। लोक मान्यता और लोक रूढ़ियों का भी निरीक्षण-परीक्षण करते हैं और फिर वर्तमान जीवन में उनकी उपयोगिता, सार्थकता और प्रेरकता पर भी विशद सर्वांगीण प्रकाश डालते हैं। उनकी दृष्टि व्यापक है, इसलिए प्रवचन में आध्यात्मिक, सामाजिक और राष्ट्रीय चिन्तन मिला-जुला रहता है। उनका अध्ययन भी गहरा है। इसलिए ऐतिहासिक तथ्यों के साथ न्याय करते हुए वे उसकी जीवन व्यापी परिणति भी दिखाना चाहते हैं।

पर्वों की परिक्रमा पुस्तक पर्वों के अवसर पर प्रदत्त प्रवचन, निबंध एवं चर्चा आदि सभी का मिश्रित संस्करण है। इसलिए इसमें वैचारिक सामग्री अधिक है, कथा-प्रसंग कम है। पर्वों की प्रेरणा पर अधिक जोर दिया गया है। पर्व हमारे जीवन में केवल आमोद-प्रमोद का ही त्यौहार नहीं है, किन्तु जीवन-परिष्कार व जीवन-संस्कार की प्रेरणा भी देते हैं। इसी लक्ष्य को सामने रखकर पर्वों पर यह प्रवचन पुस्तक तैयार की गई है। इसमें प्राचीन-नवीन सभी प्रकार के सन्दर्भ व उनकी समीक्षा मिलेगी।

इन प्रवचनों के संकलन में आचार्यश्री के अन्तेवासी परम सेवाभावी श्री दिनेश मुनि जी ने भी काफी श्रम किया है और समय-समय पर प्रेरणा भी दी है। उनकी प्रेरणा से ही यह इतना रोचक और उपयोगी संग्रह तैयार हो सका है। आशा है पाठकों को पर्वों के सम्बन्ध में काफी रोचक और तुलनात्मक सामग्री प्राप्त होगी। काफी नया मिलेगा, पढ़ने को भी, सोचने को भी ......

—श्रीचन्द सुराना 'सरस'

अनुक्रमणिका

आध्यात्मिक पर्व

	क्या ?	कहाँ ?
१.	आत्म-विकास का अपूर्व अवसर : चातुर्मास	१
२.	पर्युषण का अर्थ : जीवन का अर्थ बदल देगा	१८
३.	पर्युषण के आठ दिन : आठ जीवन सूत्र	३०
४.	आत्मा की दीवाली है संवत्सरी महापर्व	५२
५.	मोह विजय का प्रतीक है : गौतम प्रतिपदा	६७
६.	ज्ञानाराधना का पावन पर्व : ज्ञानपंचमी	८१
७.	मन के अंधकार को मिटाना ही ज्ञान पूजा है	९६
८.	मौन : मन का और तन का भी	११३
९.	वाक्‌शक्ति का सुनियोजन है; मौन	१२२
१०.	यह तृतीया अक्षय क्यों?	१३२

सांस्कृतिक एवं सामाजिक पर्व

	क्या ?	कहाँ ?
१.	नवीन संवत्सर : सुन्दर भविष्य निर्माण की प्रेरणा	१४७
२.	उठो, जागो, श्रेष्ठता का वरण करो	१५६
३.	भगीरथ बनकर धरती का ताप मिटाना है	१६३
४.	रक्षाबंधन : रक्षा के लिए बँध जाएँ	१७२
५.	श्राद्ध : क्या, क्यों, कैसे ?	१८०
६.	विजयदशमी : दशों की विजय का प्रतीक	१९२
७.	धन के स्वामी बनो, दास नहीं	२००
८.	पंचपर्व : बहुरंगी प्रेरणा के स्रोत	२०९
९.	ज्ञान और वैराग्य का पर्व : वसन्तपंचमी	२३६
१०.	निर्मल ज्ञान और विवेक की प्रतीक है सरस्वती	२४५
११.	रंग-बिरंगी होली सबको कर देती इकरंग	२५०

पर्वों की परिक्रमा

१

आध्यात्मिक पर्व

........परम्पराओं और प्रतीकों की गहराई में उतरकर उनकी प्रेरणाओं को समझने का प्रयास और शब्दों में ध्वनित होते भावों को पढ़ने का अभ्यास, यदि आप करेंगे तो सचमुच में आपको पर्वों की सार्थकता, उपयोगिता और जीवन-स्पर्शिता का प्रकाश मिलेगा।

—आचार्य देवेन्द्र मुनि

उदार सहयोग प्रदाता

श्रीमान स्व. श्यामसुन्दरलाल जी बर्डिया व
धर्मशीला सुगनबाई जी बर्डिया, उदयपुर

आत्म-विकास का अपूर्व अवसर : चातुर्मास

काल का महत्त्व

भारतीय संस्कृति के प्राचीन ग्रंथ योगवाशिष्ट में कहा है–

न कालमतिवर्तन्ते महान्तः स्वेषु कर्मसु।

–महापुरुष अपने कार्यों में समय का पूरा ध्यान रखते हैं, जो कार्य जिस काल में करना होता है वह उसी काल में करते हैं। क्योंकि कार्य की सफलता में काल का सबसे अधिक महत्त्व है। काल का प्रभाव समस्त जीव जगत् पर पड़ता है। जीवन में काल का, समय का क्या महत्त्व है यह बात एक किसान से पूछिए जो खेती के लिए जी-जान लगाकर परिश्रम करता है। समय-समय पर रात-दिन लगा रहकर वह सब कुछ करता है, जो जरूरी होता है, फिर भी वह मौसम और काल पर ही पूर्णतः निर्भर रहता है। कभी वर्षा, कभी उमस, कभी धूप और कभी हवा। उसका हर काम मौसम और काल के अनुसार चलता है। उसके अनुसार बीज बोने के समय वर्षा होकर धरती नरम होनी चाहिए तो बीज बोने के बाद अंकुर फूटता है तब भूमि में गर्मी, उमस और धूप तपनी चाहिए। फसल पकने के समय मौसम सूखा और तपना चाहिए तो फसल कटने के समय हवा चलनी चाहिए। फल पकने के समय खूब धूप तपनी चाहिए। जितनी धूप तपेगी आम मीठा होगा, खरबूजा मीठा होगा।

आजकल तो मौसम भी बदल गया है। धरती की ओजोन पर्त में छेद हो जाने के कारण भी धरती के तापमान में अन्तर आ गया है। दूसरा औद्योगिक गैसों के कारण वायुमंडल प्रदूषित हो जाने से भी धूपकाल में वर्षा, वर्षा में सूखा और सर्दी में वर्षा बड़ा विचित्र और प्रकृति के विपरीत मौसम हो रहा है। खेती की तरह ही मानव-जीवन की सभी प्रवृत्तियाँ काल से प्रभावित होती हैं। इसलिए शास्त्र में कहा है–

अकाले चरसि भिक्खु कालं न पडिलेहसि ?
अकालं च विवज्जित्ता काले कालं समायरे॥

–हे भिक्षु ! तुम अकाल में–असमय में भिक्षा के लिए जाओगे तो भिक्षा तो नहीं मिलेगी, उलटा परेशान हो जाओगे। फिर तुम गाँव या समाज को दोष दोगे कि यह गाँव कैसा है, यहाँ साधुओं को भिक्षा ही नहीं मिलती। वास्तव में तो दोष गाँव का नहीं, तुम्हारा है कि तुम असमय में भिक्षाचरी करने निकले हो, इसलिए अकाल चर्या छोड़कर कालचारी बनो। जो कार्य जिस समय किया जाता है, उसी समय करना चाहिए। प्रतिक्रमण के समय प्रतिक्रमण और भिक्षाचरी के समय भिक्षाचरी। काल विधान के अनुसार ही कार्य करना चाहिए इसी में तुम्हारी निपुणता व चतुरता है।

प्रत्येक क्रिया काल के अनुसार करनी चाहिए।

मनुष्य श्रम करता है, किन्तु उसका फल पाने के लिए 'काल' की उपयुक्तता/अनुकूलता जरूरी है। जैसे स्वास्थ्य सुधारने के लिए सर्दी का मौसम अनुकूल माना जाता है, वैसे ही धर्माराधना और तपःसाधना के लिए वर्षावास, चातुर्मास का समय सबसे अधिक अनुकूल माना जाता है। सम्पूर्ण सृष्टि के लिए वर्षाकाल सबसे महत्त्वपूर्ण है। इन महीनों में आकाश से जलधारा बरसकर धरती की प्यास बुझाती है, धरती की तपन मिटाती है और भूमि की माटी को नरम, कोमल, मुलायम बनाकर बीजों को अंकुरित करने के लिए अनुकूल बनाती है। इसलिए २७ नक्षत्रों में वर्षाकाल के १० नक्षत्र और १२ महीने में चातुर्मास के ४ मास ऋतुचक्र की धुरी हैं। सृष्टि के लिए जीवनदायी हैं। प्राणिजगत् के लिए प्राणसंवर्धक और जीवनरक्षक माने जाते हैं।

वर्षावास का यही काल धर्माराधना के लिए सर्वोत्तम काल माना गया है।

चातुर्मास की विश्रुत परम्परा

आपके सामने दो शब्द आ रहे हैं–**वर्षावास** और **चातुर्मास**। पहले इसी पर विचार कर लें। वर्षावास का मतलब है–वर्षा ऋतु। श्रावण-भाद्रपद का महीना वर्षा ऋतु में एक स्थान पर रहना। एक ही स्थान पर निवास करना। जैन आगमों में इसे ही **वासावास** कहा गया है। वर्षा ऋतु के केवल दो मास ही हैं। इसके बाद आती है शरद् ऋतु–आसोज और कार्तिक मास और ये चारों मास मिलकर चातुर्मास काल कहलाता है।

वैदिक व बौद्ध परम्परा में भी इस चार मास काल को चातुर्मास कहा गया है। इस चातुर्मास के लिए परिव्राजक, ऋषि, श्रमण, निर्ग्रन्थ एक स्थान

पर निवास करते हैं। आज भी यह चातुर्मास परम्परा चल रही है। वैदिक सन्त-महात्मा आज भी वर्षाकाल में चातुर्मास करते हैं, भले ही वे चार महीने के बजाय दो महीने ही एक स्थान पर ठहरते हैं, श्रावण-भाद्रपद तक एक स्थान पर रुकते हैं। जनता को धर्माराधना, भागवत श्रवण, रामायण पाठ, व्रत-उपवास आदि की प्रेरणा देते हैं।

बौद्ध भिक्षुओं में भी किसी समय चातुर्मास के चार मास एक स्थान पर ठहरने की परम्परा थी परन्तु अब वे भी दो मास में ही चातुर्मास समाप्त कर देते हैं।

जैन-परम्परा में आज भी चातुर्मास की यह परम्परा अक्षुण्ण चल रही है। आषाढ़ी पूनम से कार्तिक पूनम तक चार महीने तक पादविहारी जैन श्रमण एक ही स्थान पर निवास करते हैं। जैन श्रमणों के लिए नवकल्पी विहार बताया है—मृगसर मास से आषाढ़ मास तक ८ महीने एक-एक मासकल्प तथा श्रावण मास से कार्तिक मास तक चार महीने चातुर्मास का एक कल्प; यों नवकल्पी विहार का विधान जैन आगमों में है। जैन समाज में भी वाहन प्रयोग कर धर्म-प्रचार के लिए जाने वाले श्रमण-श्रमणी आज दो मास ही एक स्थान पर बिताकर चातुर्मास पूरा कर लेते हैं। खैर, यह परिवर्तन अपनी-अपनी सुविधानुसार मनचाहा कर लेने के पीछे भले ही कुछ तर्क हों। इस विषय में अभी चर्चा नहीं करके हम इसी बात पर विचार करते हैं कि जैन-परम्परा व भगवान महावीर की वाणी के अनुसार अपनी जीवनचर्या बिताने वाले श्रमण आषाढ़ी पूनम से कार्तिक पूनम तक आज भी चार मास एक स्थान पर निवास कर चौमासा करते हैं।

चातुर्मास : अन्तर् जागरण का सन्देश

वैदिक ग्रन्थों में वशिष्ठ ऋषि का एक कथन है कि चातुर्मास में चार महीने विष्णु भगवान समुद्र में जाकर शयन करते हैं इसलिए यह चार मास का काल धर्माराधना, योग, ध्यान, धर्मश्रवण, भागवत पाठ व जप-तप में बिताना चाहिए। इन चार महीने में विवाह-शादी, गृह-निर्माण आदि कार्य नहीं करने चाहिए। यात्रा नहीं करनी चाहिए, एक समय भोजन करना और रात्रि-भोजन नहीं करना। यहाँ तक भी कहा जाता है कि चार महीने सभी देवता शयन करते रहते हैं। कहा जाता है—रावण का भाई कुम्भकर्ण छह महीने सोता था। उसे जगाने के लिए कान के पास नगाड़ा पीटा जाता था। आजकल के नेता तो बारह महीने ही सोते हैं। वे जागते हैं केवल चुनाव के

दिनों में। अस्तु चार मास तक देवता सोने का मतलब है ये चार मास धर्माराधना और योगसाधना में ही बिताना चाहिए।

वैदिक ग्रन्थों के इस प्रतीकात्मक कथन पर विचार करें कि चार महीने तक देवता क्यों सो जाते हैं? क्या वास्तव में ही देवता या भगवान सोते हैं? इस कथन के गंभीर भाव को समझें तो स्पष्ट होगा कि देवता सोने का मतलब है–हमारी प्रवृत्तियाँ, हमारी क्रियाएँ सीमित हो जायें। सोना निवृत्ति का सूचक है, जागना प्रवृत्ति का सूचक है। हमारा पुरुषार्थ, हमारा पराक्रम जो बाह्यमुखी था वह चार महीने के लिए अन्तर्मुखी बन जाये। बाहर से हम सोये रहें, भीतर से जागते रहें। बाहरी चेतना, संसार भावना कम हो, सुस्त हो और अन्तर् चेतना, धर्मभावना प्रबल हो यही मतलब है देवताओं के सोने का। गीता में कहा है–"**या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।**" –जिस रात में अन्य प्राणी सोते हैं उस रात में संयमी जागते हैं। भौतिक प्रवृत्तियों का सोना ही आत्मिक प्रवृत्तियों का जागना है।

जयन्ती श्राविका भगवान महावीर से पूछती है–

भंते ! सुत्तत्तं साहू ? वा जागरियत्तं साहू ?

–प्रभु ! सोना अच्छा है या जागना अच्छा है?

भगवान कहते हैं–

अप्पेगइयाणं जीवाणं सुत्तत्तं साहू .....

–कुछ जीवों का सोते रहना अच्छा है और कुछ जीवों का जागते रहना अच्छा है।

जयन्ती कहती है–"भन्ते ! यह क्या पहेली है? मैं समझी नहीं। कृपा कर विस्तार से बताइये।"

तब प्रभु कहते हैं–"जयन्ती, जो प्राणी हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य, कपट, क्रोध आदि प्रवृत्तियों में लगे हुए हैं उन लोगों का सोये रहना अच्छा है? जब वे सोते हैं तो बहुत जीवों को अभयदान मिलता है और संयमी, सदाचारी, दया-परोपकार आदि प्रवृत्तियों में पुरुषार्थ करने वालों का जागना अच्छा है। वे जागते हैं तो अनेक जीवों का कल्याण होता है।

रात में चोर जागता है, दिन में साहूकार जागता है इसलिए आपको चोरी का भय बना रहता है। यदि चोर रातभर सोया रहे तो साहूकार को क्या डर है? वह भी निश्चिन्त रहेगा। चोर-लुटेरों का सोना अच्छा है। यही

बात हमारे अन्तर् जगत् में है। हमारी पाप वृत्तियों का हिंसा, कलह, क्रोध, कपट, प्रमाद आदि भावों का सोया रहना ही अच्छा है। चातुर्मास में इन बाह्यमुखी वृत्तियों को सुलाने का संकेत ही इस कथन से मिलता है कि चार मास देवता सोते हैं, इसलिए यदि तुम कोई बुरा काम करोगे तो वे तुम्हारी रक्षा के लिए नहीं आयेंगे। सिपाही, पहरेदार या देश-रक्षा में तैनात सैनिक सोयेगा तब आपकी रक्षा की पुकार कौन सुनेगा? वे जब सोते हैं तो आपको सावधान/जागते रहना चाहिए कि नहीं? इसी दृष्टि को भीतर में घुमाइए कि भगवान सोये हैं तो आपको असद्वृत्तियों से बचाने वाला कौन होगा? अतः आप उन असद्वृत्तियों से बचते रहिए, जागते रहिए। शास्त्र में कहा है-"वासासु पडिसंलीणा।"-वर्षा ऋतु में प्रतिसंलीन बनकर रहो अर्थात् अपनी इन्द्रियों को बाह्य प्रवृत्तियों से संकुचित करके अन्तर्मुखी रहो।

भगवान महावीर चार महीने के लिए एक निर्जन स्थान पर जाकर तप धारण कर ध्यानलीन हो जाते थे अर्थात् बाहरी दृष्टि से सो जाते थे, इन्द्रियाँ सो जाती थीं, मन जागता था। अन्तर्मुखी जागृति में रहते थे। तो इस प्रकार चातुर्मास में यह देवशयन का रूपक हमें बाह्यमुखी वृत्तियों से हटकर अन्तर्मुखी बनने का सन्देश देता है। अन्तर् जागरण का आह्वान करता है-चार महीने जागते रहो और जीवन को धर्ममय बनाओ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि चातुर्मास में हिंसा का वर्जन, इन्द्रियों का संयम और धर्माराधना करने का विधान सम्पूर्ण भारतीय संस्कृति में व्याप्त है। जैन और वैदिक दोनों ही परम्पराओं में चातुर्मास को धर्माराधना का काल माना गया है। आप गहराई से विचार कीजिए इस सांस्कृतिक धारणा के पीछे क्या-क्या दृष्टियाँ काम कर रही हैं? केवल एकान्त धर्माराधना की दृष्टि ही नहीं है, इसके पीछे आरोग्य, शरीर-रक्षा और जीवन-रक्षा की भी महत्त्वपूर्ण अनुभवमूलक विचारणा है।

आरोग्य व पर्यावरण की दृष्टि से चातुर्मास

चातुर्मास में स्थिर रहने का यह विधान वास्तव में प्राकृतिक या पर्यावरण की दृष्टि से भी बड़ा महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि निरन्तर वर्षा होने से पानी दूषित हो जाता है, बरसाती हवा से शरीर में वायु आदि का दर्द, जोड़ों में जकड़न, मच्छरों के प्रकोप से बुखार (आजकल डेंगू भी चल रहा है) आदि होते हैं तथा खाने-पीने की वस्तुओं में भी छोटे-छोटे सूक्ष्म जीव, फफूँदी, कीड़े आदि शीघ्र उत्पन्न होने लगते हैं। वातावरण की नमी के कारण

खाद्य वस्तुओं में शीघ्र ही विकृति पैदा हो जाती है तथा नदी, बाँध आदि में किस समय बाढ़ आ जाए, पुल टूट जाए आदि खतरे भी अधिक बने रहते हैं। शरीर पसीने से गीला चिपचिप करने से दाद, खाज, फोड़े-फुंसी जैसी तकलीफें भी अधिक होती हैं। आप इन सब का अनुभव तो करते हैं, परन्तु कभी विचार नहीं करते कि हमारे प्राचीन आचार्यों ने चातुर्मास में प्रवास नहीं करने के जो विधान किये हैं वे कितने दूरदर्शितापूर्ण थे। उनके पीछे धार्मिक दृष्टि के साथ आरोग्य की दृष्टि भी थी। पुराने समय के नियमों में एक खास बात मिलती है कि वे धर्म और आरोग्य दोनों दृष्टियों से विचार करके बनाये जाते थे। समझदार व्यक्ति उनका पालन करते थे। परन्तु जब उनकी आरोग्य-प्रधान दृष्टि का विचार लुप्त हो गया, केवल धार्मिक दृष्टि उनके साथ जुड़ गयी तो लोग धन के लालच व कमाई के चक्कर में धर्म की उपेक्षा कर जाते हैं। परन्तु ये धार्मिक नियम आपके आरोग्य व जीवन की सुरक्षा की भी दृष्टि देते हैं, इन पर भी जरूर विचार करना चाहिए।

चातुर्मास के तीन विभाग

आपको ज्ञात होगा धर्माराधना की दृष्टि से जैन आचार्यों ने वर्ष के तीन विभाग कर तीन चातुर्मासी पूर्णिमा का विधान किया है–

१. आषाढ़ी चातुर्मासी

२. कार्तिक चातुर्मासी

३. फाल्गुन चातुर्मासी

अर्थात् बारह महीने के एक वर्ष में तीन चातुर्मास होते हैं। यहाँ चातुर्मास शब्द से इतना ही अपेक्षित है कि चार महीने का समय। इसमें दो चातुर्मासी चतुर्दशी व पूनम वर्षावास में आते हैं और एक चातुर्मासी पूनम फाल्गुन महीने में आती है जिसे व्यवहार में हम होली चौमासा कहते हैं।

होली चौमासा या फाल्गुन चौमासी का धर्माराधना की दृष्टि से या श्रमणों के विहार की दृष्टि से कोई खास अलग विधान नहीं है, किन्तु वर्षाकाल में आषाढ़ी चातुर्मासी और कार्तिक चातुर्मासी का खास महत्त्व है इसलिए आज हम इसी वर्षावास या चातुर्मास पर विचार कर रहे हैं।

जैन शास्त्रों के अनुसार आषाढ़ शुक्ला चतुर्दशी से वर्षाकाल प्रारंभ हो जाता है। मौसम के अनुसार आज देश-काल की स्थितियों में काफी परिवर्तन आ गया है। कहीं जून (ज्येष्ठ) महीने में ही घनघोर वर्षा चालू हो जाती है

तो कहीं जुलाई (श्रावण) के अन्त में जाकर पानी बरसता है। दक्षिण भारत में नवम्बर (कार्तिक) महीने में घनघोर वर्षा होती है। यह देश-काल की स्थिति का, वातावरण या पर्यावरण का अन्तर है, किन्तु शास्त्रों का सार्वभौम विधान श्रावण मास से कार्तिक तक का ही है और इसके पीछे मुख्य आधार लगता है बिहार-बंगाल का ऋतु-चक्र। बिहार-बंगाल की भूमि पर जब ये विधान बनाये गये हैं तब श्रमणों का अधिकतर विचरण बिहार, बंगाल व उत्तर प्रदेश तक ही सीमित था। जहाँ पर आषाढ़ महीने में ही वर्षाकाल प्रारंभ हो जाता है। उसी ऋतु-चक्र के आधार पर जैन-परम्परा में यह चातुर्मास का विधान है। क्योंकि ये विधान देश-काल की स्थिति अनुसार बनाये गये हैं। इसीलिए तो कहा है–"**खित्तं कालं च विन्नाय तहप्पाणं निउंजए।**"–क्षेत्र-काल, समय व स्थिति को देखकर, जानकर उसके अनुसार अपनी चर्या बनायें, ताकि उसे व्यर्थ के कष्ट व लोकापवाद का सामना नहीं करना पड़े। किन्तु देश-काल का बहाना लेकर सुविधावाद को प्रोत्साहन देना या मनमानी करना श्रमण मर्यादा के विरुद्ध है।

देश-काल की स्थिति का विचार बहुश्रुत श्रमण करते हैं जो आगमों के गहन अभ्यासी, तपस्वी, निस्पृहचित्त, यश एवं सन्मान की कामना से रहित होकर केवल जिनशासन की प्रभावना का लक्ष्य रखते हैं। जिन्हें जिनवचन पर अटूट श्रद्धा और संयम के प्रति दृढ़ निष्ठा होती है वे बहुश्रुत श्रमण ही देश-काल के अनुसार व्यवहार करने का निर्णय ले सकते हैं। आज तो हर कोई चौधरी या पंच बन रहा है। जिसे जो अनुकूल लगा उसने देश-काल का बहाना लेकर अपनी सुविधाओं का इंतजाम कर लिया। इस वृत्ति से जिनशासन की प्रभावना नहीं, अवहेलना व अवमानना ही हो रही है और विशृंखलता तथा उच्छ्रंखलता को प्रोत्साहन मिल रहा है। हम प्रस्तुत में चातुर्मास या वर्षावास पर चर्चा कर रहे हैं। अतः विवादास्पद विषयों को यहाँ नहीं छेड़ना चाहते। जैन-परम्परा के समाचारी ग्रन्थों में कहा गया है–

आषाढाख्य चतुर्मास्यां विशेषाद् विधिपूर्वकम्।
अभिग्रहा सदा ग्राह्या सम्यग्गर्हा विवेकिभिः॥

–विवेकी, धर्मबुद्धि, ज्ञानीजन आषाढ़ शुक्ल चतुर्दशी के दिन चार मास का अभिग्रह/अवग्रह ग्रहण कर एक स्थान पर धर्माराधना करते हैं।

भगवान महावीर ने भी आषाढ़ी पूनम से एक स्थान पर निवास किया था। ऐसा कल्पसूत्र आदि में वर्णन है। चातुर्मास का, वर्षावास में एक स्थान

पर निवास का विधान खासकर प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव एवं अंतिम तीर्थंकर भगवान महावीर के शासनकाल के श्रमणों के लिए ही है। बाकी बाईस तीर्थंकरों के शासन में वर्षा आदि के कारण श्रमण एक स्थान पर ठहरते भी हैं और वर्षा नहीं हो तो विहार भी कर सकते हैं। उनका यह नियम स्वैच्छिक है।

वर्षावास का उद्देश्य क्या है ?

आज का मनुष्य तर्क-प्रधान है। विज्ञान और मनोविज्ञान के प्रभाव से उसकी बुद्धि तर्क कुशल बन गई है। हम जो करते हैं वह क्यों करें? किसलिए करें? यह जिज्ञासा उठती है। वर्षावास के विषय में भी यह प्रश्न उठता है, चार मास एक जगह रुकने का उद्देश्य क्या है? इसके पीछे क्या कारण है?

चातुर्मास में श्रमण-श्रमणियों के एक स्थान पर ठहरने के पीछे दो मुख्य कारण हैं–

१. पहला कारण है–जीव-दया। जीव विराधना व हिंसा से बचाव करना।

२. दूसरा कारण है–धर्माराधना या व्रत-आराधना।

यह एक सामान्य बात है कि वर्षाकाल में जीवों की उत्पत्ति अधिक होती है। सतत पानी बरसने से भूमि के भीतर छिपे बीज अंकुरित हो जाते हैं, वनस्पति, लीलन-फूलन आदि की विशेष उत्पत्ति होती है। छोटे-छोटे असंख्य सूक्ष्म जीव, कीड़े, हरी घास आदि उत्पन्न होती है तथा स्थान-स्थान पर जलभराव होने से अनेक प्रकार के सूक्ष्म व बादर, त्रस व स्थावर जीवों की उत्पत्ति भी होती रहती है। ऐसी स्थिति में चलने-फिरने, विहार करने में जीव विराधना की बहुत संभावना रहती है। क्योंकि वे सूक्ष्म जीव आँखों से दिखाई नहीं देते और चलने में उनकी विराधना से बचना बहुत मुश्किल होता है। रास्तों में नदी-नाले भर जाने से यात्रा मार्ग भी सुगम नहीं रहता। इन सब कारणों को ध्यान में रखकर श्रमण के लिए यह विधान किया गया है कि ऐसी वर्षा ऋतु में वह इधर-उधर विहार न करे, गमनागमन, यात्रा, प्रवास आदि न करें। "वासावासे ...... णो गामाणुगामं दूइज्जेज्जा।" (आचारांगसूत्र, श्रुतस्कंध २)। एक शुद्ध निर्दोष साफ-सुथरे स्थान पर रहे तथा जीव हिंसा से बचता रहे। कहा गया है–

दयार्थं सर्वजीवानां वर्षास्वेकत्र संवसेत्।

साधु-साध्वी जीवों की विराधना से बचने के लिए, जीवदया की भावना से अनुप्राणित होकर वर्षावास में एक स्थान पर निवास करें, यह जैन आगमों का विधान है।

यद्यपि कुछ अति महत्त्वपूर्ण कारणों से वर्षावास में भी विहार करने का विधान आगमों में है। स्थानांगसूत्र में बताया है–ज्ञान-दर्शन-चारित्र की विशेष वृद्धि का अवसर जानकर, आचार्य-उपाध्याय के काल करने पर और उनकी सेवा-वैयावृत्य के लिए अति आवश्यक होने पर श्रमण विहार भी कर सकता है, परन्तु यह अपवाद मार्ग है। सामान्य नियम यही है कि वर्षाकाल में एक स्थान पर रहकर धर्म की विशेष आराधना करो।

आप जानते हैं–जैनधर्म का मूल आधार अहिंसा है, जीवदया है। धर्म का मूल अहिंसा है–"**धम्मो मंगलमुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो।**"–धर्म की आधारभूमि है–अहिंसा, संयम और तप। इन्हीं की आराधना करने के लिए श्रमण ने गृह-त्याग किया है और घर-घर भिक्षा माँगने का व्रत ग्रहण किया है तो अहिंसा की आराधना, जीवों की विराधना से बचने के लिए ही चातुर्मास काल में एक स्थान पर रहने का विधान है। प्राचीन ग्रन्थों में वर्णन आता है–भगवान नेमिनाथ ने द्वारका नगरी में चातुर्मास किया तब श्रीकृष्ण वासुदेव ने यही प्रश्न पूछा–"भंते ! श्रमण चार मास तक एक स्थान पर क्यों रहते हैं ?"

उत्तर में भगवान नेमिनाथ ने बताया–"वर्षा के कारण समूची पृथ्वी पर अगणित, असंख्य, अनंत जीवों की उत्पत्ति होती है। ऐसे सूक्ष्म जीव उत्पन्न होते हैं जिन्हें आँखों से देखा नहीं जा सकता। उन जीवों की विराधना नहीं हो, इसलिए जब तक पृथ्वी पर चलने-फिरने, यात्रा के मार्ग साफ और निर्जीव नहीं हो जाते श्रमण एक स्थान पर ही ठहरते हैं।"

भगवान नेमिनाथ का उत्तर व समाधान सुनकर वासुदेव श्रीकृष्ण बोले–"भंते ! मैं भी इस अनर्थ हिंसा से बचना चाहता हूँ, इसलिए चार मास तक द्वारिका से बाहर नहीं जाने की प्रतिज्ञा करता हूँ।"

यह है एक उत्कृष्ट श्रावक का आदर्श। क्योंकि श्रावक और श्रमण का लक्ष्य एक ही है जीव-दया। अपनी वृत्तियों-प्रवृत्तियों का संकोच कर जीव-हिंसा से बचना और अधिक से अधिक समय तप, संयम, स्वाध्याय आदि में लगाना।

जैन इतिहास की घटना है–आचार्य श्री हेमचन्द्रसूरि ने पाटण में चातुर्मास किया तब गुर्जरेश्वर कुमारपाल ने आचार्यश्री के मुख से भगवान

नेमिनाथ और वासुदेव श्रीकृष्ण का यह प्रसंग सुनकर प्रतिज्ञा ली–''भगवन् ! मैं भी चार महीने तक पाटण से बाहर नहीं जाऊँगा। कोई यात्रा नहीं करूँगा। कहीं घूमने-फिरने या युद्ध आदि का प्रसंग आ जावे तब भी अपनी प्रतिज्ञानुसार पाटण से बाहर नहीं निकलूँगा।''

यह विधान करने वाले महापुरुषों के मन में जीव-दया की कितनी उदात्त भावना रही होगी? कोमलता और करुणा का कैसा निर्मल प्रवाह उनके मानस में बह रहा होगा कि जिससे प्रेरित होकर उन्होंने श्रमणों के लिए यह विधान किया, नियम बनाया और श्रावकों के लिए एक आदर्श बताया कि वह भी चातुर्मास काल में जहाँ तक हो सके यात्रा, प्रवास, गमनागमन कम करें। जीव-हिंसा, जीव-विराधना से बचें।

श्रीकृष्ण वासुदेव और सम्राट् कुमारपाल जैसे संकल्पबली धर्मप्रेमी, जीव-दया प्रेमी श्रावकों का आदर्श आज कहाँ है? चार मास की बात तो दूर रही, आज तो श्रावण और भादवा दो महीने में भी एक स्थान पर टिककर रहने की, धर्मध्यान करने की प्रवृत्ति समाप्त हो रही है। चातुर्मास काल में तो और अधिक प्रवास हो रहे हैं, और अधिक यात्राएँ हो रही हैं। श्रावक वर्ग सोचें–इन प्राचीन आदर्शों के प्रकाश में सोचें, विचार करें और धर्माराधना के इस महत्त्वपूर्ण काल में जीव-विराधना की प्रवृत्तियों का संकोच करें।

धर्माराधना का सुअवसर : तप के अनुकूल मौसम

चातुर्मास में एक स्थान पर निवास के पीछे दूसरा महत्त्वपूर्ण उद्देश्य है धर्माराधना। प्रारंभ में मैंने कहा न कि प्रत्येक काम ऋतु व मौसम के अनुसार होता है। वर्षा ऋतु जहाँ वनस्पति के फलने-फूलने का मौसम है वहाँ धर्मध्यान व तप के लिए भी बहुत अनुकूल मौसम है। इस मौसम में वर्षा के कारण भूमि की उष्णता कम हो जाती है। वर्षा की रिमझिम से पाचन-शक्ति कमजोर पड़ जाती है। इस मौसम में न अधिक भूख लगती है न ही अधिक प्यास सताती है। इस वातावरण के कारण यह ऋतु तपस्या के लिए बड़ी अनुकूल रहती है इसी कारण जैन समाज में चातुर्मास के श्रावण-भादवा में जितनी तपस्या होती है उतनी समूचे वर्ष में भी नहीं होती। बहनों-भाइयों में, साधु-साध्वियों में तप की उमंग उठती है, उत्साह हिलोरें लेता है और अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार सभी कोई उपवास, बेला, तेला, अठाई, मासखमण आदि तप की आराधना में जुट जाते हैं। ऐसा लगता है श्रावण-भादवा के दो मास तपोमय हो जाते हैं। छोटे-छोटे बालक भी उपवास,

बेला, तेला करने को उत्सुक हो जाते हैं। पर्यावरण, मौसम, वातावरण का यह प्रभाव है कि गाँव-गाँव में बड़ी-बड़ी तपस्याएँ होती हैं।

यदि कोई दीर्घ तपस्या नहीं कर सकता है तो एकान्तर तप ही करते हैं या एकासना, आयंबिल आदि करते हैं और यह भी नहीं हो तो कम से कम रात्रि-भोजन का त्याग तो अवश्य ही करते हैं। चार महीने रात्रि-भोजन-त्याग का मतलब है आपने कम से कम दो महीने का तो निराहार तप कर ही लिया। कितना सहज है यह तप ! दिन में भोजन लिया। रात्रि को त्याग कर लिया तो सहज ही आठ पहर में चार पहर का तप हो गया। महीने में पन्द्रह दिन का और चार महीने में दो मास का तप हो गया। इतना सहज तप होने पर भी यदि आप रात्रि-भोजन-त्याग का नियम नहीं लेते हैं तो इसका मतलब है आपको धर्म के प्रति, तप के प्रति, त्याग के प्रति कोई रुचि नहीं है और न ही अपने जैनत्व के आदर्श के प्रति कोई सन्मान है, गौरव है। जैनमात्र के लिए रात्रि-भोजन निषेध है जिसमें चातुर्मास काल में तो महापाप का कारण है। जीव-हिंसा, रोग-वृद्धि, धर्म-हानि सभी दोष होते हैं रात्रि-भोजन से। इसलिए मैं प्रत्येक जैन भाई का आह्वान करना चाहता हूँ कि वह कम से कम चार मास के लिए रात्रि-भोजन का त्याग कर इस सहज तप व धर्म की आराधना करे।

दूसरी बात श्रावण-भाद्रपद ये दो मास तप के मास कहलाते हैं। इन दिनों में उपवास के अलावा भी आयंबिल, एकासना, द्रव्य संयम आदि द्वारा भी तप की आराधना की जा सकती है। इन सब से तप-आराधना के साथ ही आरोग्य को भी लाभ पहुँचाता है आयंबिल से अनेक उदर रोग ठीक हो जाते हैं। खाद्य-संयम से पेट की गड़बड़ी, अपचन, भूख की कमी आदि भी मिटती है क्योंकि खाने में जितनी कम वस्तुएँ रहेंगी, पेट को उतनी ही कम मेहनत करनी पड़ेगी तो खाया हुआ अन्न-पचन ठीक तरह से हो पायेगा। इस प्रकार दोनों ही दृष्टियों से आयंबिल आदि का लाभ है।

धर्माराधना में तिथियों का वर्गीकरण

प्राचीन जैन-साहित्य का अनुशीलन करने से पता चलता है कि आचार्यों ने धर्म-साधना के लिए महीनों की तिथियों को तीन विभागों में बाँटा है–

छह चारित्र तिथियाँ–दो अष्टमी, दो चौदस, अमावस और पूनम, यह छह तिथियाँ **चारित्र तिथियाँ** हैं। इन पर्व तिथियों में उपवास, पौषध, संवर, दया आदि तप के चारित्र धर्म की वृद्धि करनी चाहिए।

छह ज्ञान तिथियाँ–दो दूज, दो पाँचम और दो एकादशी, यह छह तिथियाँ ज्ञान तिथियाँ कहलाती हैं। इनमें ज्ञान, शास्त्र-स्वाध्याय, आगम-श्रवण आदि काम करने चाहिए। ज्ञान-प्रसार, ज्ञानीजनों का सन्मान।

शेष सभी तिथियाँ **दर्शन तिथियाँ** कहलाती हैं। इन तिथियों में सम्यक्त्व-शुद्धि, स्वधर्मी-वत्सलता, देव-गुरु-वन्दन आदि सम्यक्त्व की शुद्धि और शासन-प्रभावना के कार्य करने चाहिए।

तिथियों का यह एक स्थूल वर्गीकरण है। इसका अर्थ यह नहीं है कि अष्टमी को तप किया जाता है तो सम्यक्त्व-शुद्धि का आचरण उपेक्षित कर दिया जाय, किन्तु मुख्यता एक साधना को दी जानी चाहिए। एक प्रकार से महीने भर तक यह धार्मिक आराधना का कार्यक्रम बन जाता है कि अमुक तिथि को मुख्य रूप में यह क्रिया करनी है। इस तरह का वर्गीकरण प्राचीन ग्रंथों में मिलता है और इससे श्रावक को अपनी धर्म-साधना का कार्यक्रम सुव्यवस्थित करने में बड़ी सहायता मिलती है। आप कम से कम चातुर्मास में इस तालिका का उपयोग कर सकते हैं। चातुर्मास में भी श्रावण-भादवा में इस प्रकार का एक वर्गीकरण, व्यापक साधना क्रम को सुव्यवस्थित करने का एक प्रयोग करके देखिए। यह मेरा आग्रह है श्रावक वर्ग से। आपको इस व्यवस्था से काफी लाभ होगा और धर्माराधना का एक निश्चित मार्ग आपको सुलभ रहेगा। तिथियों के वर्गीकरण की सूझ-बूझ का एक लाभ यह है कि श्रावकों के सामने एक गाइड लाइन रहती है, अमुक तिथि को तप करें, अमुक को स्वाध्याय, अमुक को धर्म-प्रभावना आदि करना है। आप सुविधानुसार इसमें और भी कुछ जोड़ सकते हैं।

व्रत-आराधना : अविरति-आस्रव

चातुर्मास में व्रत (त्याग-प्रत्याख्यान) और प्रतिक्रमण पर विशेष बल दिया जाता है। व्रत श्रावक जीवन की आधारशिला है। धर्म का प्रवेश-द्वार है। किन्तु आजकल लोगों में एक भ्रान्ति या भय पैदा हो गया है कि वे व्रत, नियम या प्रतिज्ञा के नाम से ही डर जाते हैं। एक सज्जन आये। मैंने पूछा–"रात्रि-भोजन तो नहीं करते हैं?" बोले–"महाराज, मैं रात को भोजन नहीं करता। हमेशा दिन में ही खा लेता हूँ।" मैंने कहा–"फिर रात्रि-भोजन का नियम ले लो, क्योंकि नियम रहेगा तो कभी भी प्रसंग आने पर भी आप रात्रि-भोजन नहीं करेंगे और कोई जोर देकर कहेगा तब भी आप कह सकते हैं मुझे रात्रि-भोजन का त्याग है।"

वह भाई बोला–"ना ! ना ! नियम नहीं लेता। नियम ले लूँ और कभी ऐसा मौका आन पड़े तो नियम तोड़ना तो महापाप है न?"

मैंने कहा–"भाई ! यही तो तुम्हारे मन में चोर घुसा है। तुम सोचते हो, जब तक जरूरत नहीं पड़ती रात्रि-भोजन नहीं करना, जब कभी जरूरत पड़ी तो कर लिया। यही तो मन की दुर्बलता है। मन की इस डाँवाडोल स्थिति से उबरने के लिए ही तो नियम दिलाया जाता है। समय आने पर भूखे रह जायेंगे। एक वक्त भूखा रह जाने से कुछ भी फर्क नहीं पड़ता। आप अपने नियम का पालन करेंगे तो आपके मन में अपने आप एक विश्वास, एक शक्ति पैदा होगी कि मैं अपने नियम में दृढ़ रहा। और नियम नहीं लेने का मतलब ही है आपका मन कमजोर है, आपका विश्वास ढुलमुल है, अस्थिर है। आपकी संकल्प-शक्ति कमजोर है।"

जैनधर्म की साधना का मूल आधार ही नियम है। नियम से ही साधना प्रारंभ होती है। नियम को व्रत कहते हैं, व्रत अर्थात् विरति। आपने नियम ले लिया तो उस कार्य के प्रति, उस आचरण के प्रति आपकी आसक्ति, लालसा, इच्छा, वांछा, अनुमोदना समाप्त हो गई। लालसा का तार टूट जाने का कितना बड़ा लाभ है यह आप एक उदाहरण से जान सकते हैं।

पाँच आस्रव द्वार में दूसरा आस्रव है अविरति। अविरति आस्रव का मतलब है जैसे एक सरोवर में पानी का प्रवाह आ रहा है, पानी भरता जा रहा है; उस प्रवाह को जब तक रोकेंगे नहीं, तब तक पानी आता ही रहेगा। चाहे आपको पता है या नहीं। किन्तु आपको उसका पाप लगता रहेगा। जैसे आपके घर में बिजली का कनेक्शन है। मीटर लगा है। आप दो महीने के लिए घूमने-फिरने के लिए घर से बाहर चले गये। बिजली का उपयोग नहीं किया। दो महीने बाद घर पर आये तो देखा बिजली का बिल दो हजार का आया पड़ा है। आप बिजलीघर वालों से लड़ेंगे-झगड़ेंगे कि मैं तो दो महीने घर पर था ही नहीं; मैंने बिजली का उपयोग भी नहीं किया फिर यह बिजली का बिल क्यों आ गया? बिजलीघर वाले क्या बोलेंगे? जब आपका कनेक्शन चालू है, तब चाहे आप बिजली का उपयोग करें या न करें, मिनिमम चार्ज तो देना ही पड़ेगा। यदि आप अपना कनेक्शन कटवा देते, डिस्कनैक्ट करा देते तो आपको बिल नहीं भरना पड़ता, वरना कनेक्शन जुड़ा है तो बिजली मीटर आदि का चार्ज देना ही पड़ेगा, क्योंकि उपयोग करें या न करें परन्तु आप उसके हिस्सेदार हैं, उपभोक्ता हैं।

की पार्टनरशिप या कनेक्शन काटने का मार्ग है प्रत्याख्यान, त्याग। इसलिए त्याग, प्रत्याख्यान श्रावक जीवन की महत्त्वपूर्ण क्रिया है। पापों का सूक्ष्म आगमन रोकने की यह दृष्टि केवल जैनधर्म की मौलिक सूझ है और बड़ी तार्किक एवं वैज्ञानिक बात है कि जिस वस्तु की लालसा नहीं छूटी, उसकी हिंसा से आप बच नहीं सकते। अतः त्याग से, नियम से डरो मत, बल्कि प्रत्याख्यान का मतलब समझकर जीवन में जो अकरणीय है उसका त्याग कर उससे निवृत्ति लो।

व्रत या नियम, प्रतिज्ञा, केवल शब्दों की उद्घोषणा नहीं है, किन्तु यह मन से उस कार्य के प्रति आसक्ति का, लगाव का, इच्छा का, उसके उपभोग की भावना का बहिष्कार है और संसार के सबसे बड़े कर्म-प्रवाह से अपनी आत्मा को बचा सकते हैं। पाँच आस्रवों में पहला आस्रव मिथ्यात्व का तथा दूसरा आस्रव अविरति का है। अविरति का प्रवाह जाने-अजाने, रात-दिन क्षण-क्षण साहूकार के ब्याज की तरह चलता ही रहता है। मीटर घूमता रहता है। अतः चातुर्मास काल में छोटे-छोटे व्रतों का अभ्यास कीजिए। छोटे-छोटे नियम ग्रहण कर अपने आत्म-बल को तोलिए। अपने संकल्प बल को विल-पावर बनाइए और देखिए नियम ग्रहण कर लेने पर आपका मन कितना संतुष्ट, कितना प्रसन्न रहता है। श्रावण-भाद्रपद में प्रतिदिन नियमों का अभ्यास करने के लिए चौदह नियम, रात्रि-भोजन-त्याग, आयंबिल तथा प्रतिदिन व्रतों की मर्यादा करने का प्रयत्न करना चाहिए। इससे अविरति रूप कर्म-प्रवाह आस्रव घटता है।

धर्माराधना में तीन बातें आवश्यक

धर्म या व्रत की आराधना में सबसे पहली बात है श्रद्धा। धर्म के प्रति, गुरु के प्रति या गुरुजनों द्वारा बताये गये व्रत-नियम आचार धर्म के प्रति गहरी श्रद्धा-भक्ति होनी चाहिए। यह विश्वास होना चाहिए कि व्रत-आराधना का, धर्म-साधना का यह मार्ग सच्चा है, आत्मा को सुख पहुँचाने वाला है, दुःख दूर करने वाला है। जब आपके मन में यह श्रद्धा होगी, तभी आप धर्माराधना में प्रवृत्त हो सकेंगे। श्रद्धा के अभाव में आप धर्म के प्रति उत्साहित ही नहीं होंगे और मरे मन से धर्म-क्रिया करते रहेंगे, केवल दिखावे के लिए। दूसरी बात है धर्म-साधना का क्रमिक ज्ञान होना चाहिए। श्रद्धा है, विश्वास है कि धर्म से सुख मिलता है, दुःख दूर होता है किन्तु धर्माराधना कैसे करें, नियम कैसे लेवें, किस प्रकार उनका पालन करें और

धीरे-धीरे व्रत-नियम से मन को कैसे संकल्पों से बाँधें इस प्रक्रिया का ज्ञान भी होना चाहिए।

तीसरी बात है **धर्म-प्रभाव का** ज्ञान। आपको धर्म के प्रति श्रद्धा है, साधना की प्रक्रिया का भी ज्ञान है, परन्तु जो नियम आप ले रहे हैं, जो साधना आप कर रहे हैं उसका आपके जीवन में क्या प्रभाव होगा? आपके मन पर उसका क्या परिणाम आयेगा इस बात का भी ज्ञान होना चाहिए। शास्त्रों में प्रत्येक धर्म-क्रिया का अलग-अलग फल बताया है, जैसे—वन्दना करने से गुणीजनों के प्रति आदरभाव बढ़ता है, अपने आराध्य के प्रति अनुराग जागता है। सामायिक करने से मन में समताभाव आता है। प्रतिक्रमण करने से पापों के प्रति पश्चात्ताप होता है, अपनी भूलों का निरीक्षण किया जाता है। पुराने पाप झड़ जाते हैं। क्षमापना करने से कषायों की उपशांति होती है। मन सरल और प्रसन्न रहता है। दान देने से सत्पात्र को साता पहुँचती है। इस प्रकार प्रत्येक धर्म-क्रिया का आपके मन पर, आपके जीवन पर क्या प्रभाव होना चाहिए और वह क्रिया करने से उस प्रभाव की अनुभूति आपको होती है या नहीं इस बात का निरीक्षण भी करना चाहिए।

इस प्रकार धर्माराधना करने में इन तीनों बात का ज्ञान, अध्ययन, अनुभव हो तो धर्माराधना करने में आनंद आयेगा। अगर डॉक्टर दवा देता है और आपको मालूम है कि उस दवा से यह लाभ होने वाला है, दवा लेने पर वह लाभ होता है तो आप स्वयं विश्वास करेंगे कि दवा सच्ची है, डॉक्टर भी होशियार है। रोग का निदान भी ठीक हो गया है। अन्यथा दवा लेते जाओ और कुछ भी लाभ नहीं अनुभव हो तो वह दवा है या मिट्टी। आपको क्या पता पुड़िया में मोतीपिष्टी है या राख/चूना? आपको धर्म का फल उधार या परलोक में नहीं, इसी लोक में तत्काल अनुभव होता है। इस बात का पक्का विश्वास करके आप धर्माराधना में प्रवृत्त हों।

इस प्रकार चातुर्मास काल प्रारंभ हो रहा है। आप इस चातुर्मास या वर्षावास का आध्यात्मिक लाभ उठाने के लिए अपनी मनोभूमि तैयार कीजिए। उस चतुर किसान की तरह, जो बीज बोने से पहले धरती को हल चलाकर/मिट्टी को उलट-पुलटकर कोमल, कीटरहित बना लेता है कि जो बीज बोयेगा वह अच्छी प्रकार उगेगा। आप भी चिन्तन, मनन, उपदेश-श्रवण तथा श्रद्धा-विश्वासपूर्वक अपनी मनोभूमि तैयार कीजिए। चार

मास के इस समय में आप अपने आप को धर्म से जोड़िये और इन मुख्य बिन्दुओं पर ध्यान केन्द्रित कीजिए–

- वर्षाकाल में जीवों की विराधना से बचने के लिए यातायात, प्रवास आदि को सीमित करें।
- गमनागमन की प्रवृत्ति में अधिक सतर्क रहें। ''जयणा धम्मस्स जयणी।''–'जयणा' धर्म की माता है यह मानकर प्रत्येक व्यवहार में जयणावान बनें।
- वर्षाकाल ठंडक और तरी का मौसम है। मन के भीतरी वातावरण को शीतल बनाइए। क्रोध, मान, माया, लोभ आदि की उग्रता, उष्णता को शांत करने का प्रयास कीजिए। शीतलीभूत आत्मा बनने का अभ्यास करें।
- चार महीने ब्रह्मचर्य व्रत की साधना का संकल्प लेवें। तन, मन, बुद्धि, आरोग्य सभी के लिए यह लाभकारी है।
- चार महीने रात्रि-भोजन का त्याग करें।
- स्वाध्याय, ध्यान, जप, मौन, स्वाद-त्याग और एकासन, उपवास आदि तपों की आराधना करें।
- पौषध और प्रतिक्रमण का फल आत्मा की आनन्दानुभूति है। यह जानकर इनके प्रति सचेष्ट रहें।

● ●

पर्युषण का अर्थ : जीवन का अर्थ बदल देगा

उत्सव-प्रिय मनुष्य

मनुष्य-स्वभाव के विषय में एक कहावत है-"उत्सवप्रिया हि लोकाः।" -सामान्य मनुष्य स्वभाव से उत्सव-प्रिय होता है। उत्सव का अर्थ है कोई विशेष, नया, अद्भुत कार्यक्रम। हर दिन एक जैसा रहन-सहन, एक जैसा खाना-पीना और एक जैसी सोसायटी में रहते हुए मनुष्य ऊब जाता है। उसमें कुछ न कुछ नयापन, परिवर्तन चाहता है। एक ही दिन में जो भोजन सुबह किया वह सायं को नहीं चलता। सुबह आपने शाक-रोटी खाई है तो शाम को खिचड़ी-दलिया, दाल-भात या पराठा-पूड़ी खाना चाहेंगे। सुबह जो कपड़ा पहना है, वह शाम को बदलना चाहेंगे। मतलब यह है कि मनुष्य का स्वभाव परिवर्तनशील है। यूँ तो प्रकृति भी परिवर्तनशील है। सुबह सूरज निकलने से पहले मौसम ठण्डा होता है, हवा में ताजगी और प्राणवायु की भरपूरता होती है। खुली हवा में साँस लेकर शरीर तरोताजा हो जाता है। मन प्रफुल्ल हो जाता है। किन्तु धीरे-धीरे मौसम का मिजाज बदल जाता है। दोपहर को एकदम गर्म, खुले में घूमने का मन नहीं होता। घर के भीतर ही ठण्डी हवा में आराम करना चाहता है। शाम को फिर मौसम बदल जाता है। तो इस प्रकार प्रकृति भी दिन में कई रूप बदलती है। मौसम का मिजाज भी मिनट-मिनट में बदलता रहता है। यही प्राकृतिक गुण मनुष्य-स्वभाव में भी है। मनुष्य हर क्षण कुछ नयापन, परिवर्तन पसन्द करता है। इसी मानव-स्वभाव को प्रसन्न व आनन्दमय रखने के लिए हमारे समाज में उत्सव और त्यौहारों का प्रचलन हो गया। हर रोज कोई न कोई त्यौहार आता ही रहता है। यह त्यौहार मनुष्य के जीवन में, व्यवहार और भावना में परिवर्तन का सूचक है। इस परिवर्तन से कुछ ताजगी बनी रहती है, स्फूर्ति और उत्साह जगता है। कुछ नया करने की उमंग उठती है। संस्कृत के कवि ने कहा है-

क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः।

—क्षण-क्षण में जो बदलकर पुराना-नया होता रहता है। यही तो सृष्टि की सुन्दरता का स्वरूप है। बासी खाना, बासी पहनना, बासी पीना मनुष्य को पसन्द नहीं। तरोताजा रहना उसकी पसन्द है, चोइस है।

मिनट-मिनट में रूप बदलता, रहता है कुदरत का।
बदल पुराना नया बनाना, सुख है यह जीवन का॥

उत्सव प्रेरणा के स्रोत

उत्सवों के पीछे प्रेरणा का मनोविज्ञान भी काम करता है। साइकिल पर चलते-चलते हवा कम हो जाती है, तो वह दौड़ नहीं सकती, पम्प से हवा भरनी पड़ती है तब फिर वह हवा में तैरने लगती है। कार, स्कूटर के पहियों में भी हवा कम होने पर हवा भरानी पड़ती है वर्ना पंचर होने का डर। चलते-चलते गाड़ी का पेट्रोल खत्म हो जाता है तो पेट्रोल भरने से फिर गाड़ी तेज रफ्तार से दौड़ती है। भूख लग जाती है तो कुछ खाया-पीया। तरोताजा हो गया तो फिर स्फूर्ति आ जाती है।

दौड़ते-दौड़ते घोड़ा थक जाता है तो सईस उसके पैरों की मालिश कर देता है, दाना-पानी खिलाता है तो फिर सरपट दौड़ने लगता है। जीवन में भी एक ढर्रे पर चलते-चलते मन का उत्साह ठण्डा पड़ जाता है, एक जैसे वातावरण में रहते-रहते सुस्ती छा जाती है तो त्यौहार के रूप में वातावरण में परिवर्तन आता है। साइकिल की तरह मन में प्रेरणा की हवा भर दी जाती है। उत्साह का पेट्रोल पड़ जाता है तो आदमी स्फूर्ति व ताजगी महसूस करने लगता है। जीवन में परिवर्तन और प्रेरणा भरने का काम करता है त्यौहार, उत्सव, पर्व।

त्यौहार व पर्व के नाम पर मन में नया उत्साह, नया जोश और नई प्रेरणा उमगने लगती है और मन नये काम के लिए तैयार हो जाता है।

उत्सव और त्यौहार के पीछे भी यही मानव मनोविज्ञान काम करता है। विश्व में पर्व, त्यौहारों, उत्सवों की रीति हजारों, लाखों वर्ष के इतिहास से जुड़ी है। इसमें मानव-सभ्यता के अनेक रूप, अनेक संस्कार बदलते-मिटते दिखाई देते हैं। इन उत्सवों की लम्बी चर्चा नहीं करके मैं आज सीधा ही पर्युषण पर्व के विषय में आपको बताना चाहता हूँ।

पर्व का अर्थ

उत्सव का अर्थ है उल्लास तथा आमोद-प्रमोद का दिन। लोक उत्सव व त्यौहारों के अर्थ में 'पर्व' शब्द को भी जोड़ देते हैं और कुछ त्यौहार तो

'पर्व' के रूप में प्रसिद्ध हो गये, जैसे–विजय दशमी पर्व, दीपावली पर्व, रक्षाबन्धन पर्व। पर्व और त्यौहार शब्द के अर्थ में एक खास फर्क है। जैसा मैंने बताया–आमोद-प्रमोद, शोरगुल, हँसी-खुशी के दिन को उत्सव कहा जाता है।

पर्व का अर्थ है–पवित्र दिन, कोई विशेष महत्त्वपूर्ण दिन। ज्योतिष के अनुसार अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा, अमावस्या ये पर्व दिन हैं। चन्द्रमा और सूर्य की गति के प्रभाव से इन दिनों में पृथ्वी के वातावरण में कुछ विशेष परिवर्तन आता है। वैज्ञानिक दृष्टि से पृथ्वी के चुम्बकीय क्षेत्र में उतार-चढ़ाव आने से समुद्र के पानी में उतार-चढ़ाव आता है और इसी प्रकार का उतार-चढ़ाव मनुष्य की रक्त-वाहिनियों में भी आता है, जिनका प्रभाव भावों पर पड़ता है, मन पर पड़ता है। इन पर्व तिथियों में भावनाओं में उद्वेग बढ़ने की संभावना रहती है, जिसे शान्त व नियंत्रण में रखने के लिए उपवास, व्रत, ध्यान, नियम आदि धर्माराधना सहायक बनती है। पर्व तिथियों में धर्माराधना करने का यह वैज्ञानिक पहलू है।

जैनाचार्यों ने 'पर्व' का भावार्थ इस प्रकार किया है–

पूरणात्[1] पर्व धर्मोपचयहेतुत्वाद् धर्म-पूरणं पर्व ....

–धर्म का संचय या संग्रह करने के कारण धर्म भावना से मन को पूरने के कारण 'पर्व' कहा जाता है। अर्थात् जिन दिनों में विशेष धर्म-साधना द्वारा आत्मा को भावित किया जाये, उन दिनों को 'पर्व' कहा जाता है।

गन्ने की जो गाँठें होती हैं, उसे भी संस्कृत में 'पर्व' कहा जाता है, जिसे हिन्दी में 'पौर' कहते हैं।

महाभारत के अध्यायों को अध्याय नहीं कहकर 'पर्व' कहा गया है, जैसे–वन पर्व, अनुशासन पर्व, शान्ति पर्व आदि। आचार्य श्री हेमचन्द्रकृत त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित के अध्यायों व खण्डों को भी 'पर्व' कहा है। उसके कुल दस पर्व हैं। दसवें पर्व में भगवान महावीर स्वामी युग का इतिहास गुँथा हुआ है।

तो इस प्रकार आप देखेंगे कि त्यौहार और उत्सव आदि शब्दों से कुछ खास विशिष्टता बताने वाला शब्द है पर्व। जब हम पर्युषण पर्व शब्द बोलते

---

१. श्रावकधर्म प्रज्ञप्ति, टीका ३२१

हैं तो हमें एक खास अर्थ का बोध होता है कि आज कोई विशेष पवित्र और महत्त्वपूर्ण दिवस है और इसका संकेत आत्मा को धर्मभावना से भावित करने के लिए है।

पर्व और महापर्व

अन्य महत्त्वपूर्ण दिनों को 'पर्व' कहा जाता है, परन्तु पर्युषण के आठ दिन 'महापर्व' या 'पर्वाधिराज' कहलाते हैं। इसका कारण है अन्य पर्व-दिनों में मनुष्य बाह्य रूप में सजता-सँवरता है, विभिन्न खाद्य पदार्थ, मिष्टान्न आदि खाता है, खिलाता है, किन्तु पर्युषण पर्व आन्तरिक साज-सज्जा का पर्व है। यह पर्व मनुष्य की अन्तर् आत्मा की शुद्धि करने के लिए आता है। भोग की जगह त्याग और खुशी की जगह आन्तरिक प्रसन्नता तथा मानसिक संतुष्टि प्रदान करना ही इस पर्व का लक्ष्य है। भोजन की जगह तप का संदेश देता है यह पर्व। इस कारण इसे 'महापर्व' या 'पर्वाधिराज' कहा गया है। ग्रन्थों में बताया है, जैसे जल में गंगाजल, पर्वतों में स्वर्णगिरि सुमेरु, वनों में नन्दनवन, पुष्पों में कमल उत्तम व श्रेष्ठ है, उसी प्रकार पर्वों में महापर्व पर्युषण श्रेष्ठ और सर्वोत्तम है। इसकी उत्तमता व श्रेष्ठता इसी में निहित है कि यह मानव आत्मा के विकास और विशुद्धि की प्रेरणा देता है, अवसर देता है। यह भाव पर्युषण शब्द के अर्थ से ही स्वतः स्पष्ट होता है।

पर्युषण : उपासना और शान्ति का पर्व

पर्युषण शब्द संस्कृत का शब्द है। प्राकृत, अर्ध-मागधी में इसे **पज्जोसवणा, पज्जूसणा या पज्जोसमणा** कहा जाता है। प्राकृत भाषा रबर की तरह इतनी लचीली है कि एक ही शब्द के थोड़े-थोड़े उच्चारण-परिवर्तन से अनेक अर्थ निकल जाते हैं। कल्पसूत्र और उसकी टीकाओं में **'पज्जूसणा'** शब्द के नौ अर्थ किये गये हैं। जिनमें कुछ खास अर्थ ये हैं–पज्जूसणा, पज्जूसमणा, पज्जोसवणा आदि। **पज्जूसणा** शब्द का अर्थ है–पर्युपासना। साधारण रूप में हम किसी की सेवा-भक्ति करते हैं, पूजा आदि करते हैं तो कहते हैं हम उपासना कर रहे हैं। उपासना अर्थात् उसके पास बैठना। देवता की उपासना करने का अर्थ है हम देवता के समीप, निकट या सम्मुख बैठते हैं, तन से भी और मन से भी। तन हमारे अपने आराध्य देवता की मूर्ति, फोटू या उनकी देह के निकट है और मन में भी वे विराजमान हैं। हमारा विचार उन्हीं के गुणों में रमा है। हमारे आत्मारूपी मन्दिर में वे विराजित हैं, इसलिए हम इसे उपासना कहते हैं।

वैसे उपासना, आराधना और साधना तीन शब्द हैं। यह तीनों मिलकर ही एक परिपूर्ण साधना क्रम बनता है। पहले उपासना अर्थात् इष्ट के सम्मुख या समीप आना। फिर आराधना–इष्ट के प्रति श्रद्धाभाव, पवित्र प्रेम या इष्ट के प्रति समर्पित हो जाना और फिर साधना–इष्ट-प्राप्ति के लिए ध्यान, मंत्र, जप, उपवास, तप आदि विधान के अनुसार साधना में प्रयत्नशील होना। तो उपासना सबसे पहली भूमिका है।

उपासना शब्द के साथ 'परि' उपसर्ग लगाने से इसका अर्थ कुछ और भी गहरा हो गया है। जैसे 'ग्रह' का अर्थ है ग्रहण करना और 'परि' उपसर्ग लगाने से 'परिग्रह' शब्द बन गया अर्थात् उस वस्तु को अच्छी तरह पकड़ लेना। आसक्ति, लालसा और गृद्धि के साथ किसी को ग्रहण कर लेना परिग्रह हो गया। साधु वस्त्र, पात्र, भोजन आदि को ग्रहण तो करता है, परन्तु उनका संग्रह पर ममता नहीं करता, इसलिए वह ग्रहण करके भी 'परिग्रह' नहीं करता। तो 'परि' उपसर्ग लगाने से 'उपासना' शब्द का अर्थ काफी व्यापक हो गया। यानी सम्पूर्ण निष्ठा के साथ, अन्तःकरण की समग्र चेतना को उसी में लीन करके, तन्मय होकर इष्ट के समीप बैठना, उसकी भावना ध्यावना, चिन्तवना करना। यह है पर्युषणा अर्थात् पर्युपासना।

देवताओं में कोई देवता स्वर्ग में रहता है, कोई सिद्ध भगवान जैसा आराध्य देव बहुत दूर मोक्ष में विराजमान है। मतलब यह है कि जिन देवताओं की हम उपासना करते हैं, वे देवता हमारे से हजारों, लाखों योजन दूर बैठे हैं। फिर सबसे नजदीक कौन-सा देवता है जिसकी उपासना करनी है? आप एक क्षण सोचिये–

ना मैं मन्दिर मस्जिद में हूँ, ना काबा कैलाश में।
जो मुझको ध्यावेगा मन से, मैं हूँ उसके पास में॥

–वह न तो मन्दिर में है, न मस्जिद में, न काबा में, न कैलाश में, न बद्रीनाथ में, न द्वारिका में और न ही पहाड़ों में, न शिखर जी में, न शत्रुंजय में। यदि आपका चित्त उसमें लीन हो गया है तो वह आपके पास में ही है। बिलकुल नजदीक है। एक बालभर की दूरी भी नहीं है उससे। उस देवता का नाम क्या है? अध्यात्म की भाषा में उस सबसे निकट रहने वाले देवता का नाम है आत्मा।

आत्म-देवता हमारा सबसे नजदीक है। सबसे बड़ा मित्र है, सहायक है और यही एक दिन आपको परमात्मा से मिलायेगा क्या, परमात्मा ही बना देगा।

आपके शरीर के सबसे निकट, आपके मन की परछाई के पीछे ही यह बैठा है, आत्मा। इसलिए तो कहा है–''आत्मा वा अरे द्रष्टव्यो ···· मन्तव्यो **निदिध्यासितव्यः।**''–तू कहाँ भटक रहा है भगवान की खोज में। भगवान तो तेरे घट के भीतर ही विराजमान है।

घट का पट तू खोल रे मनवा, प्रभु है तेरे पास में।
वह नहीं माटी, काठ की मूरत, वह तो है विश्वास में॥

तो मैं कह रहा हूँ जो देवता आपके सबसे नजदीक है। जो भगवान या परमात्मा आपके भीतर ही छुपा है, उस परमात्मा की सेवा करना, उसको चारों तरफ से घेरकर अपने पास में बिठा लेना और उसी में रम जाना इसी का नाम है पर्युपासना। गुरु की या भगवान की पर्युपासना का मतलब क्या है? उनके प्रति तन-मन से, सम्पूर्ण अहोभाव के साथ समर्पित होकर उनके अत्यन्त निकट हो जाना। यह पर्युपासना शब्द ही प्राकृत में है **पज्जूसणा।** आज पज्जूसणा है। पज्जूसणा का अर्थ आपने समझ लिया आत्मा का, आत्मा में, आत्मा से ध्यान करना, आत्मा के पास बैठना, इसी का नाम है पज्जूसणा। पज्जूसणा पर्व–यह पवित्र दिन हमें सावधान कर रहा है। आज अपनी आत्मा की सेवा करो, आत्मा में रमण करो, आत्मा का चिन्तन करो, तभी पज्जूसणा मनाया जायेगा।

आत्मा का चिन्तन क्या है ?

आत्मा कोई मूर्ति नहीं है, कोई व्यक्ति नहीं है, किन्तु वह आपके भीतर छुपी चिन्मय शक्ति है।

आत्मा का लक्षण है ज्ञान। ज्ञान की उपासना आत्मा की उपासना है। ज्ञानी की सेवा आत्मा की सेवा है। ज्ञान का प्रचार आत्मा की प्रभावना है।

आत्मा का लक्षण है : दर्शन। दर्शन अर्थात् शुद्ध विश्वास। अपनी शक्तियों का विश्वास, अपनी शुद्धता और पवित्रता का विश्वास। आप तुच्छ नहीं, क्षुद्र नहीं महान् हैं। आपके भीतर ही सम्पूर्ण ईश्वरीय शक्ति निहित है, इसका ज्ञान करो, फिर इस पर विश्वास करो।

तेरे भीतर छुपा है भगवान,
तू मनवा काहे बना नादान।
सिद्ध-बुद्ध-निर्मल-निर्लेपी, इसको अब पहचान।
रत्न छिपा माटी के भीतर, मूरख अब तो जान।
तेरे भीतर छुपा है भगवान।

आत्मा का लक्षण है चारित्र, सम्पूर्ण वीतरागता। "**चयरित्तकरणं चारित्तं।**" समस्त कर्मों से, कषायों से, विभावों से खाली हो जाना इसी का नाम है चारित्त। अपने आप में विचरण करना ही 'चरण' अर्थात् संयम है। इसीलिए चारित्र को 'चरण' कहा है। चरण ही व्यवहार में 'आचरण' बन जाता है। आत्म-गुणों का आचरण करना ही है चारित्र, आत्म-स्वभाव।

पज्जोसमणा : शान्ति करना

तो इस तरह पज्जूसणा का एक अर्थ है—आत्मा के निकट आना। आत्मा की सेवा करना। आत्मा और परमात्मा के बीच की भेद रेखा मिटाकर एकरूप होकर उसी में रम जाना। प्राकृत भाषा में पज्जोसमणा शब्द भी इसी पर्युषण शब्द से बनाया गया है। पज्जोसमणा का अर्थ है पर्युपशमना। शान्ति करना।

इस संसार में चारों तरफ आग लगी है। क्रोध की, राग-द्वेष की, लोभ की, वासना विकारों की लपटें उछल रही हैं। चिनगारियाँ फूट रही हैं। केशीकुमार श्रमण गणधर गौतम से पूछते हैं—"हे महर्षि गौतम ! इस संसार में चारों तरफ आग की लपटें उछल रही हैं। प्राणी उसमें जल रहा है। आप इस जलते हुए संसार के बीच में भी कैसे चुपचाप शान्त बैठे हैं? यह आग आपको क्यों नहीं जला पाई है? क्या आग के साथ भी आपकी मैत्री है, जो जलती आग में भी आप शान्त बैठे हुए हैं?"

संपज्जलिया घोरा अग्गी चिट्ठइ गोयमा !
जे डहंति सरीरत्था कहं विज्झाविया तुमे ?

—हे गौतम, जिस आग में दुनियाँ जल रही है, आपने वह आग कैसे बुझा ली?

तो संसार में यह आग कौन-सी है? गौतम स्वामी बताते हैं—"**कसाया अग्गिणो वुत्ता।**"—कषायें अग्नि है। क्रोध, मान, दंभ और लोभरूप कषाय की ज्वाला मन के भीतर उठ रही है। जिससे मन का कण-कण उत्तप्त-संतप्त हो रहा है। भला, जहाँ आग लगी हो, वहाँ चैन और शान्ति कैसी? आग की तपन में तो सब कुछ अशान्त जाज्वल्यमान जैसा हो जाता है।

मेघकुमार आता है भगवान महावीर की शरण में। राजसी सुख-वैभव का त्याग करके साधु बनने के लिए प्रस्तुत हुआ है। तब कहता है "**आलित्तेणं भंते ! पलित्तेणं भंते ! लोए।**"—प्रभु ! यह संसार जरा-मरण की

आग में जल रहा है। चारों तरफ आग धधक रही है। इस धधकती आग में से मैं अपनी आत्मा को निकालना चाहता हूँ, बचाना चाहता हूँ, मुझे इस आग से बचने का उपाय बताओ।

संसार में जहाँ जिधर देखो, उधर ही क्रोध, द्वेष आदि की आग लगी है। वहाँ प्राणी को शान्ति कैसे मिलेगी?

इस आग को बुझाने के लिए महावर्षा की जरूरत है। मूसलाधार वर्षा होगी तभी यह आग बुझ सकेगी और मन को शान्ति, चैन, सकुन मिल सकेगा।

पज्जोसमणा इस धधकती अग्नि को बुझाने के लिए प्रेम की वर्षा लेकर आता है। समता की वृष्टि करता है जिससे सृष्टि में शान्ति/सुख-चैन की शीतलता बरसे। गौतम स्वामी कहते हैं–''सुय-सील-तवो जलं।''–हे महामुनि केशी ! मैंने श्रुत, शील और तप की वर्षा करके इस आग को शान्त कर ली है। अब मेरी अग्नि शान्त हो गई है तो मैं अत्यन्त निर्भय और प्रसन्न मन से शान्तिपूर्वक बैठा हूँ।

ज्ञान व तप की वर्षा लेकर आता है पर्युषण। पज्जोसमणा अर्थात् पर्युपशमना। सम्पूर्ण रूप से उपशमना व शान्त करना। बुझा देना। कहीं आग लगी हो तो फायर बिग्रेड की दमकलें दौड़कर आती हैं और मोटी-मोटी पानी की धार छोड़कर चारों तरफ से आग पर काबू पाने का प्रयत्न करती हैं। पानी और गैस के द्वारा धधकती ज्वालाओं को शान्त किया जाता है। मन में, जीवन में और समूचे संसार में आग लगी हुई है कषायों की। जब तक यह आग जलती रहेगी, मन की भूमि शान्त नहीं होगी। भूमि शान्त, शीतल और सामान्य नहीं होगी तो उसमें धर्म का, ज्ञान का, प्रेम का, सद्भाव का कोई भी अंकुर नहीं फूटेगा। बंजर पड़ी रहेगी यह भूमि। इसलिए मन की भूमि को शान्त करने वाली आराधना का अवसर है–पज्जोसमणा।

मन के भीतर जब तक किसी के प्रति द्वेष है, वैर है, कटुता है, बदले की भावना है, अपमान का डंक चुभ रहा है किसी द्वारा कहे हुए कटु वचन का काँटा चुभ रहा है। प्रतिस्पर्धा की लड़ाई मच रही है। किसी भी प्रकार की उष्णता है तो मन शान्त नहीं रहेगा। भीतर ही भीतर यह बेचैनी बढ़ती जायेगी। शीतल पानी के सरोवर में डुबकी लगा लोगे तब भी मन की आग शान्त नहीं हो पायेगी और मन की आग जब तक शान्त नहीं होगी, चैन नहीं पड़ेगा, सकुन नहीं मिलेगा। भीतर ही भीतर तिलमिलाहट मचती रहेगी।

मन की आग को शान्त करने का उपाय बताते हैं गौतम स्वामी। वे कहते हैं, सिर्फ शास्त्र की सुनी हुई बात नहीं, अपनी आजमाई हुई बात है, अनुभव की बात है–इस आग को शान्त करने के तीन उपाय हैं–"**सुय-सील-तवो जलं।**"–तीन प्रकार की जल-वृष्टि इस आग को शान्त कर सकती है, जिसमें पहला जल है **श्रुत।** श्रुत यानी ज्ञान। ज्ञान मनुष्य के अन्तर का विवेक है, चिन्तन है, विचार है। मन की आग बिना विवेक, ज्ञान के शान्त नहीं हो सकती। तो पहला उपाय है ज्ञान। ज्ञानरूपी जल की वर्षा करो।

दूसरा उपाय है–**शील**, सदाचार, व्यवहार में नम्रता, सज्जनता, सरलता और अनुकूलता। इसका नाम है शील। शील का अर्थ केवल ब्रह्मचर्य से ही नहीं है। किन्तु शीलवान का मतलब है सदाचारी, विनम्र, सबके अनुकूल चलने वाला। शीलरूपी जल से यह अग्नि शान्त होगी।

अग्नि को शान्त करने का तीसरा उपाय है–**तप।** तप का सामान्य अर्थ है–उपवास। किन्तु तप का क्षेत्र बहुत विस्तृत है–इन्द्रियों का निग्रह, मन के विकारों का शमन, दोषों के प्रति पश्चात्ताप, गुरुजनों के प्रति नम्रता, ध्यान व जप में मन को लीन बनाना–यह सब तप है और इस तपःसाधना के द्वारा कषायों की अग्नि शान्त की जाती है।

इस प्रकार **पज्जोसमणा** अर्थात् पर्युपशमना, कषायों की शान्ति करने के लिए श्रुत, शील, तप की आराधना करनी होगी। मन को मधुर व नम्र बनाना होगा। बड़ों से, छोटों से सभी से क्षमा माँगनी होगी। क्षमा देनी होगी।

कभी-कभी मैं देखता हूँ क्षमा माँगना तो सरल होता है–हर किसी से खमत खामणा कह देते हैं। खमाता हूँ आपको, क्षमा करना। परन्तु क्षमा देना बड़ा कठिन है। क्षमा देने के लिए मन की उदारता, विशालता चाहिए। अपराधी जब सामने आकर क्षमा माँगता है तब मन के भीतर एक द्वन्द्व उठता है–अरे ! इसने मेरा यह अपमान किया और मैं इसे बदला लिए बिना ही क्यों छोड़ दूँ? बदले की भावना बड़ी भयंकर होती है। प्रतिशोध से द्वेष-वैर की परम्परा पीढ़ी दर पीढ़ी चलती रहती है। इस प्रतिशोध भावना को मिटाकर मन को सीधा सरल बना लेना और क्षमा कर देना। इसी में पर्युषण की सार्थकता है। तो इस प्रकार आप आज पर्युषण के दिन पर्युषण शब्द के अर्थ पर विचार करें–इसके भाववाचक दो अर्थ मैंने आपको बताये हैं।

पर्युषणा–समग्रभाव से आत्मा की उपासना करना।

पर्युषणा–आत्मा के राग-द्वेष आदि विकारों की उपशान्ति करना है। इन्हीं दो अर्थों को जीवन में उतार लें तो पर्युषण सार्थक हो जायेगा।

पर्युषण कब और क्यों ?

कुछ नवयुवक जिज्ञासा करते हैं–पर्युषण पर्व भाद्रपद मास में ही क्यों मनाया जाता है? यह कोई चली आती रूढ़ परम्परा ही है या इसके पीछे कोई घटना, इतिहास या अन्य कारण भी है?

जैन आगम साहित्य का अनुशीलन करने पर पता चलता है–पर्युषण पर्व की आराधना के पीछे एक महत्त्वपूर्ण भौतिक पर्यावरण का कारण भी है। पृथ्वी के भौतिक वातावरण में आये परिवर्तन से इसका सम्बन्ध है।

जैन काल-चक्र की गणना के अनुसार अभी हम पाँचवें दुषम काल में चल रहे हैं। यह २१ हजार वर्ष का है। इसके बाद छठा आरा आयेगा जो इससे भी भयानक प्राकृतिक आपदाओं वाला होगा। पृथ्वी का तापमान अत्यन्त गर्म हो जायेगा। गंगा, सिन्धु नदी का पानी प्रायः सूख जायेगा, सूर्य के ताप से बालू भड़भूजे की भट्टी की बालू के समान गर्म हो जायेगी। सूर्य आग के गोले की तरह तपेगा। दिन के समय पृथ्वी पर चलना भी मुश्किल हो जायेगा। मनुष्य घरों में या पर्वत-कन्दराओं में छुपकर दिनभर गर्मी से बचेंगे। सूर्यास्त होने के बाद घरों से निकलकर भोजन की तलाश में नदियों के किनारे घूमने लगेंगे। नदियों के क्षुद्र जल में से मच्छ-कच्छ आदि जीवों से अपने पेट की भूख मिटायेंगे। क्योंकि वर्षा बहुत कम होगी, धरती के रस स्रोत भी सूख जायेंगे जिस कारण अन्न-धान्य बहुत ही कम उत्पन्न होगा। वृक्ष भी पतझड़ जैसे सूखे हो जायेंगे। पर्यावरण का यह परिवर्तन मनुष्य को शाकाहारी से माँसाहारी बनने पर मजबूर कर देगा। इस प्रकार का छठा दुषम-दुषमा आरा भी २१ हजार वर्ष का होगा। इसके बाद उत्सर्पिणी काल प्रारम्भ होगा। इस काल-चक्र का पहला आरा भी छठे आरे जैसा ही भीषण कष्टमय होगा। फिर दूसरा दुषम आरा प्रारम्भ होगा। तब पृथ्वी एवं प्राकृतिक वातावरण में परिवर्तन होगा। संवर्तक मेघ, घृत मेघ, अमृत मेघ और रस मेघ की वर्षा होगी। बीच-बीच में सात-सात दिन का उघाड़ भी होगा। इस प्रकार दूसरे आरे के प्रारम्भ में २८ दिन वर्षा के और २१ दिन उघाड़ के यों ४९ दिन (सात सप्ताह) के बाद जब पृथ्वी का वातावरण शीतल व रसमय हो जायेगा। धरती पर घास, धान आदि अंकुरित होगा। तब बिलों में रहने वाले मानव बाहर निकलेंगे, पृथ्वी पर उगी वनस्पतियाँ

व फल आदि देखकर वे कह उठेंगे—अब हम माँसाहार नहीं करेंगे। वनस्पति व फल इत्यादि खाकर ही अपनी उदरपूर्ति किया करेंगे। माँसाहार करने वालों की छाया से भी दूर रहेंगे।[१]

इस प्रकार का पवित्र संकल्प आषाढ़ी पूनम से ४९ या ५० दिन बीत जाने पर किया जाता है, इसलिए यह ५०वाँ दिन अर्थात् श्रावण मास के ३० दिन व भाद्रपद के २० दिन बीत जाने पर भाद्रपद शुक्ल चौथ या पांचम के दिन अहिंसा का, जीव-दया का एक ऐतिहासिक संकल्प उस दिन किया जाता है। पिछले काल-चक्र के उत्सर्पिणी काल में यह घटना घट चुकी है और प्रत्येक उत्सर्पिणी काल के दूसरे आरे के प्रारम्भ में इस प्रकार हिंसा व क्रूरता की तरफ गया मानव दया व करुणा की तरफ मुड़ता है। अहिंसा का पवित्र संकल्प लेकर मानव जाति के अभ्युदय व विकास का पथ प्रशस्त करता है। संवत्सर के सातवें सप्ताह में यह परिवर्तन आता है। एक तो वातावरण में रसमयता व शीतलता बढ़ती है। दूसरे इस प्राकृतिक वातावरण के प्रभाव से मनुष्य की भावनाओं में परिवर्तन आता है। क्रूरता के भाव कोमलता में बदलते हैं इस कारण यह सातवाँ सप्ताह अर्थात् भाद्रपद मास का तीसरा सप्ताह अध्यात्म-जागरण की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इन दिनों में आठ दिन का पर्युषण पर्व मनाया जाता है। आठ दिन का धार्मिक जागरण, व्रत, तप, स्वाध्याय, प्रतिक्रमण आदि आत्म-जागृति की प्रवृत्तियों में लीन रहकर मनुष्य अपने आत्मिक अभ्युदय के लिए प्रयत्नशील होता है। तो, इस प्रकार पर्युषण पर्व की पवित्र परम्परा कोई रूढ़ि या अंध मान्यता नहीं है, यह एक प्राकृतिक पर्यावरण से सम्बन्धित सत्य है। आज का भौतिक विज्ञान भी जहाँ तक पहुँचा है यह मानता है कि आज से ५० करोड़ वर्ष पूर्व इस संसार में वनस्पति, जल आदि कुछ भी नहीं था। सूर्य एक तपता हुआ आग का गोला था। जिसकी प्रखर आग से, सब कुछ जल-भुनकर राख जैसा प्रतीत होता था। यही नहीं; आज तो विज्ञान आने वाले भविष्य की जो कल्पना कर रहा है वह इतनी भयानक है कि छठे आरे का वर्णन सत्य होता प्रतीत होता है। आने वाले समय में वातावरण इतना गर्म और प्रदूषित हो जायेगा कि धरती का तापमान भयंकर रूप में बढ़ेगा। हवा में जहरीली गैसें छा जायेंगी जिससे मनुष्य तरह-तरह की बीमारियों से आक्रान्त हो जायेगा। आजकल वैज्ञानिक

१. इसके विस्तृत वर्णन हेतु देखें—जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति सूत्र का प्रसंग।

कह रहे हैं कि पृथ्वी पर बढ़ती औद्योगिक गैसों आदि के कारण वायुमण्डल में एक ग्रीन हाउस वातावरण निर्मित हो रहा है। ग्रीन हाउस का मतलब है काच का भवन। पृथ्वी से उठने वाली गैसें वायुमण्डल में काच के भवन जैसी परत बना देती हैं जिससे धरती से उठने वाली/उत्सर्जित होने वाली गैसें परावर्तित नहीं होंगी। उनकी उष्णता वायुमण्डल में बढ़ती रहेगी। जिस कारण ध्रुव प्रदेशों की बर्फ पिघलेगी, संसार में बाढ़ें आयेंगी, जल-प्रलय का-सा दृश्य उपस्थित हो जायेगा। मेरे कहने का भाव यह है कि जैनशास्त्रों में वर्णित यह छठे आरे का या दुषम-दुषमा काल का वर्णन प्राकृतिक परिवर्तनों को ध्यान में रखकर किया गया है जिसके प्रति आज का विज्ञान भी आशंकित है और वह इसकी कल्पना भी करने लगा है।

हम अभी पर्युषण की पृष्ठभूमि की चर्चा कर रहे हैं। पर्युषण का यह आठ दिवसीय कार्यक्रम जिसे जैन भाषा में अष्टान्हिक पर्व कहा जाता है, प्राकृतिक दृष्टि से धार्मिक जागरण के अनुकूल होने से ही इन दिनों का विशेष महत्त्व है। इन दिनों में सांसारिक वृत्तियों से दूर रहकर अधिक से अधिक अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, तप, दान, स्वाध्याय, आत्म-चिन्तन आदि वृत्तियों में रमण करना है, जिससे आपकी आत्मा पवित्र हो और शान्ति का अनुभव कर सकें।

पर्युषण की साधना के विषय में फिर अगले प्रसंग पर चर्चा की जायेगी।

● ●

पर्युषण के आठ दिन : आठ जीवन सूत्र

पर्युषण के अर्थ पर हमने चिन्तन किया तो इसके सबसे महत्त्वपूर्ण दो अर्थ हमारे सामने प्रकट होते हैं–

पहला यह कि **पज्जुसणा**–पर्युपासना है। अर्थात् आत्मा के समीप आना, आत्मा के सम्मुख रहना और आत्मा द्वारा आत्मा का ध्यान लगाना।

दूसरा अर्थ है–**पज्जुसमणा**–पर्युपशमना अर्थात् मन के विकारों को, उत्तेजना को, तृष्णा की व कषायों की अग्नि को समता भाव की वृष्टि द्वारा शान्त करना, मन व आत्मा को शीतल बनाना।

ये दोनों ही अर्थ पर्युषणा को पूर्ण सार्थकता प्रदान करते हैं। पर्युषण का उद्देश्य और उसकी परिणति हमारे सामने उजागर कर देते हैं।

अब प्रश्न है, वर्तमान में हम जो पर्युषण मनाते हैं, वह आठ दिन का मनाया जाता है। जैन परिभाषा में इसे **अष्टान्हिक पर्व** कहा जाता है। अष्टान्हिक का अर्थ है आठ दिन का पर्व।

दूसरी मान्यता के अनुसार पर्युषण एक दिन का भी होता है। वर्तमान में जिसे हम **सांवत्सरिक प्रतिक्रमण** कहते हैं, वह संवत्सरी का दिन ही मुख्य रूप से **पज्जोसवणा** माना गया है। वैसे एक दिन व आठ दिन की दोनों परम्परा सिर्फ प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरों के शासनकाल में ही विहित है। मध्य समय के २२ तीर्थंकरों के शासन में पर्युषण काल जैसा कोई विधान नहीं है। उनके युग में यह परम्परा रहती है कि जब भी चारित्र में कोई दोष लगा हो तो प्रतिक्रमण या क्षमापना कर लेवें।

अस्तु वर्तमान में आठ दिवसीय पर्युषण की परम्परा प्रचलित है और इसका आधार है जीवाभिगमसूत्र तथा अन्य प्राचीन ग्रन्थों के उल्लेख। जीवाभिगमसूत्र में बताया है–वर्ष में चार अष्टान्हिक पर्व आते हैं। कुछ प्राचीन ग्रन्थों में छह अष्टान्हिक पर्वों का भी उल्लेख है। चार अष्टान्हिक पर्व ये हैं–

१. आषाढ़ सुदि ७ से पूनम तक,

२. आश्विन सुदि ७ से पूनम तक,

३. चैत्र सुदि ७ से पूनम तक, तथा

४. पर्युषण पर्व (भाद्रपद मास में)।

माना जाता है कि इन दिनों में देवगण नन्दीश्वर द्वीप में जाते हैं और वहाँ अठाई महोत्सव मनाते हैं। यह अठाई महोत्सव या अष्टान्हिक पर्व आठ दिन का होता है, इसलिए पर्युषण पर्व आठ दिन का मनाने की एक प्राचीन परम्परा चल रही है। छह अष्टान्हिक पर्व मानने वाले कार्तिक सुदि ७ से १४ तक तथा फाल्गुन सुदि ७ से १४ तक भी मानते हैं।

पर्युषण के चार परम कर्त्तव्य

पर्युषण के दिनों में धार्मिक आराधना की प्रेरणा अनेक प्रकार से कर्त्तव्य बोध द्वारा दी गई है। प्राचीन ग्रन्थों में चार कर्त्तव्यों का विशेष रूप में उल्लेख मिलता है। जैसे–

पव्वेसु पोसहाइ-बंभ–अणारम्भ-त्तव विसेसाइ।

–पर्व दिनों में चार प्रकार से धर्माराधना करनी चाहिए–

१. पौषध व्रत,

२. ब्रह्मचर्य का पालन,

३. आरम्भ-समारम्भ का त्याग, तथा

४. विशेष तप।

पौषध : परम औषध

प्राचीन समय में श्रावकों के पर्व दिनों के कर्त्तव्य के विषय में उल्लेख मिलता है, वे हैं–अष्टमी, चतुर्दशी, अमावस, पूर्णिमा। इन पर्व-तिथियों में पौषध करते थे। पौषध का अर्थ है–उपवास करके धर्मध्यानपूर्वक निवृत्ति में जीवन बिताना। पौषध एक प्रकार की बड़ी सामायिक है और छोटा साधु-जीवन है। सामायिक ४८ मिनट की होती है। ४८ मिनट तक हिंसा आदि पाँच आस्रवों का त्याग करना–समभावों में मुनि की तरह जीवनचर्या रखना। सामायिक करता हुआ श्रावक श्रमणभूत कहलाता है। "**सममाणस्स सामाइयं होहि।**"–समभाव में रमण करने वाला अथवा जिसका मन सम हो, विषमता से मुक्त हो, उसे सामायिक कहते हैं। सामायिक श्रावक का ९वाँ व्रत है। पौषध १०वाँ व्रत है। इसमें कम से कम चार प्रहर अथवा आठ प्रहर तक श्रमण की सम्पूर्ण सावद्य प्रवृत्तियों का त्यागकर वे आत्म-चिन्तन और समतायोग में, स्वाध्याय-प्रतिक्रमण और आत्म-आलोचना में समय बिताना पौषध व्रत है।

प्राचीन श्रावकों के वर्णन में आता है उनके घर के निकट या नगर के एकान्त स्थान में धर्मध्यान करने के लिए पौषधशाला होती थी। पर्व-तिथियों में वहीं जाकर वे उपवासपूर्वक पौषध व्रत लेकर धर्म-जागरणा करते थे। आज शहरी सभ्यता में घर में पौषधशाला तो क्या, सामायिक करने को एकान्त स्थान भी मिलना मुश्किल है। यदि स्थान है भी तो उसे सजाकर ड्राइंग रूम या बैठक तो बनाई जा सकती है। परन्तु सामायिक या ध्यान–पूजा-पाठ के लिए घर में कोई स्थान नहीं रहता। किन्तु प्राचीन काल में घर बनाते समय इस बात का भी ध्यान रखा जाता था। दुकान जैसे कमाई की जगह है। दीवानखाना गपशप करने, बैठने या मनोरंजन का स्थान है। वैसे ही पौषधशाला अपने आप के निरीक्षण करने के लिए अपनी आत्मा का आरामघर है। परन्तु आज आत्मा के आराम, विश्राम की चिन्ता किसे है, फुर्सत किसे है?

पौषध वास्तव में आत्मा का विश्राम-केन्द्र है। इसमें न केवल आरम्भ-समारम्भ से विश्रान्ति मिलती है, किन्तु मानसिक रूप में भी बड़ी शान्ति, सकुन और समाधि का अनुभव होता है। घर, परिवार, समाज और संसार की चिन्ताओं से मुक्त होकर मन में प्रसन्नता, आत्मा में हल्कापन और राग-द्वेष की उपशान्ति का अनुभव किया जा सकता है पौषध में। भोगों की विस्मृति और भगवान की स्मृति का आलम्बन है पौषध। मन का एक ऐसा परिवर्तन है जिसमें सुख-शान्ति का अनुभव किया जा सकता है। पुराने संत कहते थे–पौषध यानी परम औषध। मन के विकार दूर करके आत्मा की शक्ति बढ़ाने वाला एक दिव्य रसायन है पौषध।

आचार्यों ने एक दृष्टान्त दिया है–एक राजा का पुत्र बीमार हुआ। राजा ने देश के नामी श्रेष्ठ वैद्यों को बुलाया और कहा–"राजकुमार की चिकित्सा करनी है। इसका नाड़ी परीक्षण करके औषध आदि बताओ।"

एक वैद्यराज ने राजकुमार की नाड़ी, शरीर के अन्य चिह्न आदि देखकर कहा–"राजन् ! राजकुमार को जो रोग है, मैं उसके लिए एक औषध तैयार करूँगा। यह औषध खाने से राजकुमार का रोग दूर हो जायेगा। औषध इतनी तेज है अगर अधिक मात्रा में सेवन कर ली तो फिर वह पहले तो रोग को खायेगी फिर शरीर को गलाने लग जायेगी, इसलिए पूरी सावधानी से देनी पड़ेगी।"

राजा ने कहा–"नहीं। इतनी तेज और खतरनाक औषध नहीं देनी।"

दूसरे वैद्य ने कहा–"मैं एक मूल्यवान औषध दूँगा, जो जितना रोग होगा वह सब मिटा देगी, उसके बाद अगर अधिक मात्रा में पहुँच गई तो

वह राख में गिरे घी की तरह व्यर्थ हो जायेगी। अधिक मात्रा में लेने पर न कोई हानि पहुँचायेगी और न ही लाभ पहुँचायेगी।''

राजा ने कहा—''नहीं। यह औषध भी कोई खास अच्छी नहीं।''

तीसरे वैद्यराज ने कहा—''महाराज ! मैं एक ऐसा परम रसायन तैयार करके दूँगा जिसका सेवन करने पर यदि रोग होगा तो रोग जड़-मूल से नष्ट हो जायेगा और उसके बाद नीरोग शरीर में भी उसका सेवन करेंगे तो वह बल-वीर्य की वृद्धि करके शरीर को कामदेव जैसा सुन्दर स्वस्थ बना देगा।''

राजा ने कहा—''वैद्यराज ! आपका परम रसायन ही सर्वश्रेष्ठ है। हमें वही दीजिए।''

आचार्यों का कहना है—पौषध और प्रतिक्रमण आत्मा के लिए एक ऐसा परम रसायन है। यह आत्मा में रहे दोषों को दूर करता है, पापों का नाश करता है और बाद में ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप सद्गुणों की शक्ति बढ़ाता है। यह कभी भी हानि तो पहुँचाता ही नहीं है।

आरम्भ-त्याग

जिस दिन पौषध नहीं करना हो, उस दिन भी कम से कम ब्रह्मचर्य व्रत का पालन अवश्य ही करना चाहिए। यों तो चातुर्मास के दो मास में ब्रह्मचर्य का विशेष विधान है, यदि दो मास ब्रह्मचर्य का पालन नहीं कर सकें तो कम से कम पर्व-तिथियों को और पर्युषण के आठ दिनों में तो ब्रह्मचर्य का पालन अवश्य ही करना चाहिए। ब्रह्मचर्य अपने आप में एक महान् तप है। ब्रह्मचर्य पवित्रता का मन्दिर है। आचार्यों ने कहा है—

जे देइ कणय कोडिं अहवा कारेइ कणय जिण भवणं।
तस्स न तत्तियपुण्णं जत्तिय बंभवए धरिए॥

—कोई मनुष्य एक करोड़ स्वर्ण-मुद्रा का दान देवे अथवा सोने का जिन-मन्दिर बना देवे, उसको भी उतना पुण्य नहीं होता जितना शुद्ध मन से ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने वाले को होता है। आप करोड़ स्वर्ण-मुद्रा नहीं दे सकते, हजार भी नहीं दे सकते तो कोई चिन्ता की बात नहीं। भूखों को अन्न नहीं दे सकते, उग्र तप नहीं कर सकते तो भी कोई चिन्ता की बात नहीं, आपके लिए भगवान ने इतना सहज और स्व-साध्य तप बता दिया है जिसके लिए एक भी पैसा खर्च करना नहीं, भूखा रहना नहीं, बस शुद्ध मन से ब्रह्मचर्य का पालन करो तो आप उन सब से बड़ा पुण्य कार्य कर सकते

हो। यह महान् तप आपके हाथ में है। मन को विषयों से विरक्त बनाने की जरूरत है। कम से कम पर्युषण के आठ दिन में तो आप इस महान् तप की आराधना कर ही सकते हैं।

तीसरा कृत्य है–**अनारम्भ**। पर्व दिनों में ऐसा कृत्य नहीं करना चाहिए जिसमें अधिक जीव-हिंसा होती हो। आरम्भ के सैकड़ों प्रकार हैं। इनकी सूची बताने की जरूरत नहीं, श्रावक को स्वयं अपना विवेक जाग्रत रखना चाहिए और जितना अधिक हो सके, हिंसा से, असत्य भाषण से, कटु वचनों से, क्रोध आदि कषायों से बचने का प्रयास करना चाहिए।

चौथा कर्त्तव्य है–विशेष तप। यदि आप सामान्य रूप में नवकारसी, पोरसी आदि तप करते हैं तो पर्युषण में एकासना, आयंबिल आदि करें। उपवास करें। उपवास करते हों तो उससे आगे बढ़ें–अट्ठम तप–तेला करें। पर्युषण के आदि तीन दिनों का तेला अथवा अन्तिम दिनों का तेला करके विशेष तपाराधना में सम्मिलित होने का प्रयास करें।

इससे भी आगे बढ़ने की शक्ति हो तो आठ दिनों की अठाई भी की जा सकती है। मुख्य बात है–शक्ति के अनुसार भक्ति करें। भक्ति में, तप में किसी की नकल या प्रतिस्पर्धा न करें। अपनी आत्मा की प्रेरणा व मन का उत्साह, शरीर की शक्ति देखकर तपश्चर्या के क्षेत्र में आगे बढ़ना चाहिए।

तो सामान्य गृहस्थ के लिए ये चार कर्त्तव्य पर्युषण के बताये गये हैं। ये चार कृत्य तो आत्म-साधना से सम्बन्ध रखने वाले हैं। इसी प्रकार कुछ कर्त्तव्य हैं, जो व्यक्ति को समाज व राष्ट्र के प्रति अपने पड़ौसी बन्धु व पशु-पक्षी जगत् के प्रति भी कर्त्तव्य की प्रेरणा देते हैं। उनके विषय में भी हमारे प्राचीन ग्रन्थों में कुछ चर्चा है, जो यहाँ संक्षेप में प्रस्तुत करेंगे–

चार व्यावहारिक कृत्य

कुछ ग्रन्थों में दूसरी प्रकार से चार विशेष कर्त्तव्यों का वर्णन मिलता है। जैसे–अमारि प्रवर्तन, साधर्मिक वात्सल्य, क्षमापना और अट्ठम तप।

अभयदान बनाम अमारि प्रवर्तन

पर्युषण के आठ दिन अहिंसा और जीव-दया के पवित्र दिन हैं। इन दिनों घर में हिंसा न हो यह तो मुख्य कर्त्तव्य है। परन्तु आपके नगर या राज्य में जहाँ तक हो सके, कसाईखाने बन्द करवाकर जीव-दया का प्रचार करना चाहिए। पर्युषण के आठ दिनों में आपके नगर का पूरा वातावरण

अहिंसामय हो जाय। माँसाहारी भी स्वतः प्रेरणा से, आपके उद्‌बोधन से माँसाहार का त्याग करें। हिंसा का धंधा करने वाले पशु-पक्षियों को अभयदान देवें, बूचड़खाने बन्द रहें, किसी भी निरपराध जीव का खून न बहे। किसी के जीवन पर मृत्यु की तलवार चले और आपका हृदय न काँपे तो क्या यह सम्यक्त्वधारी की पहचान है?

खंजर चले किसी पर, तड़पते हैं हम 'अमर'।
सारे जहां का दर्द, हमारे जिगर में है॥

अनुकम्पा का अर्थ ही है–दूसरों को काँपते देखकर आपका हृदय भी काँप उठे। आचार्यों का कहना है–"जो उ परं कंपतं दट्‌ठूण न कंपए कठिण भावो।"–दूसरों को दुःख से पीड़ित देखकर भी जिसका हृदय नहीं काँपता है, वह कठोर हृदय कहलाता है। दूसरे को दुःखी देखकर द्रवित होना अनुकम्पा है। यह उच्चकोटि की संवेदनशीलता ही मानवीय गुण है।

आज का मनुष्य दूसरों के दुःख-दर्द से बेपरवाह है। संवेदना शून्य-सा हो गया है। अभी एक नामी कवि आये थे। बातचीत में एक शेर सुनाया था उन्होंने–

था एक इन्सान का ऑपरेशन
पड़ी जरूरत उसे लहू की।
लहू कहीं भी नहीं मिला था
मगर वह यहाँ की सड़कों पर बह रहा था।

कितना निर्दयी और स्वार्थी हो गया है इन्सान

जैन इतिहासकार बताते हैं–१६वीं शताब्दी में जैनाचार्य श्री हीरविजयसूरि जी एक महान् प्रभावशाली आचार्य हुए हैं। उनकी कीर्ति गाथा सुनकर बादशाह अकबर ने उनसे फतेहपुरसीकरी पधारने की प्रार्थना की और आचार्यश्री लम्बे-लम्बे विहार करके फतेहपुरसीकरी पधारे।

उनके अहिंसामय प्रवचन सुनकर बादशाह ने प्रार्थना की–"आचार्य जी! आप मेरी विनती को मान देकर दूर देश से इतने कष्ट उठाकर यहाँ पधारे हैं, मेरे से कुछ भी लिया नहीं तो मुझ पर क्या कुछ नाराजगी है?"

आचार्यश्री मुस्कराकर बोले–"राजन्! नाराज तो वह होता है जो लेने की आशा रखता हो और मिले नहीं, अपेक्षा पूरी न हो। हमें तो किसी चीज की जरूरत नहीं है, फिर आप पर नाराजगी कैसी?"

बादशाह ने कहा–"जो भी बड़े महात्मा, औलिया, फकीर आदि आते हैं तो वे कुछ न कुछ माँगते हैं और मैं उन्हें देता हूँ। परन्तु यहाँ तो बात उलटी है। मैं देना चाहता हूँ और आप कुछ लेते ही नहीं।"

आचार्यश्री ने कहा–"राजन् ! आप देना चाहें तो पर्युषण के आठ दिनों में जीवों को अभयदान दीजिये, राज्य में हिंसा बन्द करवा दीजिये और जेलों में बन्द कैदियों को आजाद कर दीजिये हमें इसी में खुशी होगी। यही हमारी माँग है।"

अकबर बहुत प्रसन्न हुआ। प्रभावित हुआ कि आपने अपने लिए तो कुछ नहीं माँगा। उलटा मेरे लिए ही कुछ भलाई का काम माँगा है। यह तो खुदा की इबादत है।

उसने कहा–"गुरुदेव ! आठ दिन आपके और चार दिन मेरे यों बारह दिन पूरे देश में अहिंसा का, जीव-दया का पालन होगा।" उसी समय उसने छह फरमान लिखवाकर जारी किये। एक फरमान आचार्यश्री को भेंट किया और पाँच फरमान पाँच अलग-अलग राज्यों में वहाँ के शासकों को भेजे कि बारह दिन किसी प्रकार की जीव-हिंसा न हो, कसाईखाने बन्द रहें। बादशाह अकबर ने भी वर्ष में छह महीने माँसाहार छोड़ दिया। वह पाँच सौ चिड़ियों की जीभ रोजाना खाता था उसका भी त्याग कर दिया।

आचार्य श्री हेमचन्द्रसूरि के उपदेश से राजा कुमारपाल ने भी पूरे गुजरात में घोषणा करवा दी, जीव-हिंसा बंद करवा दी। यहाँ तक कि 'मार' शब्द भी नहीं बोला जाता था क्योंकि यह भी हिंसासूचक है।

यद्यपि आज इस प्रकार की घोषणा होना कठिन है। वह राजशाही एकतन्त्रीय राज्य प्रणाली का युग था। आज लोकतन्त्र या लोकशाही है। एक व्यक्ति के चाहने से समूचे राष्ट्र में इस प्रकार की अमारि घोषणा नहीं हो सकती, परन्तु देश में आज जो बड़े-बड़े यान्त्रिक कत्लखाने खुल रहे हैं, जहाँ प्रतिदिन लाखों गाय-भैंस, भेड़-बकरियाँ यहाँ तक कि ऊँट भी काटे जा रहे हैं। लाखों जीवों का खून रोज बह रहा है। उस भयावह स्थिति को रोकने के लिए हम प्रयत्न और पुरुषार्थ तो कर ही सकते हैं। पूरा अहिंसक समाज संगठित होकर, एकजुट होकर यदि इन क्रूर हिंसाओं का विरोध करे, तो लोकतन्त्र में लोकमत की उपेक्षा करके कोई भी सरकार टिक नहीं सकती। लोक-शक्ति लोकतन्त्र की रक्तवाहिनी है। जब लोक-शक्ति का विस्फोट होगा तो हिंसा की दीवारें ढह जायेंगी। देश में बहती खून की नदियाँ रुक जायेंगी और प्रतिदिन लाखों जीवों की नृशंस हत्या का महापाप

इस देश की धरती से मिट जायेगा। पर्युषण के दिनों में लोक-शक्ति को जगाने के लिए मैं आज आपको संकेत मात्र दे रहा हूँ। विशेष फिर कभी''

हाँ, यह सत्य है, बूचड़खानों की होती हिंसा आप अकेले नहीं रोक सकते, परन्तु अपने दैनिक जीवन में इन जीव-हिंसाजन्य मौज-शौक की वस्तुओं का उपयोग तथा व्यवहार बन्द करके इस व्यर्थ हिंसा के महापाप से तो बच सकते हैं। कम से कम पर्युषण के आठ दिन हिंसाजन्य वस्तुओं के व्यवहार का त्याग करके अहिंसा के प्रति अपनी निष्ठा को सुदृढ़ अवश्य बनायें।

पर्युषण का दूसरा कर्त्तव्य है साधर्मिक-वात्सल्य

जैन-परम्परा में साधर्मिक-वात्सल्य का बड़ा महत्त्व है। जिनशासन के प्रति, वीतरागदेव के प्रति जो श्रद्धा-भक्ति रखते हों, वे सभी बंधु परस्पर साधर्मी या स्व-धर्मी कहे जाते हैं। वे साधर्मिक भी कहे जाते हैं। स्व-धर्म यानी अपना धर्म। साधर्म यानी एक समान धर्म को मानने वाला। धन-सम्पत्ति, पद, कुल, वंश, परिवार में चाहे कोई छोटा हो या बड़ा, परन्तु जिनका देव-गुरु-धर्म एक है, समान है वे परस्पर साधर्मी बंधु कहलाते हैं। साधर्मी में छोटे-बड़ों का भेदभाव करना अज्ञान और अहंकार का सूचक है। आचार्यों ने कहा है–

एगत्थ सव्व धम्मा, साहम्मिय वच्छल्ले तु एगत्थ।
बुद्धि तुलाए तुलिया, दोवि अ तुल्लाइं भणिआइं॥

बुद्धि या विवेक के तराजू में एक तरफ सभी धर्म रखे जायें और एक तरफ स्व-धर्मी-वात्सल्य रखा जाय तो सब धर्मों के समान स्व-धर्मी-वात्सल्य का बराबर वजन होगा। साधर्मी-वात्सल्य को सम्यक्त्व का अंग माना है और आपको मालूम है सम्यक्त्व ही धर्म की जननी है। समकित के बिना सभी धर्माराधना बिना नींव का महल है।

स्व-धर्मी-वात्सल्य के पीछे अपने जिनधर्म का अनुराग, धर्म-प्रभावना की भावना और दूसरों के प्रति वत्सलता, करुणा, धर्म-स्नेह तथा आदर की वृत्ति व सद्भाव काम करता है। ये ही तत्त्व हैं जो मनुष्य की मनुष्यता के चिह्न हैं। मनुष्य की श्रेष्ठता व धार्मिकता की पहचान देने वाले परिचय-पत्र ये ही तत्त्व हैं। इसलिए स्व-धर्मी-वत्सलता, सामाजिक समानता, बंधुता व पारस्परिक सौहार्द का सूचक है। इस्लाम धर्म के मानने वाले बोहरा मुसलमानों का भाईचारा आज प्रसिद्ध है। इसी प्रकार पारसी जाति में भी परस्पर का

जाति-प्रेम एक आदर्श माना जाता है। किन्तु जैनों के स्व-धर्मी-वत्सलता की कहीं चर्चा ही नहीं सुनाई देती। जबकि जैनधर्म में स्व-धर्मी-वत्सलता को सब धर्मों में श्रेष्ठ और सबसे पहली नींव की ईंट के समान माना गया है। आचार्यों ने तो यहाँ तक कह दिया–जिसके मन में स्व-धर्मी के प्रति आदरभाव नहीं, घर-आँगन में पधारे स्व-धर्मी बंधु को देखकर जिसके हृदय में स्नेह, सद्भाव और आनन्द की लहर नहीं उठती हो, उसकी सम्यक्त्व में भी हमें सन्देह है–"सम्मत्ते तस्स संदेहो।" कवि कहता है–

घर आयां आदर नहीं, नेणा में नहीं नेह।
तिण घर कदै न जाइये, दूधां बरसे मेह॥

स्व-धर्मी बंधु को गरीब समझकर अनादर करना, उसका उपहास करना, उसकी दरिद्रता या अभावग्रस्तता की उपेक्षा कर सहायता से मुख मोड़ना श्रावक धर्म से च्युत होना है। एक शायर ने ठीक ही कहा है–

नहीं हो प्रेम आपस में, मुहब्बत हो न भाई की।
वह मुर्दा कौम है जिसमें, न हो बू एकताई की॥

जैन आगमों में वासुदेव श्रीकृष्ण की स्व-धर्मी-सेवा, स्व-धर्मी बंधुओं को सहयोग देने की कई घटनाएँ प्रसिद्ध हैं। इसी प्रकार राजा श्रेणिक ने भी स्व-धर्मी-सेवा के कई स्मरणीय कार्य किये जिनकी चर्चा यथा समय करूँगा। यहाँ तो मात्र एक ऐतिहासिक उदाहरण रखना चाहूँगा।

एक बार आचार्य श्री हेमचन्द्रसूरि सांभर नगर में पधारे। वहाँ पर 'धनिक' नाम का एक अत्यन्त गरीब श्रावक (जैन गृहस्थ) रहता था। उसकी पत्नी ने अपने हाथों से काता हुआ सूती वस्त्र बहुत भक्ति और प्रेमपूर्वक आचार्यश्री को बहराया। वस्त्र मोटा, खुरदरा था, परन्तु श्राविका की भक्ति की सुगन्ध से महक रहा था। आचार्यश्री जब राजधानी पाटन में प्रवेश कर रहे थे, तब वही चादर उन्होंने धारण की। राजा कुमारपाल अपने बहत्तर सामंत और १,८०० करोड़पति महाजनों के साथ आचार्यश्री का स्वागत करने के लिए बड़ी धूमधाम से आया। राजा ने आचार्यश्री को वन्दना की और उनके शरीर पर वह मोटी चादर की पछेवड़ी पड़ी देखी तो राजा का मन उदास हो गया। राजा ने एकान्त में जाकर आचार्यश्री से निवेदन किया–"गुरुदेव ! आप मेरे गुरुदेव हैं। गुर्जरेश कुमारपाल के परमाराध्य हैं। आपके शरीर पर ऐसा कपड़ा देखकर मुझे शर्म आती है। आप कोई दूसरा सुन्दर वस्त्र ग्रहण कीजिए न ?"

आचार्यश्री ने कहा–"राजन् ! क्या इस चादर को देखकर सचमुच तुझे शर्म आती है?"

कुमारपाल–"हाँ, गुरुदेव !"

आचार्यश्री बोले–"राजन् ! तू गुजरात का राजा है। तेरे राज्य में ऐसे साधर्मिक जैन-परिवार रहते हैं, जो बड़ी दरिद्रता में अभावों की जिन्दगी गुजार रहे हैं। बड़ी मुश्किल से वे अपना जीवन निर्वाह कर पाते हैं। एक वक्त भोजन करके कठोर श्रम करते हुए अपना उदर पोषण कर पाते हैं। क्या इस बात की तुझे कोई शर्म नहीं आती। जिस वस्त्र को देखकर तुझे शर्म आती है वह तो ऐसे ही एक गरीब भक्त की भक्ति और प्रेम का उपहार है। यह तो हमारे लिए गौरव और शोभा की बात है, परन्तु शर्म की बात है उनकी गरीबी, उनके अभाव में पिसती जिन्दगी और वह भी तेरे राज्य में····।"

सम्राट् कुमारपाल ने आचार्यश्री के चरणों में मस्तक झुका दिया और क्षमा माँगी–"गुरुदेव ! मेरी लापरवाही से आपके हृदय को इतना कष्ट पहुँचा है, अब मैं अपने दुःखी साधर्मिकों की सेवा के लिए प्रयत्न करूँगा। उनके उद्धार के लिए प्रतिवर्ष एक करोड़ स्वर्ण-मुद्रा खर्च करूँगा और जहाँ भी जो कोई स्व-धर्मी बंधु जरूरतमंद होगा, अभावग्रस्त होगा उसकी सहायता करूँगा।"

कहते हैं–इस प्रतिज्ञा के बाद कुमारपाल ने १४ वर्ष तक राज्य किया और १४ करोड़ स्वर्ण-मुद्राएँ स्व-धर्मी-वत्सलता के लिए खर्च कीं।

इस प्रकार राजा कुमारपाल ने समाज के उस वर्ग को उठाने व सहयोग करने का संकल्प किया, जो सबसे ज्यादा असहाय और जरूरतमंद था। शायर की भाषा में फूलों और गुलदस्तों से तो सभी प्रेम करते हैं। परन्तु बीमार कलियों से प्रेम करना ही प्रेम का उच्च आदर्श है। कहा है कवि ने–

न फूलों की तमन्ना है, न गुलदस्तों की हसरत है।
मुझे तो कुछ इन्हीं बीमार कलियों से मुहब्बत है॥

आज स्व-धर्मी-वत्सलता का मतलब सामी वाच्छल्य से समझने की भूल हो रही है। बस, एक जीमन कर दिया। स्व-धर्मी बंधुओं को भोजन करा दिया या लड्डू बाँट दिये और समझ लिया कि हम अपने कर्त्तव्य से मुक्त हुए। यह बहुत बड़ी भ्रान्ति है। स्व-धर्मी को भोजन कराना, उसका अतिथि सत्कार करना तो आपका मानवीय कर्त्तव्य है ही। परन्तु इसके साथ ही समाज के अभावग्रस्त बंधु, विधवा, असहाय महिलाएँ, रोगी व अन्य कारणों से पीड़ित, दुःखी, पिछड़े हुए स्व-धर्मी बंधु हैं। कुछ गरीब छात्र हैं,

प्रतिभाशाली विद्यार्थी हैं, उन सब की फिक्र करना, उनके भरण-पोषण व विकास के विषय में सोचना, उनको अच्छी सलाह देना, मदद करना आपका कर्त्तव्य है। वही समाज प्रगति करता है, विकास और उन्नति के शिखर छूता है जिसमें अपने स्व-धर्मी बंधुओं के प्रति अनुराग, सहयोग व विकास की भावना हो। सहयोग केवल धन से ही नहीं होता, बुद्धि से, अपने प्रभाव से, उसका मार्गदर्शन करना व उसकी समस्या का निराकरण करना भी स्व-धर्मी-वात्सल्य है। अधिक विस्तार न करके मैं आज पर्युषण के अवसर पर आपको स्व-धर्मी-सहयोग के प्रति जागरूक करना चाहूँगा। मुझे यह सुनकर और जानकर बहुत प्रसन्नता होती है कि हमारी कॉन्फ्रेंस जीवन-प्रकाश योजना के माध्यम से स्व-धर्मी-वात्सल्य की बहुविध योजनाएँ चला रही है और गरीब, पीड़ित, रुग्ण स्व-धर्मी बंधुओं की सेवा, चिकित्सा, शिक्षा तथा उनके स्वावलम्बी बनने में काफी मददगार हो रही है। समाज की अन्य संस्थाएँ भी सेवा-क्षेत्र में आज काम कर रही हैं। एक भावनात्मक वातावरण बना हुआ है यह अच्छा है। उनके माध्यम से भी आप इस कार्य को आगे बढ़ा सकते हैं और दिल खोलकर स्व-धर्मी-सेवा के रूप में मानव-सेवा का महान् पुण्य अर्जित कर सकते हैं। स्व-धर्मी गरीब बंधु को आप दया का मोहताज या कृपा का पात्र मत समझिए। वह आपके कर्त्तव्य-पालन का सहयोगी है। उसे अपना बंधु बिरादर और सहधर्मी समझकर कर्त्तव्य-पालन कीजिए।

क्षमापना और अट्ठम तप आदि भी पर्युषण में विशेष महत्त्व रखते हैं, जिनकी चर्चा भी यथा प्रसंग करूँगा।

हमारे जीवन में पर्युषण का दुहरा महत्त्व है। सामाजिक सम्बन्धों की मधुरता, पारस्परिक सहयोग की भावना व जीव-दया के साथ भी हमें जुड़ना है और इसी के साथ आध्यात्मिक विकास की भूमिका पर भी पहुँचना है। सामाजिक सम्बन्धों के व आपके साधर्मिक कर्त्तव्यों की यत्किंचित् चर्चा मैंने की है। अब मैं पर्युषण के आठ दिन की आठ अध्यात्म-साधना के संदर्भ में विस्तार से चर्चा करूँगा।

जैन साहित्य में आठ का अंक

जैन साहित्य में आठ का अंक एक विशिष्ट स्थान रखता है। इसलिए इसे शुभ अंक माना गया है। कहावत है आठ का ठाट। सिद्ध भगवान के आठ गुण बताये गये हैं, जो आठ कर्मों का क्षय करने से आत्म-स्वभाव के रूप में प्रकट होते हैं। साधु की प्रवचन माता आठ हैं। अष्ट मंगल बहुत ही

प्रसिद्ध है, जो प्रत्येक शुभ कार्य की आदि में मांड़े जाते हैं। आत्मा के रुचक प्रदेश भी आठ हैं। इस तरह आठ का अंक बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। अठाई पर्व के भी आठ दिन हैं। इन आठ दिनों में अनेक प्रकार के विशिष्ट धार्मिक आचरण किये जाते हैं। आचारांगसूत्र में भगवान महावीर ने मुनियों को धर्म की प्रेरणा देते हुए कहा है–

से उट्ठिएसु वा अणुट्ठिएसु वा सुस्सूसमाणेसु वा पवेदए।

–जो धर्म-कार्य करने में उपस्थित हैं उन्हें प्रेरणा दें तथा जो अभी तक धर्म-कार्य में तत्पर नहीं हैं उन्हें भी उत्प्रेरित करें कि इन आठ बातों का विशेष आचरण करें, आराधना करें।

तं जहा–संतिं, विरतिं, उवसमं, निव्वाणं, सोयं, अज्जवियं, मद्दवियं, लाघवियं।

१. संतिं–शान्ति का उपदेश देवें। शान्ति का एक अभिप्राय है अहिंसा। किसी जीव को कष्ट नहीं पहुँचाना। जिस आचरण से दूसरों को अशान्ति, पीड़ा उत्पन्न होती हो उससे बचें। अर्थात् आठ दिन तक अहिंसा का पालन करें।

अहिंसा का क्षेत्र बहुत व्यापक है। सिर्फ अपने द्वारा प्राणिवध नहीं करना ही अहिंसा की सीमा रेखा नहीं है, किन्तु जीवन में पद-पद पर हिंसक वस्तुओं का उपयोग, हिंसा-जनित साधनों का भोग व संग्रह करना भी हिंसा है। आजकल तो जीवन के भीतर हिंसा की इतनी गहरी घुसपैठ हो गई है कि आप भोजन करने के लिए हाथों की सफाई करते हैं, जिन साबुनों से हाथ साफ करते हैं वह साबुन भी पशुओं की चर्बी से बन रहे हैं। दाँत साफ करने के लिए जिन टूथपेस्ट व दंत मंजनों का उपयोग कर रहे हैं उनमें भी हड्डियों का चूरा मिलाया जा रहा है; जिन मुलायम टावेल से आप हाथ-मुँह पौंछते हैं, वे कपड़ों के रोएँ भी टेलो नामक पशु उत्पाद से तैयार होते हैं। इस प्रकार जीवन का हर क्षेत्र दवा, भोजन, वस्त्र, घी, तेल (इनमें भी चर्बी मिलाई जा रही है) जहाँ भी देखो हिंसाजन्य घृणित वस्तुओं से आपके जीवन की पवित्रता नष्ट की जा रही है। खाने-पीने की वस्तुओं में भी अण्डा व अन्य हिंसक रसों का मिश्रण किया जा रहा है। इसलिए आज अहिंसा के आराधक को बहुत ही जागरूक और विवेकयुक्त रहने की जरूरत है।

पर्युषण के अवसर पर हम जब अहिंसा का विचार करते हैं तो मोटी स्थूल हिंसा से बचने की बात तक तो सोचते हैं किन्तु इन सूक्ष्म हिंसाओं पर विचार नहीं कर पाते। आवश्यकता है हिंसा के इन सूक्ष्म व्यावहारिक

पहलुओं पर भी सोचें जो हमारे जीवन में चोर की तरह सेंध लगा रहे हैं और सावधानी से इन क्रूर हिंसाओं से अपने जीवन की रक्षा करें।

शान्ति का अर्थ कायिक और मानसिक दोनों प्रकार की हिंसाओं से मन को, जीवन को दूर रखना है। मन में बुरे विचारों का प्रवेश, हिंसक भावनाओं का उभार और दूसरों के अहित की योजना बनाना भी हिंसा है। इस हिंसा से बचने पर ही शान्ति का अनुभव किया जा सकता है।

२. विरति–इच्छित, मनोज्ञ विषयों का त्याग करके व्रत धारण करें। यथाशक्ति त्याग व प्रत्याख्यान, नियम ग्रहण करें।

पर्युषण में व्रत धारण का विशेष महत्त्व है। व्रत चाहे छोटा हो या बड़ा, महत्त्व है उसके साथ त्याग के प्रति संकल्प का। त्याग की भावना होना हमारे संकल्प की दृढ़ता और वस्तु के प्रति अनासक्ति का प्रतीक है। छोटे से छोटा त्याग भी हमारे अटूट संकल्प और उच्च धैर्य का सबूत है। त्याग शब्द का उच्चारण करने से त्याग नहीं हो जाता है किन्तु मन की लालसा मिटनी चाहिए। एक भाई ने त्याग किया–"चौमासे में चार महीना आलू नहीं खाऊँगा।" एक दिन खाना खाने बैठा तो और कोई सब्जी नहीं बनी थी, बाकी लोगों के लिए आलू की रसे वाली झोलदार सब्जी बनी थी। थाली में रोटी और दाल देखकर उसने मुँह बिगाड़ा–"यह क्या, कोई सब्जी नहीं है?" पत्नी ने कहा–"सब्जी तो आलू की झोलदार है, परन्तु आपको तो सोगन है न?" आलू की झोलदार सब्जी सुनकर उसके मुँह में पानी छूट आया। बोला–"दिखाना जरा।" पत्नी ने भगोना खोलकर दिखाया तो बोला–"ऐसा करो, इसका झोल-सा परोस दो, आलू का सोगन है, झोल का सोगन थोड़ा ही है।"

पत्नी चम्मच से झोल परोसने लगी तो बोला–"ऐसे नहीं, भगोने से ही आने दो।" अब भगोने को औंधा किया तो साथ में आलू भी गुड़ककर आने लगे। पत्नी ने चम्मच से रोका, तो बोला–"यह क्या, रोकती क्यों हो?"

पत्नी–"आपको आलू खाने का सोगन है न?" पति बोला–"अरी भागवान, अपने हाथ से लेकर खाने का सोगन है, यों गुड़ककर आते हों तो आने दो, अपने आप आ रहे हैं इनको मत रोको।"

तो इस प्रकार का त्याग तो त्याग के साथ मजाक है, अपने आप के साथ छलावा है। त्याग करने का मतलब है–लालसा और आसक्ति को मन से मिटा देना।

जब तक भोग-तृष्णा समाप्त नहीं होती, वस्तु के भोग व प्राप्ति की लालसा नहीं मिटती, तब तक मन में त्याग की भावना जाग्रत नहीं होती और

त्याग की भावना के बिना मन में शान्ति नहीं हो सकती। इसलिए पर्युषण में विरति की साधना पर विशेष बल दिया है।

३. उवसमं–उपशम की वृद्धि करें। क्रोध आदि कषायों को कम करते हुए क्षमा धारण करें।

शास्त्र में कहा है–श्रमण धर्म का सार है उपशमभाव। उपशम आये बिना धर्म की स्पर्शना नहीं हो सकती। जिस भूमि के भीतर में ताप या उष्णता रहती है उसमें बीज बोने पर वह भीतर के ताप से जलकर भस्म हो जाता है। इसी प्रकार मन में, भावों में अगर उष्णता, आकुलता और ज्वलनशीलता रहती है तो ज्ञान का, धर्म का, वैराग्य का बीज डालो, उपदेश सुनाओ परन्तु वह उपदेश कोई प्रभाव नहीं दिखायेगा। बीज अंकुरित नहीं हो सकेगा। गर्म तवे पर पानी की बूँदें डालने से पानी जल जाता है। इसी प्रकार क्रोध आदि से संतप्त हृदय पर धर्म का, ज्ञान का पानी छिड़कना व्यर्थ है। क्रोधी को उपदेश देना भी व्यर्थ है। पर्युषण में चारों तरफ उपदेश की झड़ी लगी है। शास्त्रों का वाचन किया जा रहा है। चौपी और सज्झाय सुनाई जा रही हैं। परन्तु श्रोता के हृदय में उपशमभाव नहीं है, शान्ति नहीं है तो कानों से वह धर्म का श्रवण करके भी उसे हृदय में नहीं उतार पायेगा। उस उपदेश की सार्थकता भी क्या है जो इस कान सुना और उस कान निकल गया। खाली चूल्हे में फूँक मारने से लाभ क्या है? अग्नि तो प्रज्वलित होगी नहीं, उल्टी राख उड़कर मुँह में जाने का खतरा और है। कहा है–

दीधी पण लागी नहीं, रीते चूल्हे फूँक।
गुरु विचारा क्या करे, चेला मांही चूक॥

चेला में यह चूक इसीलिए है कि चेले का अर्थात् श्रोता का हृदय वैराग्य और उपशमभाव से रहित है। इसलिए पर्युषण की सार्थकता सिद्ध करने के लिए उवसमं की आराधना करना आवश्यक है।

४. निव्वाणं–चौथा उपदेश है निर्वाण। निर्वाण का एक अर्थ है निर्वात यानी वायुरहित। दीपक या मोमबत्ती जहाँ जलाई जाती है वहाँ हवा का झौंका तेज नहीं होना चाहिए। यदि हवा में दीपक या मोमबत्ती जलेगी तो वह थोड़ी ही देर में बुझ जायेगी, क्योंकि हवा में दीपक की लौ इधर-उधर झौंके खाने लगती है। हवा में चंचलता है। चंचल लौ ज्यादा देर जल नहीं सकती। इसी प्रकार मन में यदि आसक्ति की हवाएँ तेज चल रही हैं। लालसा-कामना का अंधड़ उठ रहा है तो वैराग्य की लौ अधिक देर तक

जलती नहीं रह सकती। मन में जब चंचलता होगी, उथल-पुथल मची होगी तो ज्ञान का दीपक क्या प्रकाश देगा, उसे तो बुझने का ही डर है। इसलिए ज्ञान का दीपक जलाने के लिए मन को चंचलतारहित बनाओ। निर्विकल्प स्थिति में लाओ और स्थिर करो, विचारों को एकाग्र करो तभी ज्ञान का दीपक जल सकेगा।

निर्वाण या निवृत्ति का यही अभिप्राय है कि मन में सांसारिकता का आकर्षण कम करो, जो कुछ सुख-साधन या भोग-सामग्री आपको उपलब्ध हुई है उसमें आसक्ति का बंधन मत डालो। इन वस्तुओं के पाने से सुख नहीं मिल सकेगा, बल्कि त्याग से ही सुख मिल सकेगा। भोग भी करो तो अनाभोग की मनोदशा में।

वैराग्य के प्राचीन ग्रन्थों में एक उदाहरण दिया गया है—वृक्ष की एक डाल पर एक पक्षी बैठा है तो दूसरी डाल पर एक बन्दर बैठा है। पक्षी भी फल खाने में मस्त है और बन्दर भी फल खा रहा है तभी तेज आँधी आती है। वृक्ष की डाल टूट जाती है, पक्षी फुर्र से उड़ जाता है, उसे कुछ भी चोट नहीं आती। किन्तु डाल टूटते ही बन्दर धरती पर गिर जाता है, हाथ-पैर जख्मी हो जाते हैं।

संसार में रहने वाले कुछ प्राणी पक्षी की तरह भोग तो करते हैं, परन्तु अनासक्त भाव से, जब भी भोग छूटने का या आयु समाप्त होने का प्रसंग आता है, स्वयं ही भोगों को छोड़कर प्रसन्नतापूर्वक उड़ जाते हैं। **''दुमं जहा खीणफलं व पक्खी।''**—पक्षी जैसे फलहीन वृक्ष को छोड़कर उड़ जाता है वैसे ही भोगों को छोड़कर उड़ जाते हैं और अधिकतर लोग बन्दर के साथी हैं, जो जीवन की डाल टूटने तक भोगों को छोड़ नहीं पाते। मजबूरी में भोग छूटते हैं तो अन्त में हाय-हाय करते जाते हैं। पक्षी भोग में भी अनाभोग की मनोदशा का प्रतीक है, तो बन्दर भोग में भोगासक्त की मनोवृत्ति है। मिश्री पर बैठी मक्खी मिठास लेकर जब चाहे तब उड़ जाती है यही स्थिति अपनी रखो तो इस प्रकार त्याग की भावनापूर्वक वस्तुओं के भोग से मन को मोड़ना—इसी का नाम है निवृत्ति।

५. सोयं (शौच)—पाँचवाँ उपदेश सूत्र है—शौच। शौच अर्थात् पवित्रता, शुद्धता। मनुष्य का तन अपवित्र क्यों होता है? उस पर बाहर की विकृति या अशुद्ध चीज लग जाने से। इसी प्रकार मन अपवित्र कब होता है? जब उस पर विचारों की अशुद्धि छा जाती है। विकारों का मैलापन, लालसा-तृष्णा की

विकृतियाँ आ जाने से मन अपवित्र हो जाता है। लोभ को सब पापों का बाप बताया है। इसका कारण क्या है? मन में लोभ छा जाने से मनुष्य का विवेक/ज्ञान नष्ट हो जाता है। वहाँ अन्धकार छा जाता है। जहाँ अन्धकार है वहाँ गन्दगी भी रहती है। अशुद्धि भी रहती है। लोभी मन में हर प्रकार के पापों की उठा-पटक चलती रहती है। लोभी नीच से नीच काम करने के लिए भी तैयार हो जाता है। **"लोभाविलो आययइ अदत्तं।"**—लोभाकुल मन झूठ, चोरी आदि सब पाप करने पर उतारू हो जाता है। लोभी कहता है मालिक से—"हम आपके गुलाम नहीं, पैसे के गुलाम हैं। पैसा जो कहेगा, वही हम करेंगे।" जिधर थैली मिलेगी उधर ही वोट दे देंगे। पैसे के लिए ही। कलुषता, छल-छद्म, दाँव-पेंच की नीति चलती है। पर्युषण के अवसर पर मन को पवित्र बनाने की साधना करना है। मन की पवित्रता से ही शान्ति और स्थिरता आयेगी। आनन्द और सुख की अनुभूति होगी।

६. अज्जवियं (आर्जव—ऋजुता)—ऋजुता या सीधा सरल जीवन ही धर्म का आधार है। कहा जाता है—**"संधयेत् सरला सूची वक्रा छेदाय कर्तरी।"** —सरल सुई वस्त्रों को साँध देती है और टेढ़ी वक्र कैंची कपड़ों को छेदती है, काटती है। महल के निर्माण में सीधे स्तम्भ काम आते हैं। सीधे सरल स्तम्भों पर बड़े-बड़े भवन, विशाल पुल टिकते हैं। यदि स्तम्भ में बीच में कहीं पर टेढ़ापन आ गया तो वह विशाल भवन क्या, एक छोटी-सी छत को भी स्थिर नहीं रख सकती।

भगवान महावीर से पूछा गया—"धर्म का आधार क्या है? धर्म कहाँ ठहरता है?"

भगवान ने उत्तर दिया—

"धम्मो सुद्धस्स चिट्ठइ।"

—धर्म शुद्ध हृदय में ठहरता है।

फिर प्रश्न खड़ा हुआ—"हृदय शुद्ध कैसे होगा?"

तो उत्तर दिया—"सोही उज्जूभूयस्स।"—जिसका हृदय सरल होगा कपटरहित होगा; उसका जीवन निष्पाप होगा, पवित्र होगा और उस सरल हृदय में ही धर्म जैसा पवित्र तत्त्व ठहरेगा।

पर्युषण पर्व के पावन दिनों में मन की सरलता का अभ्यास कीजिये। मन को सरल, निष्कपट बालक जैसा सहज बनाइये। आजकल बालकों का

मन भी सरल कहाँ है? कहावत भर रह गई है–बच्चा सरल होता है, परन्तु आजकल बच्चे तो दादा के कान कुतरने लग जाते हैं। कपट-छल माता की जन्मघुटी में मिलते हैं। सीधा आदमी बुद्धू कहलाता है, चालाक-धूर्त्त–चतुर और होशियार कहलाता है। किन्तु देशकाल की परिस्थिति से जीवन-शैली बदल सकती है। आत्मिक स्वभाव नहीं बदल सकता। मन को तो शान्ति तभी मिलेगी जब वह सरल/कपटरहित होगा और तभी उस हृदय में धर्म का प्रवेश हो सकेगा।

७. **मद्दवियं (मृदुता)**–पर्युषण पर्व आराधना का सातवाँ सूत्र बताया गया है–मृदुता। मृद या मृदा कहते हैं मिट्टी को। मिट्टी स्वभाव से कोमल होती है। यह कोमल होती है इसीलिए उपजाऊ है, ऊर्वरा है।

कल्पना कीजिये दुर्भाग्यवश आपको ऐसे देश में रहना पड़ता जहाँ मिट्टी नहीं होती, जहाँ की भूमि कँकरीली, पथरीली, सख्त होती। ऐसी बंजर भूमि में न एक घास का तिनका पैदा होता और न ही कोई वृक्ष व हरियाली। आज अरब देशों के पास तेल का अरबों-खरबों डालर अपार ऐश्वर्य पड़ा है, परन्तु वहाँ की भूमि कितनी कठोर और पथरीली है कि खाने के लिए अन्न और पीने के लिए पानी उन्हें दूसरे देशों से मँगाना पड़ता है। अपार धन-दौलत होते हुए भी यदि उन्हें किसी मित्र देश से अन्न नहीं मिले तो दाने-दाने के लाले पड़ जायेंगे। अरबों की सम्पत्ति क्या भूख मिटा सकेगी? तो कठोर भूमि में कभी अन्न क्या, घास भी उत्पन्न नहीं हो सकती।

मिट्टी का स्वाभाविक गुण है कोमलता, जिसे संस्कृत में 'मृदुता' कहा जाता है। जिन प्रदेशों की भूमि, मिट्टी मुलायम होती है वहाँ की धरती सोना उगलती है और जहाँ की धरती कठोर होती है वहाँ की भूमि बंजर कहलाती है। मृदुता शब्द से यही भाव हमारे जीवन में आना चाहिए। हमारे मन की भूमि, जीवन की धरती मिट्टी की तरह कोमल, मृदु तथा नरम होनी चाहिए, ताकि इस कोमल, मृदु हृदय में सुना हुआ धर्म उपदेश, शिक्षा और संस्कार का बीज अंकुरित हो सके।

पहाड़ों पर वर्षा होती है, परन्तु सारा पानी बहकर धरती पर आ जाता है। चूँकि उनका हृदय इतना कठोर है कि पानी को जज्ब ही नहीं कर पाता। पत्थर के समान जिसका हृदय अहंकार, द्वेष, लोभ, स्वार्थ आदि के कारण कठोर हो गया हो, भीतर के स्रोत सब सूख गये हों तो उसे चाहे जितना उपदेश दो, चाहे जितनी शिक्षा दो सब व्यर्थ है।

इसके विपरीत जिसका हृदय कोमल है, मृदु है, वह एक ही बार यदि उपदेश सुनता है तो सीधा हृदय पर असर होता है। जम्बूकुमार पहली बार आर्य सुधर्मा की सभा में आता है, उनका प्रथम प्रवचन सुनता है और सुनते ही वैराग्य का अंकुर फूट पड़ता है। भरी जवानी में सब सुख-सुविधाओं के बीच में वह अपने आप को जल में कमल की तरह निर्लेप रखता है और आजीवन ब्रह्मचारी रहने का कठोर संकल्प धारण कर लेता है। वह मन की भूमि का प्रभाव है। मन की मृदुता का असर है। भव्य या भवि जीव की यही पहचान है कि उसका हृदय मृदु होता है, धर्म का बीज बोया तो शीघ्र ही अंकुरित हो जाता है।

पर्युषण के अवसर पर अपने मन का निरीक्षण कीजिए। आपका मन भी मिट्टी जैसा है या पत्थर जैसा? अगर आपको लगता है आपका हृदय कठोर है, सख्त है तो फिर भावनाओं से, ध्यान से, चिन्तन-मनन से, सद्ग्रन्थों के स्वाध्याय से इसे कोमल व मृदु बनाने का प्रयास कीजिए। पर्युषण पर आत्म-निरीक्षण में मन की मृदुता को बढ़ाइये और उसे धर्म की खेती के लिए तैयार कीजिए। मृदुता गुण हमें यही संकेत देता है कि मन को मृदु बनाकर चतुर किसान की तरह हम जीवन खेत को सद्गुणों की फसल उपजाने के लिए तैयार कर लेवें।

८. लाघवियं (लघुता)–परिग्रह मन का बोझ है। परिग्रह के कारण जीवन भारी हो जाता है। जिस जीवन में ममता व परिग्रह जितना कम रहेगा, वह जीवन भी उतना ही हल्का रहेगा। इस कारण लघुता को श्रेष्ठ धर्म बताया है। रुई हल्की होती है। धुआँ हल्का होता है तो ऊपर उठता है। पत्थर भारी होता है वह नीचे गिरता है, इस कारण परिग्रह का बोझ कम करके आत्मा को सदा हल्का रखें।

एक आदमी पहाड़ की चढ़ाई पर सीधा चढ़ रहा था। पीठ पर भारी थैला बँधा था। थोड़ी दूर चढ़ा कि हाँफने लगा। विश्राम किया फिर चढ़ाई चालू की तो पीठ पर लदे भार के कारण दम फूलने लगा। दूसरा एक आदमी उसके सामने सरपट चढ़ता चला गया। वह देखता रहा, तभी एक अनुभवी आदमी उधर से आया, उसने पूछा–"ऊपर क्या देख रहे हो भाई?" तो वह बोला–"मैं दो-चार कदम की चढ़ाई भरता हूँ और हाँफने लग जाता हूँ। यह आदमी बड़ी तेजी से सीधी चढ़ाई चढ़ रहा है, बन्दर जैसे दौड़ता जा रहा है, क्या कारण है इसका?"

उसने उसकी पीठ की तरफ इशारा करके कहा—"यह देख, तेरी पीठ पर कितना भार है? इस भार को उतार दे, फिर देख तू भी इसी तरह सरपट चढ़ता जायेगा।"

जीवन की चढ़ाई में भी जिस पर कर्ज का, जिम्मेदारियों व उत्तरदायित्वों का बोझ ज्यादा होगा तो उसे यात्रा में कष्ट अधिक उठाना पड़ेगा। परेशानियाँ ज्यादा होंगी। इसी प्रकार जब आप मन पर ममता का, परिग्रह का, चिन्ताओं का और व्यर्थ की जिम्मेदारियों का भार ढोते रहेंगे तो इस पहाड़ की चढ़ाई में सफल नहीं हो सकेंगे। मन जितना हल्का रहेगा, भारमुक्त रहेगा यात्रा उतनी ही सुखपूर्वक हो सकेगी। आजकल रेलवे स्टेशनों पर एक वाक्य लिखा हुआ आप पढ़ते होंगे—

कम सामान !
सफर आसान !

—सफर में, यात्रा में जितना सामान कम रहेगा उतना ही आराम रहेगा। एक उर्दू शायर कहता है—

ख्वाहिशें कम करो, जिन्दगी यह बताती है।
बोझ अगर ज्यादा हो, तो नाव डूब जाती है॥

—जिन्दगी की नाव में ज्यादा ख्वाहिशों, कामनाओं का बोझ मत भरो।

लोग कहते हैं—हम घर-बार, परिवार में रहते हैं, तो सबकी फिकर तो रखनी पड़ती है। मन पर भार तो रहता ही है, फिर हल्कापन कैसे महसूस करें? क्या जिम्मेदारियों का जुआ उतारकर फेंक दें?

बात असल में जिम्मेदारी की नहीं है, बात है उसके भार से दबने की। पानी में तैरने वाला जब पानी की सतह से नीचे जाता है, तैरता है तो उसके बदन पर कितना पानी रहता है। अथाह, अपार पानी के नीचे रहता है तैराक; फिर भी मछली की तरह हल्का-फुल्का तैरता जाता है, यदि उस पानी का भार किया जाये तो लाखों मन पानी होगा। किन्तु पानी के भीतर तैरने वाले को उस पानी का भार नहीं लगता। वह उस लाखों मन पानी का वजन अपनी छाती पर ढोता हुआ भी डूबता नहीं है हल्का-फुल्का रहता है। क्या कारण है इसका? यह कोई जादू या चमत्कार नहीं, किन्तु मानवीय भावों का ही रहस्य है। पानी का विस्तार चारों तरफ से हो जाने से उसका भार किसी एक पर नहीं पड़ता। दूसरी बात वह पानी को अपने ऊपर नहीं रोकता किन्तु पानी को चीरता हुआ आगे बढ़ता है। इसी प्रकार हम संसार में रहते हुए भी सांसारिक

वस्तुओं के प्रति अपनापन नहीं जोड़ें, उनसे ममता का बंधन नहीं बाँधें, तो संसार का ऐश्वर्य, धन हमें अपने बन्धनों में नहीं बाँधेगा और न ही हम उस धन के नीचे डूबेंगे, क्योंकि उस धन से हमारी आसक्ति नहीं है। जिस धन के साथ मेरापन नहीं जुड़ा, आसक्ति नहीं जुड़ी वह आपके लिए भार नहीं बन सकता। जैसे समुद्र का पानी तैरने वाले के लिए भार नहीं बनता, वैसे ही संसार का धन वैभव अनासक्त मन को नहीं डुबो सकता। भरत चक्रवर्ती षट्खण्ड के शासक होकर भी योगी का जीवन जीते थे। यह अनासक्ति ही हल्कापन का मंत्र है। इसी का नाम है लाघवियं–लघुता। कवि कहता है–

बाजार से निकला हूँ मगर खरीददार नहीं हूँ।
दुनियाँ में रहता हूँ मगर दुनियाँदार नहीं हूँ॥

दुनियाँ में रहकर भी दुनियाँ से अलग रहने का अर्थ है मन को हल्का रखना।

पर्युषण पर्व की आराधना में लघुता का अभ्यास भावनाओं के सहारे किया जा सकता है। मन को धन-परिवार, भोग-सामग्री सबसे अलग रखो। चिन्तन करो–"न सा महं नो वि अहं पि तीसे।"–यह धन-परिवार मेरा नहीं है, मैं भी इसका नहीं हूँ। मेरी आत्मा चिदानन्दमय चिन्मय है और भौतिक वस्तुएँ जड़ हैं। इस प्रकार का भेद-विज्ञान समझकर मन को हल्का–भारमुक्त बनाइये।

पर्युषण के आठ दिनों के लिए ये आठ आदर्श जीवन सूत्र हैं। एक-एक दिन यदि हम एक-एक उपदेश पर विचार करें और उसे जीवन में उतारने का संकल्प लेवें तो आठ दिन की यह आध्यात्मिक साधना कितनी उच्चकोटि की बन सकेगी।

पर्युषण में आगम वाचन

आज का प्रसंग काफी लम्बा हो रहा है, फिर भी संक्षेप में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न का उत्तर भी देना चाहूँगा। एक भाई ने पूछा है–"पर्युषण के आठ दिनों में अन्तगड़सूत्र और कल्पसूत्र ही सब जगह पढ़ा जाता है, इसका क्या कारण है?"

पहली बात तो यह है कि कल्पसूत्र कोई स्वतंत्र आगम नहीं है, किन्तु यह दशाश्रुतस्कन्ध का ८वाँ अध्ययन है। इसके तीन विभाग हैं। पहले विभाग में चौबीस तीर्थंकरों का पावन जीवन-चरित्र है, दूसरे में साधुओं की समाचारी–आचार-विधि, कल्प-अकल्प का वर्णन है और तीसरे विभाग में

स्थविरावली है अर्थात् भगवान महावीर के उत्तरवर्ती जैनशासन के प्रमुख आचार्यों का संक्षिप्त वर्णन है। शायद कभी विस्तृत वर्णन भी रहा हो, परन्तु आज बहुत संक्षिप्त सूचना भर मिलती है।

कहा जाता है-प्राचीन समय में रात्रि के प्रथम प्रहर में साधु वर्ग सामूहिक रूप में कल्पसूत्र के समाचारी खण्ड का वाचन करते थे। इससे अपने नियम व कल्पों, मर्यादा, गमनागमन, केशलोच, क्षमापना आदि सभी विषयों पर विशद ज्ञान हो जाता और उसके अनुसार यदि कल्प में कहीं कोई दोष लगा हो तो जागरूकता आ जाती थी।

फिर भगवान महावीर निर्वाण के लगभग एक हजार वर्ष बाद आनन्दपुर नगर में ध्रुवसेन नाम का राजा हुआ। वह जिनधर्मानुयायी श्रावक था, पर्युषण के दिनों में ही उसका इकलौता पुत्र मर गया। स्वाभाविक ही था राजा शोक में डूब गया। पूरे राज्य में उदासी और शोक का वातावरण छा गया। इधर पर्युषण चल रहा था। लोगों में धार्मिक उत्साह था। उधर राज्य में शोक का वातावरण। उस समय एक विद्वान् ने आचार्य को राजा के समक्ष कल्पसूत्र का वाचन कर शोक निवृत्ति की प्रेरणा दी। अपने आराध्य पुरुषों का रोचक जीवन-चरित्र सुनने से सभी में धर्मोत्साह जगा। वातावरण बदल गया। शोक की जगह धार्मिक उत्साह और श्रद्धा का वातावरण बन गया। राजा को भी यह उपक्रम अच्छा लगा और श्रावक वर्ग को भी। इस कारण पर्युषण में प्रतिवर्ष कल्पसूत्र का सामूहिक वाचन करने की एक परम्परा चल पड़ी।

इस परम्परा को पुष्ट करने वाले भी कुछ कारण थे। उस समय में वैदिक-परम्परा में चातुर्मास काल में भागवत, महाभारत, रामायण आदि के सप्ताहभर सामूहिक कथा वाचन की परम्परा चल रही थी। वे प्राचीन कथाएँ बड़ी रसीली भाषा-शैली में होने के कारण लोगों का आकर्षण उधर हो रहा था। बौद्ध-परम्परा में भी तथागत बुद्ध व बोधिसत्वों के जीवन-चरित की रोचक कथाएँ सुनाई जाती थीं। जैन-परम्परा में ऐसी कोई प्रथा नहीं थी। कल्पसूत्र का वाचन जब हुआ तो लोगों को लगा-यह सूत्र भागवत आदि का स्थान ले सकता है। यह उतना ही रुचिकर, ज्ञानवर्द्धक और रसप्रद है। फिर समाज को अपने इतिहास का गौरव भी होता है। इतिहास ही समाज में प्राण फूँकता है। कहावत है जिस राष्ट्र का इतिहास नहीं, वह राष्ट्र ही समाप्त हो जाता है। मनुष्य का यह सरल मनोविज्ञान है कि वह अपने श्रद्धेय पूर्व पुरुषों का गौरव गान सुनकर उत्साहित होता है,

प्रेरणा लेता है और गौरव का अनुभव करता है। तो इसी कारण धीरे-धीरे पर्युषण में कल्पसूत्र वाचन की एक परम्परा चल पड़ी और यह एक अच्छी स्वस्थ परम्परा थी। इसलिए सम्पूर्ण जैन समाज में मन्दिरमार्गी, स्थानकवासी व तेरापंथ तीनों ही परम्पराओं में इसे महत्त्व मिला।

अन्तगड़सूत्र की वाचन परम्परा का कोई इतिहास साक्ष्य तो नहीं है। कब, किन परिस्थितियों में, किन आचार्यों ने इसका आरम्भ किया, परन्तु जिन आचार्यों ने भी अन्तगड़सूत्र वाचन की परम्परा प्रारंभ की वे वास्तव में ही बहुत दूरदर्शी और तेजस्वी अवश्य होंगे। उनकी सूक्ष्म प्रज्ञा ने देखा। समाज में चारों ओर चमत्कार और आडम्बरों की पूजा हो रही है। त्याग-तप की पृष्ठभूमि पर चलने वाला जैन समाज भी आडम्बरप्रिय हो रहा है। अध्यात्म से दूर और आडम्बरों के चक्रव्यूह में फँसता जा रहा है। तब ऐसे समय में समाज को तप, त्याग, तितिक्षा आदि की प्रेरणा देकर नव-जीवन फूँकने वाला यह आगम उनके ध्यान में आया।

अन्तगड़सूत्र में भगवान नेमिनाथ और भगवान महावीर युग के ९० आत्म-साधकों का बड़ा ही रोमांचक, रोचक और त्याग-तपोमय जीवन है। गजसुकुमार जैसे बाल-मुनि की घोर तितिक्षा व अद्भुत सहिष्णुता का रोमांचित करने वाला वर्णन है तो महाराज श्रीकृष्ण की रानियाँ व पद्मावती आदि तथा राजा श्रेणिक की रानियाँ काली आदि की कठोर तपश्चर्या का वर्णन सुनकर श्रोता के मन में सहज ही तप की प्रेरणा जगने लगती है। यह ११ अंगों में आठवाँ अंगसूत्र है। इसके आठ वर्ग हैं और पर्युषण के आठ दिनों में इसका वाचन किया जाता है। इतिहास-लेखकों का अनुमान है कि अन्तगड़सूत्र वाचन की परम्परा लोंकाशाह की धर्म-क्रांति का परिणाम भी हो सकता है। क्योंकि उस समय धर्म के नाम पर आडम्बरों का बोलबाला था और तप-त्याग की महिमा क्षीण होती जा रही थी। उस त्याग-तपोमय जीवन की गरिमा-महिमा का शंखनाद फूँकने के लिए इस आगम का वाचन प्रारंभ किया गया हो, यह सामयिकता लगती है। अस्तु पर्युषण में आगम वाचन की परम्परा का यह एक संक्षिप्त प्रसंग मैंने आपको सुनाया है। बाकी दोनों सूत्र तो आप जब सुनेंगे तो इतने विस्तृत विषयों की गहराई में उतरकर स्वयं चिन्तन-मनन करें।

● ●

आत्मा की दीवाली है : संवत्सरी महापर्व

कुछ वर्ष पहले जर्मनी में रहने वाले जैन भाइयों ने संवत्सरी पर्व के अवसर पर एक सामूहिक क्षमापना समारोह किया। उसमें वहाँ रहने वाले जैनों के अलावा अपने जर्मन-मित्रों को भी उन्होंने आमंत्रित किया। जब जर्मन लोगों को बताया गया कि आज के दिन हम सब अपने वर्षभर के जीवन का, आचार-व्यवहार का निरीक्षण कर जिस किसी के साथ भी कुछ अनबन या कटुता पैदा हुई है मनमुटाव या वैर-विरोध हुआ है तो उससे तो क्षमा माँगते ही हैं किन्तु यों प्रत्येक भाई के साथ विनम्रतापूर्वक गले लगकर परस्पर क्षमापना करते हैं। तो जर्मन लोग इस पर इतने प्रसन्न और चकित हुए कि वाह ! अद्‌भुत कहने लगे। वे बोले–वास्तव में ही यह एक उत्कृष्ट मानवीय आदर्श है। ऐसा अद्‌भुत त्यौहार उन्होंने जीवन में पहली बार देखा, सुना और महसूस किया कि त्यौहारों व पर्वों के माध्यम से किस प्रकार हमारा जीवन-परिवर्तन हो सकता है। यदि संसार में सभी व्यक्ति इस प्रकार अपनी भूलों का निरीक्षण कर उन पर सरल हृदय से पश्चात्ताप करने लगें, स्वीकार करने लगें और फिर एक-दूसरे के साथ इस प्रकार क्षमायाचना करके मैत्री और बंधुता की भावना को सुदृढ़ करने लग जायें तो संसार से संघर्ष, कलह और आपसी वैमनस्य समाप्त हो जाय। प्रेम, मैत्री, बंधुता, तथा सौहार्द का आनन्दमय वातावरण निर्मित होकर धरती पर ही स्वर्ग-सा सौन्दर्य खिल उठे।

अपने को पहचानो

संवत्सरी पर्व जैसा अद्‌भुत पर्व संसार में कहीं नहीं मिलेगा। जब मनुष्य सहज भाव से अपनी भूलों पर पश्चात्ताप करता हुआ दूसरों से क्षमा माँगता है, प्रेमपूर्वक हाथ जोड़ता है और मन में भरा अपराध-वैरभाव मिटाकर प्रसन्नता से मुस्कराने लगता है। उसकी इस मुस्कान में सचमुच में एक स्वर्गीय सौन्दर्य होता है। यह प्रसन्नता जीवन के कण-कण को प्रभावित कर जाती है।

हिन्दू समाज में होली-मिलन, मुसलमानों में ईद-मिलन और ईसाइयों में एप्रिल डे, इसी प्रकार सामाजिक उत्सव हैं जिनमें बंधु भाव, स्नेह-संवर्धन

और पारस्परिक निकटता बढ़ती है। दूर-दूर रहने वाले लोग परस्पर मिलकर एक-दूसरे से परिचित होते हैं। आज की दुनियाँ क्षेत्रफल के हिसाब से बहुत विस्तृत है। कितने ही राष्ट्र हैं, कितने ही समुद्र हैं, नदियाँ हैं, कितने ही विशाल वन हैं, पर्वत हैं। हजारों मील की दूरी है परन्तु यातायात के तीव्रगामी साधन एक घंटा में हजार मील उड़ानें भरने वाले वायुयान और १५०-२०० मील की रफ्तार से दौड़ने वाली रेलगाड़ियों के कारण इतनी विस्तृत दुनियाँ भी छोटी-सी हो गई है। टेलीविजन और टेलीफोन के कारण, अब तो मोबाइल फोन भी हर किसी की पॉकेट में दिखाई देते हैं, जिनके द्वारा जब चाहें जहाँ से जिससे सम्पर्क कर सकते हैं, बातचीत कर सकते हैं। घर में या कार में बैठे-बैठे सब दुनियाँ से तार जोड़ सकते हैं। निकटता के इतने साधन होने पर भी आज पड़ौसी-पड़ौसी से अपरिचित और बहुत दूर है। भाई-भाई के बीच स्थान की दूरी १०० फुट है तो मन की दूरी हजारों मील से भी ज्यादा हो गई है। रिश्तेदारों में, पिता-पुत्र में मन की खाइयाँ खड़ी हुई हैं, दीवारें बनी हुई हैं। एक ही बिल्डिंग में रहने वाला बाजू के फ्लेट में रहने वाले से अपरिचित है, इसमें कोई आश्चर्य नहीं आज की जीवन-शैली तो इससे भी बहुत आगे बढ़ गई है।

एक व्यंग्य है—रविवार के दिन एक घर में नाश्ते की टेबल पर परिवार के सभी सदस्य सम्मिलित हुए तो बच्चों ने माँ से पूछा—"मम्मी, ये दाढ़ी वाला जेन्टलमैन कौन है?" माँ ने कहा—"बेटे, ये तुम्हारे डैडी हैं।" यानी बच्चे अपने घर में रहने वाले पिता को भी नहीं पहचानते, क्योंकि सुबह जब बच्चे स्कूल जाते हैं तब तक पिताश्री नींद में खर्राटे भरते रहते हैं। रात को क्लबों से १२-१ बजे लौटते हैं तब तक बच्चे सो जाते हैं। माता-पिता की बच्चों से सिर्फ रविवार को ही भेंट होती है और वह भी कभी-कभार वरना एक रविवार और प्रोग्राम हजार। ऐसे पारिवारिक वातावरण में बच्चों में माता-पिता के संस्कार, कुल के आचार-विचार कहाँ से आयेंगे। शायर अकबर ने कहा है—

तिफ्ल में बू आये कहाँ से, माँ-बाप के एतबार की।
दूध तो डिब्बे का है और, तालीम है सरकार की॥

तो निकटता के इतने साधन होने पर भी मनुष्य मनुष्य से इतना दूर और अपरिचित होता जा रहा है कि एक ही परिवार के सदस्य एक-दूसरे से अजनबी/अपरिचित से रहते हैं। एक व्यंग्यकार ने कहा है—

पहले हम दीवारों में रहते थे।
अब हमारे बीच दीवारें रहती हैं॥

अब मकान में दीवारें कम रहती हैं, परन्तु मन में कितनी दीवारें खड़ी हैं?

तो ऐसे युग में कुछ दिन, कोई पर्व, उत्सव ऐसा होता है जब सभी परस्पर एक-दूसरे से परिचित होते हैं, मिलते हैं, मैत्री और भाईचारा बढ़ाते हैं। कितना मनोहर और भावभरा होता है वह दृश्य।

अपने से मिलने का पर्व है संवत्सरी

होली, ईद आदि मिलन उत्सव सामाजिक उत्सव हैं। मनुष्य मनुष्य से मिलता है परन्तु केवल बाहरी रूप से। और वह भी एक-दूसरे की पहचान कराने के त्यौहार हैं किन्तु संवत्सरी तो एक ऐसा पर्व है जो सबसे पहले अपने आप से मुलाकात कराता है, मनुष्य को अपनी आत्मा की पहचान कराता है। यह पर्व मनुष्य की बाहरी आँख नहीं खोलता, वह तो खुली है किन्तु भीतर की आँख खोलता है और कहता है–तू अपने भीतर में देख, अपने आप को देख कि तू क्या है? जो दर्पण तुमने दुनियाँ के सामने कर रखा है वह अपने सामने करके अपनी आत्मा का चेहरा देखो कि तुम क्या हो? कैसे हो? तुम्हारे भीतर कितनी बुराइयाँ हैं, कितनी अच्छाइयाँ हैं? इस चेहरे पर कितने दाग हैं? एक शायर कहता है–

अपने मन में डूबकर, पा जा सुरोगे-जिन्दगी।
तू अगर मेरा नहीं बनता, न बन, अपना तो बन॥

–अपना बनकर अपना देखो तभी मन के और जिन्दगी के रहस्य खुलेंगे और भीतर की झलक मिलेगी।

मुझे तो आश्चर्य होता है जिस समाज व धर्म-परम्परा में ऐसा महान् पर्व आता है। जब मनुष्य अपने आप का निरीक्षण करता है, अपना परिष्कार करता है, मन के मैल मिटाता है, प्रेम बढ़ाता है। उस धर्म-परम्परा में द्वेष, कटुता, कलह, संघर्ष, विवाद, झगड़े खड़े ही नहीं होने चाहिए। परन्तु यह सब हो रहा है, इसका अर्थ है इस महापर्व के साथ भी आप ईमानदारी नहीं बरतते, सिर्फ औपचारिकता से मनाते हैं यह पर्व। इस दिन भी हमारे मन की गाँठें नहीं खुलतीं फिर भी हम निर्ग्रन्थ धर्म के ठेकेदार बन जाते हैं, कितनी आश्चर्य की बात है। याद रखिए, ग्रन्थि (गाँठ) वाला कभी निर्ग्रन्थ नहीं बन सकता। अस्तु आज वह पर्व आया है इसलिए मैं इस पर्व से सम्बन्धित विषय पर ही आपका ध्यान केन्द्रित करना चाहता हूँ।

संवत्सरी : वर्षभर का लेखा-जोखा

संवत्सरी पर्युषण पर्व का आठवाँ पूर्णाहुति दिवस है। सात दिन का सामूहिक कार्यक्रम हो जाने के बाद आज का दिन इस पर्वाधिराज का उपसंहार ही निचोड़ है।

हम इस दिन को संवत्सरी क्यों कहते हैं? संवत्सरी का अर्थ है–वर्ष का सबसे महत्त्वपूर्ण विशिष्ट दिन। संवत्सर नाम है वर्ष का। विक्रम संवत् के अनुसार चैत्र शुक्ल एकम नया संवत्सर का दिन है। ईस्वी सन् की कालगणना के अनुसार १ जनवरी संवत्सर का आदि दिन है और हमारे गुजराती समाज में दीपावली से नया संवत्सर मनाते हैं। दीवाली संवत्सर का अंतिम दिवस भी है और आदि दिवस भी। इस दिन पिछले वर्ष का आय-व्यय, हिसाब-किताब मिलाया जाता है, लाभ-हानि का तलपट निकाला जाता है और अगले दिन से नये खाते चालू हो जाते हैं।

हमारे धार्मिक जगत् में संवत्सरी आत्मा की दीवाली का दिन है। दीवाली की तरह इस दिन उपवास, प्रतिक्रमण, आलोयणा, क्षमापना आदि द्वारा आत्म-शुद्धि की जाती है। मन में जमा विचारों का मैल, दुर्भावों का कूड़ा-कचरा हटाया जाता है। मन की और आत्मा की शुद्धि करने के लिए तपस्या, आलोचना, प्रायश्चित्त, प्रतिक्रमण आदि किया जाता है। इसी के साथ आत्म-चिन्तन किया जाता है। साधक एकान्त में बैठकर अन्तःकरण की साक्षी से अपना निरीक्षण करता है। गत वर्ष में मैंने क्या-क्या बुरे काम किये, कितने पाप किये। अपने व्रतों में कहाँ-कहाँ दोष लगाया, कहाँ पर अशुद्धि का मैल जमा है। मन की गहराई में उतरकर उनका चिन्तन करता है, उनका निरीक्षण करता है, स्मृतियों पर जोर देकर उन कार्यों को याद करता है और चित्र की भाँति एक-एक अपराध, एक-एक पाप उसके सामने आते हैं। मन कितना हल्का हो जाता है इस आत्म-निरीक्षण से।

मन की गाँठें खोलने का दिन है

संवत्सरी के चार महत्त्वपूर्ण अंग हैं जो अवश्यमेव कर्त्तव्य हैं। इसलिए सबसे पहला कर्त्तव्य है **उपवास**। दूसरा **प्रतिक्रमण**, तीसरा **आलोयणा** और चौथा काम है **क्षमापना**। उपवास से तन की शुद्धि होती है, मन की भी शुद्धि होती है। विकारों की शांति और जिह्वा इन्द्रिय का संयम करने के लिए उपवास बहुत जरूरी है। उपवास के बाद है–प्रतिक्रमण, आलोयणा और

क्षमापना। यों तो ये तीन कड़ियाँ हैं, एक-दूसरे से जुड़ी हैं परन्तु लाभ या प्रतिफल की दृष्टि से सोचें तो इन सब का लक्ष्य है मन के विकारों की शुद्धि, विचारों की शुद्धि, भावों की पवित्रता, पापों का प्रक्षालन। प्रतिक्रमण और आलोयणा से मन की गाँठें खुल जाती हैं। मनुष्य कोई भी पाप करता है, चोरी, झूठ, विश्वासघात, क्रोध, लोभ, कपट, हिंसा, पाखण्ड, किसी से ईर्ष्या या दूसरों की निंदा आदि जो भी विकारी भाव हैं जब ये मन में आते हैं तो इनकी तीव्र तरंगें उठती हैं तो जैसे शांत सरोवर में कंकर-पत्थर फेंकने से उसमें लहरों का चक्रवात उठने लगता है, तरंगों से समूचा सरोवर चंचल हो उठता है, उसी प्रकार कोई भी दुर्भाव, दुर्विचार, विकार हमारे मन में आते हैं, उत्तेजना फैल जाती है। उत्तेजना की तरंगें कभी बहुत हल्की होती हैं तो हम महसूस नहीं कर सकते, कभी बहुत स्पष्ट होती हैं तो ये दुर्भाव आने पर समूचा मस्तिष्क झनझनाने लगता है, नसें फड़कने लग जाती हैं, शरीर में गर्मी पैदा हो जाती है, मन बेचैन, अशांत और दुःखी हो जाता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि दुर्भावों का प्रभाव पहले मन पर पड़ता है, फिर शरीर पर भी पड़ता है और इन दुर्भावों के कारण नसों में ऐसी गाँठें या उलझनें पैदा हो जाती हैं जो धीरे-धीरे भयंकर रोगों के रूप में प्रकट होती हैं।

धर्मशास्त्र कहता है–मनुष्य अपने किये हुए पापों के कारण ही दुःखी होता है–"**सकम्मुणा किच्चइ पावकारी।**"–पाप करने वाला अपने पापकर्मों के कारण इस लोक में भी दुःख पाता है, परलोक में भी संताप, कष्ट व दुःख भोगता है। आयुर्वेद कहता है–"**पूर्वजन्म कृतं पाप व्याधिरूपेण पीडति।**"–पूर्व-जन्म के किये हुए पाप मनुष्य को रोग, व्याधि आदि रूप में पीड़ा देते हैं।

आज के मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि मनुष्य को उसके दुष्कर्मों के फल, उसके गुप्त पाप और दुराचार का फल परलोक में नहीं, इसी लोक में ही मिल जाता है। उसके गुप्त पापों के कारण ऐसी मानसिक ग्रंथियाँ बनती हैं जिसके कारण वह भयंकर बीमारियों से ग्रस्त हो जाता है। जिनकी चिकित्सा दवाओं से या इंजेक्शन से संभव नहीं केवल उन पापों का प्रायश्चित्त, उनका प्रकटीकरण और परिशोधन करने पर ही उन बीमारियों से छुटकारा मिल सकता है।

कुछ दिन पूर्व मैंने एक पुस्तक पढ़ी थी–केलीफोर्निया के दो प्रसिद्ध चिकित्सक हैं, डॉ. मार्टिन रोशयान और डॉ. इरविंग आयेल। वे यह मानते हैं

कि मनुष्य के सभी रोग किसी न किसी मानसिक ग्रंथि का परिणाम हैं। वे प्रायश्चित्त विधि के द्वारा ही उसकी चिकित्सा करते हैं। उन्होंने इस चिकित्सा विधि का नाम दिया है **लोंगोथेरेपी।** उनका मत है–आज का विश्व मानसिक महामारी से पीड़ित है। तन का हर रोग मन की गुत्थी से पैदा होता है। वे रोगी के साथ प्रेम और विश्वास का नाता जोड़कर एक धर्म-गुरु की तरह उसके कृत पापों को प्रकट करवाते हैं। पापों की स्वीकृति कराते हैं। उसे अपने गुप्त रूप में जान-अजान में किया पापों का साक्षात्कार कराते हैं और समझाते हैं–जो पाप तुमने किये हैं उनको याद करो, फिर उनके प्रति पश्चात्ताप करो, मन में अपराध की भावना छुपी है उसे हटा दो और सरल मन होकर उस पाप की स्वीकृति करो और क्षमा माँगो कि मैंने जो यह पाप किया है अब भविष्य में नहीं करूँगा। मैं इससे छूटना चाहता हूँ।

अमेरिका में श्रीमती जे. सी. ट्रस्ट नामक एक महिला संत हैं। उन्होंने सैकड़ों लोगों को सिर्फ इस अपराध-स्वीकृति और अपराध की शुद्धि द्वारा ही ठीक किया है। उनका कहना है–पेट का अल्सर, केंसर की गाँठें, रसौली, पागलपन, भय, उच्च रक्तचाप जैसी बीमारियाँ शारीरिक नहीं मानसिक ग्रंथियों का परिणाम हैं और उनके मूल में मनुष्य द्वारा किये गये उसके पापकर्म, अनैतिक कर्म व दुराचार ही जिम्मेदार हैं। वह कठिन से कठिन रोगों का निवारण इस मनोविज्ञानी चिकित्सा द्वारा करती है। एक महिला रसौली से पीड़ित थी। अनेकों उपचार करने के बाद भी उसकी रसौली ठीक नहीं हुई। श्रीमती जे. सी. ट्रस्ट के समझाने पर उस महिला ने बताया–उसे क्रोध बहुत आता है। ईर्ष्यालु भी है और कई बार चोरी भी कर चुकी है। उसने उसके समक्ष अपने पाप स्वीकार कर लिये। श्रीमती ट्रस्ट ने उसके मन को सरल-सहज बनाने की चेष्टा की, कुछ उपवास भी कराये और धीरे-धीरे बिना औषध के उस महिला को ठीक कर दिया। उसकी गाँठें ठीक हो गईं। यह कोई जादू अथवा मेस्मेरिज्म नहीं, केवल मन की शुद्धि का परिणाम है।

हिटलर युवावस्था में अत्यन्त साहसी, धीर, वीर प्रकृति का व्यक्ति था, किन्तु अपनी महत्त्वाकांक्षाओं के कारण उसने जो क्रूर, बर्बर कृत्य किये, हजारों, लाखों निरीह व्यक्तियों को मौत के घाट उतारा उसका फल हुआ उसका पतन। जीवन के अन्तिम समय १९४५ में वह एक भूमिगत बंकर में जाकर छुपा और स्थिति यह थी कि वह अपने विश्वासपात्र साथियों से भी

भयभीत रहने लगा। कहते हैं–मरने से दो दिन पहले उसका मानसिक सन्ताप, अपने पापों का भय इतना उग्र हो गया कि उसके हाथ-पैरों में लकवा मार गया और दो दिन में ही उसके काले बाल सफेद पड़ गये। और अन्त में उसने आत्महत्या करके जीवन को समाप्त किया।

इन उदाहरणों से हम यह समझ सकते हैं कि मनुष्य के मन में छुपे पाप कभी न कभी विस्फोट करते हैं और उसे उद्विग्न करते हैं। भीतर ही भीतर जलाते हैं, चैन से नहीं रहने देते। इन पापों से छुटकारा पाने का एक रास्ता है जिसे अध्यात्म की भाषा में प्रायश्चित्त, प्रतिक्रमण और आलोयणा कहते हैं। आज की भाषा में मनःचिकित्सा, लोंगोथैरेपी कहा जा सकता है।

काँटा तुरंत निकाल दो

जैनशास्त्रों में कहा है–आपने कोई भी बुरा काम किया है, पापाचरण किया है, किसी के साथ क्रोध या झगड़ा किया है तो तुरंत उससे क्षमायाचना कर लो, मन का क्रोध, भावों की उग्रता तथा विचारों की कटुता को तुरंत दूर कर दो। पाप को कभी उधार मत रखो। क्योंकि पाप की आग जहाँ भी रहती है अपने स्थान को जलाती रहती है। पाप की गाँठें मन की शांतिधारा में रुकावट पैदा करती हैं। पाप का जख्म यदि जल्दी नहीं भरा तो नासूर बन सकता है। इसलिए उन घावों की तुरंत मलहम-पट्टी करो, तुरंत चिकित्सा करो। बृहत्कल्पसूत्र में बताया है–

"भिक्खू य अहिगरणं कट्टु ते अहिगरणे अविओसइत्ता नो से कप्पइ गाहावइ कुले भत्ताए वा पाणाए वा निक्खमित्तए।"

–हे भिक्षुओ ! यदि किसी कारणवश किसी से कलह हो गया हो (कलह तो एक प्रतीक है किसी भी प्रकार का पाप या दुराचरण भी इसी में समझना चाहिए) तो उससे तुरंत क्षमायाचना कर लो, उस कलह की शांति कर लो, पाप की शुद्धि कर लो, और जब तक उस कलह की शांति एवं पाप का प्रक्षालन नहीं हो जाए, गृहस्थ के घर पर आहार-पानी लेने भी मत जाओ, यहाँ तक कि शौचादि शारीरिक क्रियाएँ भी बाद में करो, पहले उस कलह-कटुता, द्वेष-विद्वेष की शांति करो।

वैदिक ग्रंथों में बताया गया है–

आ सम्वत्सरं प्रायश्चित्तकरणे पाप द्वैगुण्यम्।

–एक वर्ष तक यदि किसी पाप का प्रायश्चित्त नहीं किया जाता है तो पाप दुगुना हो सकता है। कई विद्वानों ने कहा है–जैसे बनिये के पास रखा धन ब्याज में बढ़ता है, चक्रवृद्धि ब्याज बढ़ता है वैसे ही मन में छिपाकर रखा हुआ पाप दिन-रात बढ़ता जाता है।

मार्कण्डेय पुराण में कहा है–पैर में लगे काँटों से तो एक ही जगह पीड़ा होती है परन्तु पापकर्मों का, द्वेष, क्रोध आदि कुसंस्कारों का काँटा तो शरीर और मन दोनों में ही शूल उत्पन्न करता रहता है।

जैन-परम्परा में तो पाप का तुरन्त प्रायश्चित्त करने का विधान है। ईसाई धर्म में भी पापों का प्रकटीकरण एक आवश्यक कृत्य माना गया है। उनके यहाँ जीवन में दो बार पापों को स्वीकार कर प्रायश्चित्त करने का विधान है। एक तो ईसाई धर्म की दीक्षा लेते समय जिसे **'बपतिस्मा'** कहते हैं। ईसाई धर्म में दीक्षा लेते समय बपतिस्मा के समय पादरी के सामने अपने पूर्व कृत पापों को स्वीकार किया जाता है और प्रभु से उनकी मुक्ति के लिए प्रार्थना की जाती है दूसरा मरणकाल में। मृत्यु की संभावना देखकर पादरी को बुलाया जाता है रोगी पादरी के समक्ष एकान्त में दिल खोलकर अपने पापों की स्वीकारोक्ति करते हैं जिसे **कन्फेशन** कहते हैं। यह दोनों कृत्य ईसाई धर्म में परम पवित्र कृत्य माने गये हैं और इनके बिना आत्मा की सद्‌गति नहीं होती।

इन सन्दर्भों को हम जीवन-शुद्धि के सन्दर्भ में देखें तो यह स्पष्ट सूचना है कि जीवन में जब भी, जहाँ भी कोई पाप हो गया हो तो तुरंत उस पाप की शुद्धि करो, वरना वह पाप शल्य बनकर, काँटा बनकर आत्मा में खटकता रहेगा और आज के डॉक्टरों के कहे अनुसार केवल आत्मा में ही नहीं अपितु आपके मन को भी अशांत, बेचैन, भयभीत, कुण्ठाग्रस्त रखेगा और धीरे-धीरे शरीर को भी रोगी, अशक्त और शक्तिहीन बना देगा। आप मन-तन से अपाहिज हो जायेंगे।

संवत्सरी का सन्देश आज हमें जगा रहा है कि वर्षभर में जब भी, जहाँ भी, जाने-अजाने, एकान्त में या प्रकट में आपसे कुछ भी पाप हो गया हो, किसी के साथ द्वेष-विद्वेष हो गया हो, कटुता और संघर्ष की चिनगारी उठी हो, मनोमालिन्य आ गई हो तो आज बालक की तरह सरल मन होकर उन गाँठों को खोल दो, पापों को स्वीकार कर लो, उन पापों की निन्दा करो और उनसे छुटकारा पाने का संकल्प करो। मन की गाँठ तो बहुत खतरनाक होती

है। शरीर की गाँठ भी मनुष्य को चैन नहीं लेने देती। अरे भाई ! धागे में पड़ी गाँठ भी कपड़ा नहीं सी सकती तो फिर आप निर्ग्रन्थ धर्म के अनुयायी होकर गाँठें क्यों रखे हुए हो? आज के दिन प्रतिक्रमण, आलोयणा और क्षमापना करने का अभिप्राय यही है कि आत्मा की साक्षी से अपने एक-एक पाप को याद करो, उस पर पश्चात्ताप करो और उस भार को मन से हटा दो, उन पापों की गठरी को उतारकर फेंक दो।

मिच्छामि दुक्कडं का भाव समझो

प्रतिक्रमण में बार-बार आप '**मिच्छामि दुक्कडं**' बोलते हैं। **मिच्छामि दुक्कडं** शब्द केवल मुँह से बोलने का नहीं है परन्तु इस शब्द के एक-एक उच्चारण के साथ इसकी ध्वनियों के साथ विचार करो, मन का मनन करो, भावनाओं पर चोट करो कि **मिच्छामि दुक्कडं** के साथ आपकी स्मृतियाँ सजीव हो जाएँ, मन जाग्रत हो जाय। **मिथ्या मे दुष्कृतं**–तीन शब्दों में सम्पूर्ण जीवन के चित्र आपके सामने आ जाएँ। मैंने जो भी दुष्कृत, दुराचरण किये हैं, आज उनको स्वीकार करता हूँ, फिर उनको प्रकट करता हूँ। उन पर पश्चात्ताप के आँसू बहाता हूँ। पश्चात्ताप के इन आँसुओं के साथ ही मन की गाँठें खुल जायेंगी. हृदय हल्का हो जायेगा। आपको लगेगा जैसे स्नान करके तरोताजा हो गये हैं। यह आत्म-स्नान ही आज की संवत्सरी की उपलब्धि होगी। यदि आपके मन में आज अपने अतीत का स्मृति चित्र नहीं उभरता है, पापों के प्रति पश्चात्ताप नहीं होता है और जागृति की लहर नहीं उठती है तो संवत्सरी अपने वास्तविक लक्ष्य से बहुत दूर रहेगी।

यह सत्य है और अनुभव की बात है कि यदि मनुष्य सरल मन होकर सचाई के साथ अपने अतीत को झाँके तो अनेक पर्दे उठ जाते हैं। स्मृति-कोष में दबे संस्कार, अनुभव और बीते क्षण एक-एक करके जीवंत होकर पुकारने लगते हैं और यह भी सत्य है कि इन संस्कारों का भार मन पर पड़ा है, जब तक इनको साफ नहीं किया जायेगा। बोझ बनकर मन पर छाये रहेंगे और इनके भार से जीवन बोझिल बना रहेगा। अपराध भावना से मन बुझा-बुझा-सा रहेगा।

आपको एक सत्य घटना सुनाता हूँ–अमेरिका के न्यूजर्सी शहर में एक प्रसिद्ध डॉक्टर रहते थे। डॉ. नारमन बीसेण्ट पीले। वे शरीर चिकित्सक के साथ ही मनोविज्ञानी भी थे और धार्मिक भी। वे एक चर्च में धार्मिक प्रवचन भी करते थे। एक दिन प्रवचन समाप्त कर डॉक्टर चर्च की सीढ़ियों से नीचे उतर रहा था कि एक नवयुवती उनके सामने आकर बोली–

"डॉक्टर ! क्या मेरे रोग का इस संसार में कोई इलाज नहीं है?" युवती की बेचैनी और हड़बड़ाहट देखकर डॉक्टर पीले चकित रह गया। उसने शान्ति से पूछा—"ऐसी क्या बीमारी है तुम्हें?"

युवती ने कहा—"जब भी मैं चर्च में आती हूँ मेरी बाहों में बड़ी तेज खुजली चलती है। खुजलाते-खुजलाते मैं बेहाल हो जाती हूँ। देखो मेरी लहूलुहान बाहें।" उसने बाँहों को उघाड़कर दिखाया। उन पर लाल-लाल चकत्ते बन गये थे।

डॉक्टर ने कहा—"हो सकता है तुम जिस कुर्सी पर बैठती हो या जो वस्त्र पहनती हो उनमें ही कोई रासायनिक पदार्थ ऐसा हो, जो तुम्हारी चमड़ी के अनुकूल नहीं पड़ता है।"

युवती—"अगर यही बात होती तो मैं दूसरे गिरजे में जाती हूँ, दूसरी कुर्सी पर बैठती हूँ और कपड़े भी हर दिन धुले हुए, साफ-सुथरे पहनती हूँ परन्तु वहाँ भी मेरी यही हालत होती है। और सिर्फ गिरजे में ही होती है।"

डॉ. पीले बड़ा सहृदय था। उसने सहानुभूति के साथ विचार किया और युवती के फेमिली डॉक्टर से मिला। फेमिली डॉक्टर ने बताया—"इस युवती को इण्टरनल एग्जिमा है अर्थात् वह खुजली किसी रोगाणु के संक्रमण से नहीं होती है परन्तु अपने आप भीतर से ही उलझनें रहने के कारण होती है। बहुत बार देखा जाता है जब हमें कोई चीज याद नहीं आती तो हम कनपटियों पर खुजलाने लगते हैं। जब रुपये-पैसे की तंगी होती है और सख्त आवश्यकता महसूस होती है तो हथेलियाँ खुजलाने लगती हैं। हाथ में खाज आती है तो आप समझते हैं पैसा आयेगा या जायेगा। इस प्रकार की खुजलाहट दिमाग में होने वाली उथल-पुथल या वैचारिक ग्रंथि का परिणाम होता है। कभी-कभी व्यक्ति बड़े कठिन मानसिक संघर्ष में उलझ जाता है तो शरीर व किसी भाग में खुजली मचती है और खुजलाते-खुजलाते चमड़ी लाल हो जाती है, मनःचिकित्सक इसे इंटरनल एग्जिमा कहते हैं।

डॉक्टर पीले ने युवती को बहुत गहराई से टटोला, उसे पिछले जीवन के बारे में कुरेद-कुरेदकर पूछता रहा तो युवती ने अपना सारा अतीत खोल दिया। उसने बताया—एक बार वह एक कम्पनी में एकाउण्टेट का काम करती थी और मौका देखकर गोलमाल भी कर दिया करती थी। वह यह सोचकर पैसे चुराती कि जल्दी ही इन पैसों को वापस गल्ले में रख

देगी परन्तु मजबूरीवश वापस पैसे नहीं रख सकी। वह अपराध बोध की भावना अभी भी उसके मन को उद्वेलित करती रहती है।

डॉ. पीले को रोग की जड़ मिल गई। उसने निष्कर्ष निकाला। युवती के मन में अपराध भावना घर कर गई है। वह उसे प्रकट भी नहीं कर सकती और मन से वह भय मिट भी नहीं पाता। जब भी वह चर्च के पवित्र वातावरण में आती है तो उसकी यह पश्चात्ताप या ग्लानि की भावना उग्र हो जाती है, फलस्वरूप रक्तवाहिनी की पेशियों में ऐंठन होने लगती है और खुजली शुरू। मन की गहराई में जमी इस रोग की जड़ को पकड़कर डॉक्टर ने युवती को समझाया–"तुम फर्म के मालिक के पास जाकर अपना अपराध स्वीकार कर लो और चुरायी हुई रकम वापस लौटा दो।" डॉक्टर ने युवती को ढाढ़स बँधाया–"हो सकता है मालिक तुम्हें नौकरी से निकाल दे या तुम्हें पुलिस के हवाले भी कर दे, परन्तु इससे भी भारी मानसिक यंत्रणा जो तुम पा रही हो उससे छुटकारा तो मिल ही जायेगा, तुम अपनी आत्मा की कुंठा से तो मुक्त हो ही जाओगी।"

युवती ने साहस करके मालिक के सामने अपनी गलती स्वीकार कर ली। मालिक उसकी ईमानदारी और नैतिक मूल्यों के प्रति उदित हुई निष्ठा से प्रभावित हुआ। उसने युवती के खिलाफ कोई भी कानूनी कार्यवाही नहीं की, उल्टा उसकी पदोन्नति कर दी। युवती के भीतर पश्चात्ताप और प्रायश्चित्त की भावना के फलस्वरूप जो आन्तरिक शुद्धि हुई उसके अन्तःकरण में जो हल्कापन, निर्भीकता और साहस का उदय हुआ उससे, उसी दिन से उसकी खुजली मिट गई। वह स्वस्थ हो गई। उसका भावनाजन्य शोक मिट गया और मन बेहद प्रसन्न हो गया।

पाराशर स्मृति में कहा है–

कृत्वा पापं न गूहेत गुह्यमानं विवर्द्धते।
स्वल्पं वाथप्रभूतं वा धर्मविद्भ्यो निवेदयेत्॥

–पापकर्म करने पर कभी उसे छिपाना नहीं चाहिए। पाप थोड़ा हो या बहुत उसे धर्मज्ञ पुरुष के समक्ष उसी प्रकार प्रकट कर दें जैसे रोगी वैद्य के सामने अपनी बीमारी बताकर नीरोग होने का प्रयास करता है। छिपाई हुई बीमारी बढ़ती है और छिपाया हुआ पाप भी बढ़ता है इसलिए पाप को नष्ट करने की औषध है–प्रायश्चित्त, आलोयणा और प्रतिक्रमण।

शल्य को निकालने से ही शान्ति

मन:चिकित्सकों के सामने इस प्रकार के अनेक प्रसंग आते हैं और मनुष्य के अन्तःकरण का विश्लेषण करने पर वे पाते हैं—जब भावनाओं में भय, उत्तेजना, पश्चात्ताप और ग्लानि व क्षोभ का भाव आता है तो शरीर में अनेक प्रकार के रोग व बीमारियाँ प्रकट हो जाती हैं। वे किसी दवा से नहीं मिटतीं बल्कि उन पापों का प्रकाशन व स्वीकार करने से ही उनका प्रायश्चित्त करने से मिटती हैं।

जैनशास्त्रों में पाप को छिपाना अन्तःशल्य माना गया है। भगवान महावीर ने बार-बार कहा है—तीन प्रकार के शल्य मनुष्य के अन्तःकरण में सदा ही खटकते—चुभते रहते हैं। वे जीवन में अन्तिम समय तक उसे पीड़ा देते रहते हैं। वे शल्य हैं मायाशल्य, निदानशल्य, मिथ्यादर्शनशल्य। शल्य यानी काँटा। तीखा जहरीला काँटा शरीर में चुभाने पर समूचे शरीर में उसकी जलन और बेचैनी होने लगती है इसी प्रकार कपट का, माया का, मिथ्यात्व का पाप करके उसे छिपाने का काँटा मनुष्य को मरने तक चैन नहीं लेने देता। केवल मरने तक ही नहीं किन्तु अगले जन्म में भी उसकी पीड़ा और चुभन बनी रहती है। जन्म-जन्म तक कपट का काँटा चुभता रहता है। उत्तराध्ययनसूत्र में भगवान ने कहा है—

माया-नियाण-मिच्छादंसण-सल्लाणं मोक्ख मग्ग-विग्घाणं,
अणंत संसार वड्ढणाणं......

—माया, निदान और मिथ्यादर्शनरूप तीन शल्य मोक्षमार्ग का नाश करने वाले हैं, सुगति के द्वार अवरोध करने वाले हैं और जन्म-मरणरूप अनन्त संसार को बढ़ाने वाले हैं। इसलिए इन काँटों को निकालने के लिए मन को सरल, सीधा, सहज बनाकर ऋजुभावी बनके आलोयणा, निन्दा, पश्चात्ताप करके अपनी शुद्धि कर लेना चाहिए।

ओघनिर्युक्ति में बताया है—

उद्धरिय सव्व सल्लो, आलोइय-निंदिओ गुरु सगासे।
होइ अतिरेग लहुओ, ओहारिय भारोव्व भारवहो॥

—गाथा ८०६

—जो साधक गुरुजनों के समक्ष मन के समस्त शल्यों को, काँटों को निकालकर अपने दोषों की आलोचना, निंदा, पश्चात्ताप कर लेता है उसकी

आत्मा इसी प्रकार हल्की भाररहित हो जाती है जैसे सिर पर रखा भार उतारकर विश्राम करने वाला भारवाहक खुद को हल्का महसूस करता है।

आचार्यों का कहना है–

जह बालो जंपंतो कज्जमकज्जं च उज्जुयं भवइ।
तं तह आलोएज्ज माया-मय-विप्पमुक्को॥

–ओघनिर्युक्ति ८०१

जैसे बालक जो भी उचित-अनुचित काम करता है, माता-पिता के सामने आकर सरल मन से बता देता है, उसी प्रकार अपना किया हुआ पाप, दोष, गुरुजनों के समक्ष, आचार्य के सामने या अगर कोई नहीं मिले तो प्रभु को साक्षी मानकर अपनी अन्तर्रात्मा को साक्षी मानकर ही प्रकट कर देना चाहिए। कहा गया है–बहुत से पाप तो मन में पाप के प्रति घृणा, ग्लानि या पश्चात्ताप होने से ही धुल जाते हैं। कुछ प्रकट करने से उसकी निन्दा करने से घट जाते हैं और इनसे भी कठोर या दृढ़ पाप होते हैं तो उनकी आलोचना या तप आदि का प्रायश्चित्त लेने से वे पाप नष्ट हो जाते हैं।

कुछ मनुष्य अहंकार या बड़प्पन की भावना से अपने दोषों को प्रकट नहीं कर पाते। सोचते हैं–इससे लोग हमें क्या कहेंगे, क्या समझेंगे? कुछ भय के कारण, लोक-निन्दा के कारण या कुछ सोचते हैं–हमने जो कर दिया सो कर दिया वह कोई नहीं जान पाता। इस बात का झूठा अहसास करके भी गुप्त पाप प्रकट नहीं करना चाहते हैं, किन्तु यह निश्चित है कि जिस प्रकार आग कहीं भी छुप नहीं सकती, शरीर का व्रण घाव चाहे कहीं भी हो, शरीर के भीतर पेट में भी हो तो उसे छुपाने से वह पीड़ा बढ़ेगी ही, कम नहीं हो सकेगी। इसी प्रकार पाप, चोरी, हत्या या छोटे से छोटा अपराध भी मनुष्य के अन्तःकरण को कचोटता रहता है, उसे चैन नहीं लेने देता। कहानियाँ, उपन्यास आदि में भी पढ़ते हैं और घटनाओं में भी हम देखते हैं बड़े से बड़ा षड्यंत्रकारी स्मगलर, हत्यारा मरते समय अपने पापों को प्रकट करना चाहता है, गुप्त रहस्य खोल देता है, क्योंकि मृत्यु को सामने देखकर मनुष्य की भावना बदल जाती है। वह शांति और चैन के साथ प्राण त्यागना चाहता है और जब तक वह गुप्त रहस्य नहीं खोलता उसकी आत्मा भीतर ही भीतर उसे धिक्कारती रहती है।

मैं आपसे कह रहा था–संवत्सरी का दिन आत्मा की शुद्धि का दिन है। आत्मा को शान्ति, पुष्टि तभी मिलेगी जब इसके भीतर छिपे दोष, दुष्कर्म, दुष्प्रवृत्तियाँ, दुर्भावनाएँ शांत हो जायेंगी।

जिस प्रकार दीवाली मनाने के लिए पहले घर की, भवन की सफाई की जाती है, कूड़ा-कचरा बाहर फेंका जाता है फिर उस पर रंग-रोगन करके चमकाया जाता है, नये वस्त्र आदि धारण किये जाते हैं और उल्लास-उत्साहपूर्वक मनाई जाती है। इसी प्रकार संवत्सरी के दिन यह चार मुख्य साधना-आराधना करके आत्मा की शुद्धि, संपुष्टि की जाती है। जैसा मैंने पूर्व में बताया–उपवास, प्रतिक्रमण, आलोयणा और क्षमापना इन चार स्तम्भों पर संवत्सरी का महल खड़ा है। जैन संस्कृति में आज का दिन आहार त्याग का दिन माना जाता है। उपवास का महत्त्व तो हम कई बार बता चुके हैं, मुख्य बात है–उपवास के साथ आत्म-साधना से जुड़ना, भूखे रहना मात्र उपवास का लक्ष्य नहीं है किन्तु उपवास के द्वारा आत्मा के समीप आना, आत्मा में रमण करना और आत्म-शुद्धि की साधना में लगे रहना।

दूसरा कार्य है–प्रतिक्रमण। वैसे तो प्रतिक्रमण के छह आवश्यक में आलोयणा, प्रायश्चित्त, व्रतारोपणा आदि सब आ जाते हैं। प्रतिक्रमण आत्मा का रूप है। इसमें प्रथम पापों का, दोषों का निरीक्षण किया जाता है। उन पर चिन्तन किया जाता है, फिर उनके प्रति घृणा उत्पन्न होने पर मन में ग्लानि होने पर उन दोषों का त्याग, प्रत्याख्यान किया जाता है। फिर भविष्य में उन पापों को नहीं करने का संकल्प किया जाता है। इस प्रकार प्रतिक्रमण सम्पूर्ण आत्म-शुद्धि की प्रक्रिया है। प्रतिक्रमण के बाद आलोयणा की जाती है। आलोयणा के विषय में मैं पहले ही विस्तारपूर्वक कह चुका हूँ। आज संवत्सरी पर्व का मुख्य सन्देश यही है कि आप उपवास के रूप में आत्मा के निकट आयें। धर्म के द्वार पर पहुँचें। आज तिविहार या चौविहार उपवास करके पौषध करें। पौषध के रूप में एक दिन की श्रमणचर्या का अनुभव करें। पौषध में प्रतिक्रमण करके विगत एक वर्ष में हुई समस्त भूलों की शुद्धि करें।

जैसा मैंने प्रारंभ में कहा था–आज का दिन क्षमापना दिवस या क्षमा दिवस के रूप में हम मनाते हैं। जिस धर्म व संस्कृति में क्षमा जैसा महान् शब्द है उस धर्म को, उस संस्कृति को कोई जीत नहीं सकता।

–जिस वीर के हाथ में क्षमा का अमोघ शस्त्र है, उसका दुर्जन कुछ भी बिगाड़ नहीं सकते। राम का बाण कभी खाली नहीं जाता था, वैसा ही क्षमा का तीर कभी निष्फल नहीं होता। रामबाण से भी इसकी विलक्षणता है, राम का बाण शत्रु का नाश करता था परन्तु क्षमाबाण शत्रुता का ही नाश कर देता है। शत्रु को जीवनदान देता है, शत्रु को मित्र बनाता है और शत्रुता को मिटाता है। ऐसा अद्‌भुत शस्त्र जिस व्यक्ति के पास हो, उसे संसार में कहीं कोई भय नहीं। आज संवत्सरी के दिन हम अभय बनने का संकल्प करें, मन की पवित्रता और मन की निर्भीकता का मार्ग प्रशस्त करें संवत्सरी पर्व की आराधना करके।

●●

मोह विजय की प्रतीक है : गौतम प्रतिपदा

दीपावली के बाद कार्तिक शुक्ल १, आज गुजराती पंचांग के अनुसार नववर्ष का शुभ दिन है–प्रतिपदा का। हिन्दू संस्कृति में आज गोवर्धन पूजन और अन्नकूट किया जाता है। इस विषय की चर्चा पहले की जा चुकी है।[1] जैन संस्कृति के अनुसार आज गौतम प्रतिपदा है। इस प्रतिपदा को गौतम प्रतिपदा क्यों कहते हैं? इसकी क्या प्रेरणाएँ हैं? इसी विषय पर आज चर्चा करनी है।

जैन-परम्परा में दीपावली का अपना महत्त्व है, किन्तु इसके साथ पड़वा का भी कम महत्त्व नहीं है। इस दिन अर्थात् अमावस्या की अन्तिम रात्रि में भगवान महावीर के प्रथम शिष्य गणधर इन्द्रभूति को केवलज्ञान प्राप्त हुआ। केवलज्ञान तो एक दिन होना ही था, परन्तु जिन परिस्थितियों में, जिस वातावरण में गौतम स्वामी को केवलज्ञान की प्राप्ति हुई वह अपने आप में बड़ी महत्त्वपूर्ण है, स्मरणीय है, प्रेरणादायी है। आज की पड़वा को गौतम प्रतिपदा के नाम से जाना जाता है। इस तिथि के साथ गौतम स्वामी के जीवन ही एक महत्त्वपूर्ण अपूर्व उपलब्धि जुड़ी हुई है।

गौतम की महिमा

दीपावली को भगवान महावीर का स्मरण–पूजन करने के साथ ही गणधर गौतम का स्मरण किया जाता है। गणधर गौतम का नाम गणेश जी के समान ही मंगलकारी और विघ्नहारी माना जाता है। गौतम अक्षय लब्धि के भंडार थे। उनकी वाणी में अमृत था। अँगूठे में भी अमृत था। जहाँ उनका चरण-स्पर्श हो गया वहाँ धन-धान्य-समृद्धि का अक्षय भंडार भरा रहता था। गौतम का स्मरण जहाँ किया जाता है, वहाँ किसी भी प्रकार का विघ्न, भय और बाधा नहीं रहती। गौतम सद्बुद्धि, सद्ज्ञान के दाता हैं। गौतम की वन्दना में कहा गया है–

सर्वारिष्ट प्रणाशाय सर्वाभिष्टार्थदायिने।
सर्व लब्धिनिधानाय गौतम स्वामिने नमः॥

---

१. 'पंचपर्वी' प्रवचन में गोवर्धन पूजन पर विचार किया गया है।

–सर्व प्रकार के विघ्नों के विनाशक, सब प्रकार की इच्छित वस्तुओं के प्रदाता और अक्षय लब्धि के निधान श्री गौतम स्वामी को नमस्कार।

हम लोग हर दिन प्रातःकालीन प्रार्थना में बोलते हैं–

अँगूठे अमृत वसे लब्धितणां भण्डार।
श्री गुरु गौतम सुमरिये वांछित फल दातार॥

प्राचीन समय में ऐसी धारणा थी कि मुनिजन भिक्षा के लिए जाते समय गौतम स्वामी का नाम स्मरण करके जाते थे, तो जहाँ सादी लूखी-सूखी भिक्षा की भी आशा नहीं होती वहाँ भरपूर मिष्टान्न की प्राप्ति हो जाती, ऐसा चमत्कार है गौतम नाम में।

एक प्राचीन श्लोक प्रसिद्ध है–

यस्याभिधानं मुनयोऽपि सर्वे गृह्णन्ति भिक्षा भ्रमणस्य काले।
मिष्टान्न-पानाम्बर पूर्णकामः स गौतमो यच्छतु वांछितं मे॥

जैन-परम्परा में गौतम गणधर के प्रति अगाध आस्था है। वह विघ्नहारी, मंगलकारी नाम है। गौतम समस्त लब्धियों, ऋद्धियों एवं निधियों के धारक हैं। द्वादशांगी के निर्माता, प्रतिबोध देने में कुशल, भक्तों की इच्छा पूर्ण करने में कल्पवृक्ष, चिंतामणि रत्न और कामधेनु के समान चमत्कारी हैं।

गणधर गौतम का जीवन ज्ञान का महासागर है। विनय एवं समर्पण का उज्ज्वल समुन्नत शैल-शिखर है। जिज्ञासा का अक्षय स्रोत है। तीर्थंकर पार्श्वनाथ और तीर्थंकर महावीर के युग की यमुना-गंगा की धारा का प्रयागराज है गौतम। जिनशासन में गौतम का अवदान, अनुदान अनन्त अपार है। गौतम के बिना भगवान महावीर की धर्म-तीर्थ प्रवर्तन यात्रा अधूरी है। भगवान महावीर की वाणी से निःसृत ज्ञान गंगा को धारण करने वाला भगीरथ है गौतम।

गौतम का व्यक्तित्व अत्यन्त मधुर, मृदुल, विद्या, विनय, विवेक का संगम है।

महान् जिज्ञासु गौतम

इन्द्रभूति गौतम एक सच्चे जिज्ञासु थे जिनके भीतर ज्ञान पाने की उत्कट जिज्ञासा जाग्रत है। प्रारम्भ से ही वे उत्कट जिज्ञासु रहे हैं। नाना प्रकार की विद्याओं का अध्ययन और नगर-नगर, देश-देशान्तर में परिभ्रमण, वहाँ के विद्वानों से शास्त्रार्थ करना उनकी ज्ञान-जिज्ञासा का लक्षण है। मध्यम पावा में

जब वे सोमिल के विशाल यज्ञ-मंडप से उठकर श्रमण भगवान महावीर के समवसरण में आते हैं तो उनके मन में एक विचित्र दुविधा, विचारों का द्वन्द्व था। केवल महावीर को जीतने के लिए ही नहीं आये, अपितु इसके साथ महावीर के बढ़ते अद्‌भुत प्रभाव का रहस्य भी जानना चाहते थे कि एक युवा राजकुमार श्रमण बनकर अध्यात्म-विद्या का ऐसा कौन-सा दुर्लभ ज्ञान दे रहा है जिसे सुनने के लिए इतनी अपार भीड़ जुड़ रही है। अगणित देव-देवियाँ दौड़े आ रहे हैं। ऐसा कौन-सा नया आकर्षण है महावीर में। मुझे तो लगता है, गौतम महावीर को जीतने के लिए नहीं, किन्तु समझने के लिए ही आये हैं और जब उनके मन का गुप्त सन्देह मिटने लगा तो वे महावीर की ज्ञान-गरिमा से प्रभावित हो गये। उन्हें जो सत्य भगवान महावीर के पास मिला, वह अब तक अज्ञेय था। महावीर की वाणी में सत्य का दर्शन होते ही गौतम उस पर निछावर हो गये। महावीर के प्रति समर्पित हो गये। चरम अहंकार चरम समर्पण में लीन हो गया।

एक रूपक है—एक बार जंगल में कुछ झींगुरों की सभा हो रही थी। झींगुरों (बरसाती कीड़े) ने आपस में कहा—"हम और पतंगे एक ही बिरादरी के हैं, फिर उन्हें अपनी बिरादरी की सभा में सम्मिलित क्यों नहीं किया जाय?" झींगुर उन्हें अपनी बिरादरी में सम्मिलित होने का प्रस्ताव लेकर पतंगों के पास आये। पतंगों का नेता भी बड़ा आदर्शवादी था। केवल भीड़ जुटाने और अपने वोटरों की संख्या बढ़ाने में विश्वास नहीं रखता था कि चाहे जैसी बेमेल खिचड़ी पका लो। पतंगों के नेता ने कहा—"हम ऊपर से तो एक जैसे ही दीखते हैं परन्तु तुम्हारी-हमारी आदतें और रुचियाँ भी एक समान हैं या नहीं, इसकी परीक्षा करेंगे। अगर हमारी परीक्षा में पास हो गये तो हम बिरादरी में मिला लेंगे।" उसने एक-दो झींगुरों को बोला—"जाओ, शहर में देखकर आओ, अभी कहीं दीपक जले या नहीं?" दो झींगुर गये और वापस लौटकर आये, बोले—"शहर में सभी जगह दीपक जल रहे हैं।" पतंगों का नेता बोला—"तुम हमारी बिरादरी के नहीं हो सकते। सच्चा पतंगा दीपक जलता देखकर वापस लौट ही नहीं सकता। रोशनी देखकर वह वहीं पर समर्पित हो जाता है। अपने आप को भूल जाता है। जो झींगुर रोशनी को देखकर भी वापस लौट आया वह पतंगा नहीं हो सकता।"

तो, जिसमें सच्ची जिज्ञासा होती है, सत्य का प्रकाश पाने की आतुरता और तड़फ होती है वह प्रकाश का दर्शन करके वापस अंधकार की तरफ नहीं जा सकता। गौतम ऐसे ही सच्चे जिज्ञासु थे जिन्होंने एक बार भगवान महावीर के अनन्त असीम दिव्य ज्ञानालोक का दर्शन कर लिया तो फिर

लौटने का नाम ही नहीं लिया कि मैं वापस जाकर अपने अग्निभूति आदि भाइयों को तो पूछ लूँ। रुकता, अटकता वह है जिसमें कमजोरी होती है। साहसी दृढ़ निश्चयी तो बढ़ता ही जाता है। बस, गौतम भी वहीं भगवान के चरणों में समर्पित हो गये। उनका शिष्यत्व स्वीकार कर लिया और वे उनके प्रथम गणधर बने।

गणधर पद की विशिष्टता

जैन संस्कृति में तीर्थंकर पद अनन्त पुण्यों का उत्कृष्ट परिणाम है। अनेक भवों–जन्मों की उत्कृष्ट तपःसाधना तथा बीस स्थानकों की आराधना का शुभ परिणाम है तीर्थंकर नाम-कर्म की प्राप्ति। तीर्थंकर पद की तरह गणधर पद भी अनेक जन्म-जन्मान्तरों की उत्कृष्ट साधना-आराधना का फल है। अनन्त पुण्य राशि का फल है यह। इन्द्रभूति की अनेक जन्मों की उत्कृष्ट श्रुत-संयम-तप की समुज्ज्वल साधना का परिणाम है इस जन्म में भगवान महावीर के तीर्थ प्रवर्त्तन के प्रथम दिन उनकी दीक्षा और दीक्षा लेते ही गणधर लब्धि का उदय। भगवान द्वारा कथित तीन ध्रुव पदों के साथ ही उन्हें सम्पूर्ण चौदह पूर्वों का ज्ञान प्राप्त होना।

आवश्यकचूर्णि आदि ग्रंथों में बताया है–वैशाख सुदि एकादशी के दिन जिस दिन इन्द्रभूति गौतम ने ५०० शिष्यों के साथ भगवान महावीर से प्रव्रज्या ग्रहण की, तो उनके पीछे उनके साथ आये १० महापंडित यज्ञाचार्यों ने भी क्रमशः भगवान का शिष्यत्व ग्रहण कर लिया। एक ही दिन में ४,४०० शिष्यों का समूह भगवान के शासन में दीक्षित हुआ। तब इन्द्रभूति गौतम आदि ग्यारह प्रमुख शिष्य अंजलिबद्ध होकर भगवान के चरणों में उपस्थित हुए। देवताओं ने दुंदुभिनाद कर हर्ष ध्वनि की। फिर देवनिनाद बन्द हुआ। प्रभु वर्धमान ने उन शिष्यों को सम्बोधित कर फरमाया–"मैं तुम सब को तीर्थ की अनुज्ञा देता हूँ। गणधर पद प्रदान करता हूँ।" इस उद्घोषणा के साथ ही संघ की स्थापना हुई। चार तीर्थ का प्रवर्त्तन हुआ और भगवान ने अपनी प्रथम देशना प्रदान की।

गौतम की कठोर तपःसाधना

गौतम का शरीर-सौष्ठव बड़ा अद्भुत था। भगवतीसूत्र तथा ज्ञातासूत्र आदि अनेक आगमों में गणधर गौतम का जो वर्णन मिलता है उससे पता चलता है उनका शरीर स्वर्ण के समान गौरवर्ण, तेजस्वी और अत्यन्त प्रभावान था। सात हाथ का भरा पूरा सुन्दर बलिष्ठ शरीर था। मुख कमल

के समान अत्यन्त सुकुमार विकस्वर और तेजोदीप्त। दीक्षा लेते ही भगवान के समक्ष उपस्थित होकर गौतम ने सर्वप्रथम प्रभु से निवेदन किया–''भन्ते ! मेरी दो आँखें अपनी हैं, ये ईर्या समिति के लिए मेरे काम में आती हैं। इसके सिवाय मेरा सम्पूर्ण तन-मन आपके चरणों में समर्पित है। मैं आज से ही जीवन पर्यन्त षष्टभक्त (बेले-बेले) तप करूँगा। अर्थात् दो दिन का निरन्तर उपवास, फिर तीसरे दिन तीसरे पहर में पारणा और फिर पुनः उपवास। सदा अप्रमत्त रहकर उत्कृष्ट तप-संयम की साधना में लीन रहूँगा।''

इस प्रकार हम देखते हैं दीक्षा लेते ही एक तरफ गौतम ने अपना तन-मन सर्वस्व प्रभु-चरणों में समर्पित कर दिया। दूसरी तरफ कठोर तपःसाधना में स्वयं को लगा लिया। वे प्रथम प्रहर में स्वाध्याय में लीन रहते थे। दूसरे प्रहर में भगवान के एक प्रहर धर्मदेशना देने के पश्चात् समवसरण में सिंहासन के पाद-पीठ पर बैठकर स्वयं धर्मदेशना देते थे। फिर ध्यान करते थे। गौतम स्वामी का ध्यान भी कितना अन्तर्मुखी होता था। उसके लिए आगमों में आता है–''**उड्ढजाणु अहोसिरे–ऊर्ध्व जानुअधः शिरः।**''–दोनों घुटनों के बीच में मस्तक रखे हुए आँखें बंद, शरीर स्थिर, मन की चिन्तनधारा अन्तर्मुखी, धर्मध्यान-शुक्लध्यान में लीन। कल्पना कीजिए; एक कर्मकाण्डी यज्ञाचार्य हजारों छात्रों का गुरु, सम्पूर्ण भारतवर्ष का दिग्गज विद्वान् वेदवेदांग का महापंडित, चौदह विद्याओं का निष्णात वह वैदिक विद्वान् दीक्षा लेते ही इतना समर्पित और सेवाभावी बन गया कि भगवान महावीर के व्यक्तित्व में ही स्व को लीन बना लिया। जैसे नदी समुद्र में मिल जाती है, उसी प्रकार विनम्र शिष्य गुरु के भीतर समर्पित हो जाता है। क्योंकि भक्त जब तक भगवान में लीन नहीं हो जाता वह अपने को विराट् नहीं बना सकता। एक कवि कहता है–

मिटा दो खुद को इतना कि, रहे न कुछ निशां बाकी।
अगर पाना खुदा को है, खुदी से हाथ धो बैठो॥

खुदा (ईश्वर) को पाने के लिए खुदी को (अपने अहंकार) को मिटाना पड़ता है। गौतम ने इसी सत्य को साकार किया है। भगवान की इंगित आकार-चेष्टा और वाणी के संकेत पर ही जिनकी जीवन-गाड़ी चलने लगी। कितना अद्भुत परिवर्तन आया है एक ही दिन में। कितना उत्कृष्ट समर्पण है उनके जीवन में।

ज्ञान पिपासु गौतम

गणधर गौतम का जीवन जिज्ञासा का जीता जागता स्वरूप है। वे

प्रतिपल नया-नया ज्ञान प्राप्त करने के लिए उत्सुक रहते थे। महान् ज्ञानी होते हुए भी वे भगवान से प्रश्न करते रहते हैं! ऐसा नहीं है कि किसी अज्ञान के कारण उनके मन में संशय पैदा होता। वे तो चौदह पूर्वों के ज्ञानी थे, चौदह विद्याओं के ज्ञाता थे। सरस्वती उनके मुख-कमल पर विराजमान थी। उपयोग लगाकर किसी भी विषय का सर्वांग ज्ञान कर सकते थे। परन्तु फिर भी वे छोटी-छोटी बात को लेकर भगवान के सामने जिज्ञासा करते हैं–"**से कहमेयं भंते ! से केणट्ठेणं भंते !**"–प्रभो ! यह बात कैसे है? क्यों है? इसका क्या अभिप्राय है? मेरे विचारों में गणधर गौतम की यह जिज्ञासा, शंका समाधान स्वयं के लिए नहीं होकर दूसरों के लिए होती थी। जैसे हमारे लिए ही उन्होंने इतने प्रश्न किये। अगर गणधर गौतम जैसे प्रश्नकर्त्ता नहीं होते तो भगवान की वाणी से यह ज्ञान का प्रवाह कैसे प्रकट होता। कुएँ में मीठा जल भरा है, परन्तु उससे जल निकालने वाला भी होना चाहिए न ! अपने आप तो जल आपके मुँह में नहीं आयेगा? इसी प्रकार अनन्त ज्ञानी महावीर के मुख से प्रश्न करके ज्ञान का अमृत प्राप्त करने की कला गौतम में थी। श्रीकृष्ण के सामने अर्जुन नहीं होता तो उनका महान् गीता ज्ञान कैसे व्यक्त होता। व्यास के सामने गणेश जैसे लिपिकार नहीं होते तो महाभारत का सर्जन कैसे होता? इसी प्रकार अगर भगवान के सामने गौतम जैसे जिज्ञासु नहीं होते तो पता नहीं हमें यह श्रुतज्ञान की निधि कैसे प्राप्त होती?

गौतम जैसा महान् ज्ञानी और इतना विनम्र, इतना सरल, इतना श्रद्धालु ! भगवान ने उत्तर दिया तो तुरन्त उसे श्रद्धापूर्वक स्वीकार करते हैं–"**तहमेयं भंते ! अवितहमेयं भंते !**"–प्रभो ! आपका कथन सर्वथा सत्य है, असंदिग्ध है, यथार्थ है। मैं इस पर श्रद्धा करता हूँ, विश्वास करता हूँ, इस पर आचरण करता हूँ।

जिज्ञासा ज्ञान का द्वार है, परन्तु केवल जिज्ञासा ही मनुष्य को ज्ञानी नहीं बना सकती। जिज्ञासा के साथ उसे स्वीकार करने की श्रद्धा भी होनी चाहिए और फिर जीवन में उतारने का पुरुषार्थ। इसलिए यह त्रिपुटी बनती है–जिज्ञासा, श्रद्धा और आचरण। शास्त्र की भाषा में कहूँ तो "**सुइ-सद्धा-संजमम्मि य वीरियं।**"–श्रुति, श्रद्धा और संयम में पुरुषार्थ।

सत्य के सच्चे शोधक

गौतम भगवान महावीर के चौदह हजार शिष्यों में ज्येष्ठ थे। महान् तपस्वी और महान् श्रुतज्ञानी थे। फिर भी वे कितने विनम्र और कितने सत्य

जिज्ञासु थे कि जहाँ भी यदि उन्हें लगा कि मुझसे भूल हो गई है तो वे उलटे पैरों जाकर पहले उससे खमत खामणा करके अपनी भूल सुधारते।

एक बार वाणिज्य ग्राम में भगवान पधारते हैं। गणधर गौतम बेले का पारणा लेने नगर में घूमते हुए यह सुनते हैं कि आनन्द श्रावक को बहुत विस्तृत विपुल अवधिज्ञान हुआ है। गौतम गणधर आनन्द श्रावक की पौषधशाला में आते हैं। आनन्द संथारे में स्थित है। गौतम स्वामी को हाथ जोड़कर वन्दना करता है। फिर पूछता है–"भंते ! क्या गृहवास में रहते हुए गृहस्थ को अवधिज्ञान हो सकता है?" गौतम कहते हैं–"हाँ आनन्द ! हो सकता है। क्या तुम्हें भी अवधिज्ञान हुआ है?" आनन्द कहता है–"हाँ भंते ! मुझे भी अवधिज्ञान हुआ है। मैं पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण दिशा में पाँच-पाँच सौ योजन तक लवणसमुद्र का क्षेत्र देख रहा हूँ। उत्तर में हिमवान पर्वत तक, ऊर्ध्व दिशा में सौधर्मकल्प तक और अधो दिशा में प्रथम नरक भूमि तक का क्षेत्र देखता हूँ।"

गौतम कहते हैं–"आनन्द ! गृहस्थ को अवधिज्ञान तो होता है, परन्तु इतना विपुल विशाल क्षेत्रावग्राही अवधिज्ञान नहीं हो सकता। तुम्हारा वचन भ्रान्तियुक्त है। अतः तुम असत्य भाषण की आलोयणा करो, इसका प्रायश्चित्त करो।"

आनन्द पूछता है–"भगवन् ! क्या सत्य कथन करने पर भी प्रायश्चित्त लेना पड़ता है?"

गौतम–"नहीं।"

आनन्द ने विनयपूर्वक निवेदन किया–"भंते ! मैं सत्य कथन कर रहा हूँ। अतः आप ही इसका प्रायश्चित्त करें।"

एक श्रावक गौतम जैसे महाज्ञानी को कितनी बड़ी बात कह रहा है। उसमें सत्य का साहस है, श्रद्धा का बल है, अपने ज्ञान पर विश्वास है, फिर भी विनम्र होकर गौतम को कहता है–"भंते ! इसका प्रायश्चित्त मुझे नहीं आपको ही लेना चाहिए।"

आनन्द का उत्तर सुनकर गौतम चकित हो जाते हैं, परन्तु क्रोधित नहीं। वे शान्त भाव से अपना निरीक्षण करते हैं–कहीं मैं ही तो भूल पर नहीं हूँ? वे गहरे असमंजस में पड़ जाते हैं और तुरन्त इसका निर्णय करने वे भी भगवान के पास आते हैं। भगवान से पूछते हैं तो प्रभु कितना स्पष्ट और सटीक उत्तर देते हैं–"गौतम ! आनन्द श्रावक का कथन सत्य है। तुम्हारा कथन ही भ्रांतिपूर्ण है। इसलिए तुम इसका प्रायश्चित्त लो। केवल

प्रायश्चित्त ही नहीं, अपितु जाकर आनन्द श्रावक से खमावो। आनन्द श्रावक की तुमने अवहेलना की है। सत्य की अवमानना की है।

नवनीत-सा मृदुल नम्र मन

जितना महान् गुरु उतना ही महान् शिष्य। गुरु के मन में शिष्य की झूठी इज्जत का अहंकार आ जाता है। मेरा शिष्य है, इसने चाहे असत्य ही कह दिया है तो भी यह आखिर मेरा शिष्य है। इसकी भूल प्रकट हुई तो मेरी निन्दा होगी। अक्सर गुरु के मन में शिष्य का पक्षपात हो जाता है। शिष्य की प्रतिष्ठा को गुरु अपनी प्रतिष्ठा मान लेता है और झूठ को भी सत्य, सत्य को झूठ करार देने की चेष्टा करता है। शिष्य ने कह दिया– आज अमावस नहीं, पूनम है, तो गुरु ने मजबूर होकर शिष्य की झूठी बात रखने के लिए भी अमावस को पूनम बना दिया। यह एक प्रकार का मिथ्या मोह है। परन्तु यहाँ गुरु तो वीतराग है, मोह-अहंकार से मुक्त। और शिष्य भी कैसा? जो यह नहीं कहता–गुरुजी ! मैंने जो कह दिया वह लोहे की लकीर है, आखिर आपका शिष्य हूँ। मेरी हेठी तो आपकी हेठी होगी। अब बात की इज्जत रखना आपके हाथ है। नहीं, ऐसा झूठा अहंकार गौतम को छू भी नहीं गया। वे भी सत्य के परम उपासक थे। वे तुरन्त वहाँ से उठते हैं। बेले का पारणा, आहार-पानी लाकर रख लिया और भूखे ही वापस जाते हैं आनन्द श्रावक के पास। और कहते हैं–"आनन्द ! तुम्हारा कथन सत्य है। मैंने तुम्हारी अवज्ञा की, मैं तुम्हें खमाता हूँ।"

कितना निर्मल, निश्छल, निरभिमानी मन है गौतम का। अहंकार कहीं छूआ भी नहीं। सत्य सत्य है, जहाँ भी सत्य है वह सत्य ही रहता है। सत्य को दबाना, छुपाना और सत्य से ऊपर अपनी मान-प्रतिष्ठा का प्रश्न खड़ा करना यह क्षुद्र मानवों का काम है। महान् वे ही होते हैं जो मान के लिए नहीं, सत्य के लिए सर्वस्व समर्पित कर देते हैं। मनुष्य अहंकार के सामने सत्य का गला घोंट देता है। खुद के लिए खुदा को ठुकरा देता है। शायर कहता है–

मर मिटेंगे आज दोनों, अपनी अपनी राह पर।
तू खुदी के सामने, मैं खुदा के सामने॥

तू अपने अहंकार के सामने मर मिटता है और मैं अपने खुदा–सत्य ईश्वर के सामने स्वयं को मिटा देता हूँ। सत्य के सामने अपनी झूठी हैसियत, बड़प्पन का विचार करना सत्य का गला घोंटना है। गणधर गौतम के जीवन के एक-एक प्रसंग अत्यन्त प्रेरक और प्रकाश-पुँज हैं। उनमें जीवन का अनन्त

सत्य छुपा है। आज हमारे जीवन में अगर गौतम जैसी विनयशीलता, समर्पण भाव, जिज्ञासा और सत्यप्रियता का सौवाँ अंश भी आ जाए तो **'चला जाये बैंकुंठ को पला न पकड़े कोय'** वाली बात बन सकती है।

गौतम की सरलता, सहजता का आदर्श देखना हो तो अतिमुक्तक कुमार का प्रसंग पढ़िए। एक ओर महाज्ञानी सन्त और एक ओर छोटा-सा बालक, एक ओर सुमेरु पर्वत और एक ओर नन्हा-सा स्तूप, एक ओर विशाल जम्बू वृक्ष और एक ओर छोटा-सा नन्हा पौधा। कोई समानता नहीं, कोई तुलना नहीं। किन्तु उस छोटे से बालक के साथ कितना मधुर, कितना वात्सल्यपूर्ण व्यवहार है गौतम का ! गौतम के व्यवहार ने ही राजकुमार अतिमुक्तक को खींच लिया और बँधा-सा आ गया भगवान के चरणों में। गौतम का मन कितना विनम्र और फूल-सा कोमल है।

गौतम की सूक्ष्म तर्क शक्ति, प्रखर प्रज्ञा और समाधान की सुन्दर शैली देखनी है तो उत्तराध्ययनसूत्र का केशी-गौतम संवाद पढ़िए। कितने गहन सूक्ष्म प्रश्न और उनका कितना सुन्दर समाधान ! केशी श्रमण जैसे महाज्ञानी गौतम के उत्तर सुनकर विभोर हो जाते हैं और कह उठते हैं–**"साहु गोयम ! पन्ना ते।"**–हे गौतम, आपकी प्रज्ञा अतीव श्रेष्ठ है। आपकी समाधान शैली अद्‌भुत है। **"छिन्नो मे सव्व संसओ।"**–मेरे सभी संशय दूर हो गये हैं। कितना मधुर समन्वयशील मन है गौतम का ! एकता और संगठन की बातें करने वाले यदि गौतम स्वामी की इस उदारता और समन्वयशीलता से कुछ शिक्षा लें, तो आज परस्पर का मनोमालिन्य और मतभेद रहने का प्रश्न ही नहीं। समूचा जैन संप्रदाय एक हो सकता है। जैन एकता का आदर्श साकार हो सकता है, अगर हम गौतम की उदारता को अपना आदर्श मान लें।

केशी श्रमण के प्रति कितने आदरपूर्ण–भन्ते ! सम्बोधन में बोलते हैं गौतम। अपने युग के साधुओं की जड़ता को छुपाते भी नहीं हैं। उनकी वक्रता को स्पष्ट स्वीकार कर गौतम कहते हैं–इस समय के साधुओं में वक्र जड़ता अधिक है। अपने गण की, संघ की दुर्बलता को स्वीकारने के लिए भी साहस चाहिए। हम अपनी भूलों पर, दुर्बलताओं पर पर्दा डालने की फिकर में रहते हैं। कुटिल वक्र भाषा बोलते हैं। अहंकार, पद और नाम की प्रतिष्ठा के लिए सरलता, ऋजुता को दाँव पर लगा देते हैं और कहाँ गौतम की सरलता। जो गणनायक होकर भी गण की वक्र जड़ता के लिए स्पष्ट स्वीकार कर लेते हैं–**"वक्कजडा य पच्छिमा।"**

उदार हृदय गौतम

स्कन्दक परिव्राजक जो दूसरी धर्म-परम्परा का संन्यासी है। परन्तु जब भगवान के समवसरण में सत्य का जिज्ञासु बनकर आता है तो गौतम प्रसन्न और प्रफुल्लित होकर उसके सामने जाकर कहते हैं–"सागयं खंदया !" –स्कन्दक तुम्हारा स्वागत है। भगवान के समवसरण में तुम्हारा आना कल्याणकारी है। कितना प्रेमपूर्ण निर्मल निश्छल सद्व्यवहार है। आज कहाँ तो एक ही धर्म-परम्परा के सन्त स्थानकवासी आपस में एक-दूसरे को शिथिलाचारी, उत्कृष्टाचारी कहकर निंदा हीलना करते हैं। वन्दना व्यवहार तो दूर की बात, एक-दूसरे की निंदा आलोचना और उससे भी नीच स्तर पर उतरकर चरित्र पर लाँछन लगाने जैसी निकृष्ट हरकतें करते हैं। वे सोचें–गौतम की इस परम्परा पर ध्यान देवें। अपने ही हाथों अपने घर को जलाने की निकृष्ट चेष्टा नहीं करनी चाहिए। कवि के शब्दों में आज हालात ये हैं–

दिल के फफोले जल उठे, सीने के दाग से।
इस घर को आग लग गयी, घर के चिराग से॥

आज जैनी अपने ही जैन भाइयों पर, अपने भी धर्म-संप्रदाय के साधु-संतों पर परस्पर कीचड़ उछाल रहे हैं, केवल अपने क्षुद्र स्वार्थ और झूठे अहंकार के वश होकर। खुद बाग के माली ने गुलशन की ये हालत की है, फूलों का लहू बेचा है, खुशबू भी तिजात की। मैं मानता हूँ, जैनत्व की महिमा गरिमा खुद जैनों ने ही गिराई है। इसलिए उन्हें गणधर गौतम की इस उदारता पर ध्यान देना चाहिए। क्या वे गौतम स्वामी से भी बड़े उत्कृष्टाचारी हैं? गौतम से भी महान् ज्ञानी हैं? कहाँ गौतम जैसे महान् सन्त एक संन्यासी परम्परा के परिव्राजक स्कन्दक के सामने जाकर स्वागत करते हैं और उसे प्रेमपूर्वक अपने यहाँ पर लाते हैं, बैठाते हैं। उससे धर्मचर्चा करते हैं। कितनी महानता है, कितनी धर्म-सहिष्णुता है !

आज गौतम प्रतिपदा के दिन गणधर गौतम का उज्ज्वल चरित्र, उनका महान् आदर्श, उनके जीवन का एक-एक पन्ना हमारे सामने खुल रहा है और हमें सीख दे रहा है–

जब मिले, जिससे मिले, दिल खोलकर मिले।
इससे बढ़कर और खूबी, कोई इन्सा में नहीं॥

दुनियाँ में सबसे प्रेम से मिलो, गुण ग्रहण करो, बुराइयों को नजरअन्दाज करो, काँटों को छोड़ो और फूलों को चुनो।

ऐसे महान् आदर्श चरित्र के धारक गौतम का जीवन आज हमें जीने की कला सिखाता है। क्षुद्र जीवन-शैली बदलकर उच्च जीवन जीने का संकेत करता है।

वीतरागता का आह्वान

भगवान महावीर के प्रति गौतम का अतीव अनुराग था। प्रभु यह बात जानते थे। उनका कहना था–गौतम ! तुम्हारा जो अनुराग मेरे शरीर के प्रति है, वही तुम्हारे केवलज्ञान में, तुम्हारी वीतरागता में बाधक बन रहा है। अनुराग एक बंधन है, जो व्यक्ति को भावात्मक दृष्टि से बाँधकर रखता है। स्नेह एक पर्दा है, जो जब तक मन पर पड़ा है केवलज्ञान का आलोक नहीं मिल सकता।

भगवान ने राजा हस्तिपाल की विशेष भक्ति और विनती देखकर अपना अंतिम चातुर्मास मध्यम पावा में किया। गौतम भी भगवान के साथ थे। जब कार्तिक वदी अमावस्या आने वाली थी तो प्रभु ने देखा, अब मेरा देह छूटने वाला है, आयुष्य की अंतिम घड़ी आ रही है। गौतम का मेरे प्रति गहरा अनुराग है। यदि उसके सामने ही मैं देह त्यागूँगा तो निष्प्राण देह को देखकर वह मेरे वियोग में डूब जायेगा। मोह के महाप्रवाह में बह जायेगा। ऐसा होता है। जब अपनी आँखों के सामने अपना कोई प्रियजन बिछुड़ता है तो पीछे वाले उसकी मृत देह देखकर मोह के आवेग में विलाप करने लग जाते हैं, क्रन्दन करते हैं। यदि आँखों के सामने वह दृश्य नहीं रहता तो मोह का प्रबल आवेग कुछ मंद हो जाता है। यही विचार कर भगवान ने अमावस्या के संध्याकाल में गौतम को पावापुरी के निकटवर्ती उपनगर में देव शर्मा नामक ब्राह्मण को उपदेश देने के लिए भेज दिया। गणधर गौतम को यह पता भी नहीं था कि यही रात मेरे महावियोग की रात होगी। प्रभु मुझे अकेला छोड़कर चले जायेंगे। और पता भी होता तब भी वे प्रभु की आज्ञा को बिना किसी तर्क-वितर्क के स्वीकारते। उनका तो एक ही उत्तर होता–**"तहमेय भंते !"**–प्रभो ! आपके आदेश तथ्य हैं, सत्य हैं, स्वीकार्य हैं।

गौतम स्वामी अमावस्या की रात में प्रभु से दूर हैं और प्रभु महावीर छट्ठम तप के दिन सोलह प्रहर तक निरन्तर प्रवचन कर रहे हैं। अमावस्या की रात्रि के अन्त में प्रत्यूषकाल में स्वाति नक्षत्र का योग आता है। धारा

प्रवाह प्रवचन करते हुए जब अपना अंतिम समय निकट देखते हैं तो कुछ समय के लिए मौन हो जाते हैं। ध्यानयोग मुद्रा में स्थिर होते हैं और काययोग का निरोध करके फिर वचनयोग का और फिर मनोयोग का निरोध करते हुए अयोगी हो जाते हैं। उसी क्षण देववाणी होती है–"सिद्धे बुद्धे अंतगए।"–भगवान सिद्ध हो गये, बुद्ध हो गये और अपने समस्त कर्मों का अन्त कर मोक्ष में जाकर बिराजमान हो गये।

एक क्षण के लिए समूचे संसार में अंधकार छा जाता है। यहाँ तक कि स्वर्ग में जहाँ नित्य प्रकाश छाया रहता है वहाँ भी एक अंधकार की लहर आती है। सम्पूर्ण लोक एक क्षणभर के लिए जैसे शोक सागर में डूब गया है, उदासी छा गई है। तभी उस अंधकार भरी अमावस की रात में देवगण मणियों का उद्योत करते हैं। "गए से भावुज्जोए दव्वुज्जोयं करिस्सामो।" –संसार का भाव प्रकाश, ज्ञानालोक लुप्त हो गया है अब हम द्रव्य प्रकाश करें ताकि अंधकार की विभीषिका कम हो। पावापुरी के नगरजन भी घरों में दीपक जलाकर अंधकार की भयानकता को कम करते हैं। उस रात में चारों तरफ प्रकाश की यह झिलमिलाहट ही दीपावली बन गई।

प्रभु निर्वाण का शोक और विलाप

गौतम स्वामी प्रातःकाल वापस पावापुरी की ओर आकर प्रभु के दर्शन करने को उतावले हो रहे हैं। तभी आकाश में हजारों देवताओं का कोलाहल सुनते हैं। सभी पावापुरी की ओर जा रहे हैं और परस्पर कह रहे हैं–"हन्त ! संसार का ज्ञान सूर्य अस्त हो गया। भगवान महावीर का निर्वाण हो गया।

गौतम जब ध्यान लगाकर सुनते हैं तो एकदम स्तंभित हो जाते हैं। क्या सचमुच प्रभु का निर्वाण हो गया? गौतम का रोम-रोम विचलित/कम्पित हो उठता है–"प्रभो ! मुझे छोड़कर चले गये। मैं कैसा भाग्यहीन हूँ कि अंतिम समय पर प्रभु के निकट होकर भी उनसे दूर रह गया। प्रभु ! अब कौन मुझे 'गोयमा ! गोयमा !' का मधुर सम्बोधन करेगा? कौन मेरे प्रश्नों का उत्तर देगा?"

मोह का आवेग विकट होता है। बड़े-बड़े ज्ञानी भी इस मोहावेश में बह जाते हैं। गौतम भी मोह-मुग्ध होकर बालक की भाँति रुदन करने लगते हैं। कभी अपने भाग्य को कोसते हैं तो कभी प्रभु को ही उपालंभ देते हैं।

मोह का प्रभाव सभी पर होता है, परन्तु एक अज्ञानी व मूर्ख मोह के प्रवाह में बहता है तो लाश की तरह बहता ही चला जाता है। रुकता नहीं,

मुड़ता नहीं। परन्तु ज्ञानी एक जीवित तैराक की भाँति उस प्रवाह को बदल लेते हैं या किनारा पा लेते हैं। गौतम गणधर भी कुछ समय पश्चात् स्वयं को सँभाल लेते हैं। भावों की धारा बदल जाती है। मोह का प्रवाह वीतरागता के तट पर ले आता है उन्हें—"गौतम ! किसके लिए विलाप कर रहा है तू? किसको उलाहना दे रहा है? वे प्रभु तो वीतराग थे। निर्मोह थे। उन्होंने तो इसीलिए अपने से दूर भेजा कि मैं कहीं मोहमूढ़ बनकर अपने को भूल नहीं जाऊँ? तू अपना स्वरूप समझ। निर्मोह से कैसा मोह। मोह ही तो केवलज्ञान का अवरोधक है। इस दीवार को हटा दे। मोह को जीत ले, तू भी प्रभु महावीर के समान वीतराग केवलज्ञानी बन जायेगा।" बस, गौतम के चिन्तन की दिशा बदल गई। दिशा बदली तो दशा भी बदल गई। मोहदशा त्यागकर वीतरागरूप में आ पहुँचे। सचमुच यह चिन्तन का चमत्कार है, भावों का प्रभाव है कि एक किनारा मोह का है, दूसरा निर्मोह का। बस, आत्मा को उस किनारे से उठाकर इस किनारे लगा लिया तो मोहमूढ़ आत्मा में वीतरागता का प्रकाश झिलमिला उठा।

कहते हैं पंजाब में एक फरीदा नामक सूफी संत हो गये। एक भक्त गया और बोला—"बाबा, भगवान कैसे मिलेंगे? प्रभु को पाने का रास्ता बताओ।" फरीदा अपने खेत में धान रोप रहा था। धान की पौध इधर से उखाड़कर उधर दूसरी क्यारी में लगाता जा रहा था। वह भक्त के प्रश्न पर चुप रहा। भक्त ने दुबारा पूछा—"बाबा, मेरे सवाल का जवाब तो दो।" फरीदा मुस्कराया और बोला—"भोले भाई ! देख नहीं रहा है मैं जो कर रहा हूँ, इधर से उखाड़कर उधर लगा रहा हूँ। बस, प्रभु को पाने का यही रास्ता है।"

फरीदा ! रबदा की पावणा।
इत्थो उठा उत्थे लावणा ?

मन को संसार की विषय वासना के कीचड़ से निकालकर बैराग्य की भूमि पर रोप दो, संसार की ममता से निकलकर इधर की तरफ मुड़ जाओ, बस भगवान मिल जायेगा।

यहीं वीतरागता का पथ गौतम को मिल गया। प्रभु के मोह से मुक्त होकर निर्मोह की तरफ बढ़े, मोहकर्म का क्षय कर निर्मल प्रशस्त अध्यवसायों की शुभ श्रेणी पर बढ़ते गये और कुछ ही समय में गौतम का अन्तर् हृदय केवलज्ञान के आलोक में जगमगा उठा। आकाश में देवताओं

के झुंड जा रहे हैं। भगवान का निर्वाण उत्सव मनाने जा रहे थे, अब वे बीच ही में उतरकर गौतम स्वामी का कैवल्य महोत्सव मनाने आने लगे।

तो कार्तिक शुक्ल प्रतिपदा का वह उषाकाल गौतम स्वामी के जीवन का ज्ञानोदय काल बना। प्राची में उदयाचल पर सूर्य उदय हो रहा है। संसार का अंधकार भागने लगा और उधर गौतम स्वामी का केवलज्ञान सूर्य उदय हो गया। एक ओर भगवान के निर्वाण का दुःख या शोक था और दूसरी ओर गौतम कैवल्य का उत्सव, आनन्द, उल्लास। यही है संसार की विचित्रता। कहीं हर्ष कहीं विषाद। अस्तु। आज गौतम प्रतिपदा के अवसर पर हमें गौतम स्वामी के जीवन पर ध्यान केन्द्रित करना है। दीपावली के प्रकाश उत्सव के बाद यह प्रतिपदा अध्यात्म-प्रकाश की ओर मोड़ती है हमें।

क्या गौतम स्वामी का स्मरण आप इसलिए करते हैं कि गौतम नाम से आपके भंडार भरे रहें। क्योंकि गौतम अक्षय निधि सम्पन्न है। परन्तु वह भंडार तिजोरी का या आत्मा का? भाई, तिजोरियाँ भरने के लिए, घर पर धन-धान्य का भंडार भरने के लिए गौतम स्वामी का स्मरण करते हैं तो यह आपकी भूल है। क्योंकि गौतम स्वयं ही धन-धान्य-समृद्धि के त्यागी थे तो आपकी तिजोरी भरने के लिए कहाँ से आयेंगे। गौतम तो एक गुणों का भंडार है। ज्ञान का अक्षय खजाना है। तप का एक जीवन्त रूप है। जिज्ञासा का महास्रोत है। सत्य धर्म का एक विनम्र साधक है। अगर आप अक्षय निधि की कामना करते हैं तो ज्ञान की अक्षय निधि प्राप्त कीजिए। गौतम को लब्धि-सम्पन्न बनाने वाली शक्ति है, तप। स्वाध्याय सरलता, साधुता और ज्ञान की उत्कट साधना है। आप गौतम के अनेकानेक गुणों में से एक गुण को भी चुन लेंगे, एक गुण भी ग्रहण कर लेंगे तो गौतम का अक्षय निधान आपके जीवन में जरूर साकार होगा। जब मूल को पकड़ोगे तभी फल-फूल मिलेंगे। मूल के बिना फूल कहाँ, केवल है भूल।

तो आज प्रतिपदा का यही सन्देश है कि प्रतिपदा अर्थात् प्रतिपत्ति, उपलब्धि। आज के दिन गौतम को केवलज्ञान की प्रतिपत्ति हुई है, तभी यह तिथि प्रतिपदा बन गई। प्रतिपदा का एक अर्थ है–प्रत्येक पद। हर कदम पर आप गौतम की भाँति जीवन के प्रतिपद पर सचेत रहो, जागरूक रहो, अप्रमत्त रहो, विनम्र रहो और गुणज्ञ रहो तो गुणों की, सुखों की, आनन्द की प्रतिपद पर प्रतिपत्ति होगी। यही गौतम प्रतिपदा का सन्देश है।

●●

ज्ञानाराधना का पावन पर्व : ज्ञानपंचमी

अज्ञान तिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जन शलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्री गुरवे नमः॥

–अज्ञान एक ऐसा अंधकार है, जिसे हजारों सूर्य का प्रकाश भी दूर नहीं कर सकता। अज्ञान संसार में सबसे भयानक अंधकार है। सबसे अधिक खतरनाक और सबसे ज्यादा दुःखदायी है। इसलिए अज्ञान से निकलकर ज्ञान का दीपक जलाने वाले, ज्ञान की ज्योति देने वाले गुरु को महान् उपकारी माना जाता है। ज्ञानदान संसार में सबसे श्रेष्ठ और सर्वोच्च दान है।

भूखे को रोटी, प्यासे को पानी और अन्धे को आँखों की रोशनी देने से भी बढ़कर पुण्य का कार्य है अज्ञानी को ज्ञान देना।

भारतीय संस्कृति में अनेक पर्व, त्यौहार आते हैं और अपने साथ एक खास इतिहास, विशेष सन्देश लेकर सबको जाग्रत कर जाते हैं। अक्षय तृतीया का महान् पर्व, तप और दान की महिमा प्रकट करता है, तो दशहरे का पर्व शक्ति की महत्ता, अन्याय से लड़कर न्याय की प्रतिष्ठा करने की प्रेरणा देता है। दीपावली की लक्ष्मी-पूजा अंधकार पर प्रकाश की विजय-वैजयन्ती फहराने का पर्व है। दीपावली बाह्य अंधकार पर प्रकाश की विजय का प्रदर्शन करती है तो दीपावली के पश्चात् आने वाली ज्ञानपंचमी मन के अंधकार को मिटाकर ज्ञान का दीपक जलाने की प्रेरणा लेकर आती है। ज्ञान और ज्ञानी की महिमा, ज्ञान-प्रचार की प्रेरणा और ज्ञान-आराधना का संदेश देती हुई ज्ञानपंचमी आज आपके द्वार पर दस्तक दे रही है।

आज ज्ञानपंचमी का पवित्र पर्व है। ज्योतिष के अनुसार प्रत्येक पक्ष की पंचमी, दशमी, पूर्णिमा तथा अमावस्या ये पूर्णा तिथि मानी गई हैं। कोई भी शुभ कार्य इन तिथियों में प्रारम्भ किया जाता है तो वह सानन्द पूर्ण होता है। यह ज्योतिष ग्रन्थों का विश्वास है। पंचमी पूर्णा तिथि है। जैन-परम्परा में कार्तिक शुक्ल पक्ष की पंचमी तिथि का विशिष्ट महत्त्व है। एक तो यह दीपावली के पश्चात् आती है। दीपावली को भगवान महावीर

का निर्वाण हुआ। इसके बाद आती है प्रतिपदा। इस प्रतिपदा को गौतम स्वामी को केवलज्ञान की प्राप्ति हुई। देवताओं ने भगवान महावीर का निर्वाण उत्सव तथा गौतम स्वामी का केवल महोत्सव मनाया। इस प्रकार एक ज्ञान सूर्य का निर्वाण और एक दूसरे ज्ञान सूर्य का उदय ये दो महत्त्वपूर्ण घटनाएँ इन दो दिनों में घटी हैं। ज्ञान की महिमा का यह वातावरण बना है।

ज्ञानदान का दिन

प्रतिपदा के बाद द्वितीया आता है जो भाई-दूज के नाम से प्रसिद्ध है। कहते हैं भगवान के निर्वाण पश्चात् बड़े भाई राजा नन्दीवर्धन ने शोकमग्न होकर दो दिन तक कुछ भी खाया-पीया नहीं, उदासी में बैठे रहे। तब उनकी बहन सुदर्शना उस दिन नन्दीवर्धन के घर आई और भाई को अपने हाथ से भोजन कराया। भगवान महावीर के वियोग विरह की वेदना भूलकर पुनः उनको सामान्य किया। इस कारण इस तिथि को 'भाई-दूज' के रूप में मानने की प्रथा चल पड़ी। बहन भाई के घर जाती है। मिष्टान्न वगैरह से भाई को अपने हाथ से भोजन कराती है। यह पर्व एक प्रकार से भाई-बहन के स्नेह और वात्सल्य का प्रतीक बन गया है। दूज के बाद तीज और चौथ ये दो तिथियाँ आती हैं। यद्यपि तीज को जया तिथि माना है और चौथ रिक्ता तिथि है। पंचमी पूर्णा तिथि है। कुछ इतिहासकारों की यह भी एक धारणा है कि पंचमी के दिन ही गणधर सुधर्मा भगवान के पट्ट पर विराजमान हुए होंगे। गणधर सुधर्मा से भगवान महावीर का अवरुद्ध ज्ञान प्रवाह आगे प्रवाहित हुआ है। इस दृष्टि से पंचमी को श्रुतज्ञान प्रवाह की आदि तिथि माना जाता है। ज्ञान प्रवाह प्रवाहित होने के कारण श्रुतपंचमी या ज्ञानपंचमी नाम से इस तिथि को जैन-परम्परा में अत्यधिक महत्त्व मिला है। आज के दिन गुरु अपने नव शिष्यों को शास्त्र की पहली वाचना देते थे। नया शास्त्र स्वाध्याय आज के दिन प्रारम्भ किया जाता था। यह भी ज्ञानपंचमी का महत्त्व प्रकट करता है।

जैन-परम्परा में ज्ञानपंचमी के दिन श्रुताराधना, श्रुत-उपासना की परम्परा कब से प्रचलित हुई इसका कोई लिखित इतिहास तो प्राप्त नहीं होता। परन्तु जो श्रुतानुश्रुत और परम्परागत वार्त्ताएँ हैं उनके अनुसार यह कहा जाता है कि आज के ही दिन भगवान के २७वें पट्टधर अन्तिम पूर्वधर आचार्य श्री देवर्द्धिगणी ने कण्ठस्थ चली आ रही श्रुतज्ञान की परम्परा को

पुस्तकारूढ़ करने का प्रारम्भ किया। आज ही के दिन शास्त्र लिखने की पहली परिपाटी चालू हई। यह घटना वी. नि. के ९८० वर्ष पश्चात् घटी जो जैन इतिहास की दृष्टि से बड़ी महत्त्वपूर्ण और युगान्तरकारी है।

इसके पहले सभी शास्त्र कण्ठस्थ परम्परा से चलते रहे। गुरु शिष्य को ज्ञान सिखाता और शिष्य फिर अपने शिष्य को ज्ञानदान देता। इस प्रकार कण्ठस्थ ज्ञान परम्परा के कारण १४ पूर्व का जो विशाल महासागर जितना अगाध आगमज्ञान था वह विस्मृत होता-होता क्षीण धारा जैसा रह गया। बूँद-बूँद रिसने से घड़ा भी खाली हो जाता है। थोड़ा-थोड़ा शास्त्र लुप्त होते-होते महासागर जितना ज्ञान चुल्लूभर रह जाना एक बहुत बड़ी क्षति है। श्रमणसंघ को यह क्षति पहुँच रही थी। कुछ तो काल प्रभाव से बुद्धि-स्मृति-धारणा की दुर्बलता, प्रमाद की वृद्धि और कुछ लगातार कई दुष्काल पड़ने से विशिष्ट श्रुताभ्यासी श्रमणों का काल कवलित हो जाना श्रुतज्ञान के लुप्त होने का खास कारण रहा है। स्मृति-दुर्बलता, धारणा शक्ति की कमी और प्रमाद की वृद्धि होने के बावजूद भी श्रमण-परम्परा में शास्त्र लिखने, पुस्तक लिखने व पुस्तकें रखने में 'पाप' होने की एक धारणा भी श्रुतज्ञान लुप्त होने का एक प्रमुख कारण रही।

शास्त्र-लेखन का आरम्भ

आचार्य श्री देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण के समय भी यह धारणा थी। इस कारण मथुरा में आचार्य नागार्जुन के नेतृत्व में तथा वल्लभी में आचार्य देवर्द्धिगणी के नेतृत्व में विशाल साधु-सम्मेलन हुए। आगम वाचनाएँ हुईं। लुप्त होते श्रुतज्ञान के प्रति सभी ने चिन्ता प्रकट की। श्रुतज्ञान को निर्मल व शुद्ध रूप में सुरक्षित रखने के उपायों पर भी चर्चा हुई परन्तु शास्त्रों को लिखने का महत्त्वपूर्ण निर्णय नहीं कर सके। अचानक एक घटना होती है–

एक बार आचार्य देवर्द्धिगणी अस्वस्थ हुए तो सोंठ की गाँठ घिसकर ले ली। सोंठ की गाँठ घिसने के बाद जितनी बची उसे कान में टाँग ली कि सूर्यास्त होने से पूर्व वह गृहस्थ को वापस सँभला देंगे। किन्तु आचार्यश्री भूल गये। सायंकाल प्रतिक्रमण कर रहे थे तृतीय खमासणा बोलने के लिए। जैसे ही वे नीचे झुके वैसे ही कान पर टँगी सोंठ की गाँठ सामने आकर गिर गई। आचार्यश्री ने देखा कि सोंठ की गाँठ कान पर टाँगकर वे भूल गये। बस इसी बात पर उनका चिन्तन मोड़ ले गया। वे चिन्तन में गहरे उतर गये–काल का प्रभाव स्मृति को दुर्बल करता जा रहा है। एक पूर्वधर आचार्य भी जब कान

पर सोंठ टाँगकर भूल जायेगा तो उन सामान्य श्रमणों की स्मृति का क्या होगा? वे धीरे-धीरे आगम भी भूलते जायेंगे। और इस प्रकार आगमज्ञान की महान् धरोहर लुप्त हो जायेगी। आगमज्ञान लुप्त हो गया तो फिर शुद्ध श्रमणाचार का पालन भी कैसे होगा? धर्म का आधार ज्ञान है। आचार की मूल भित्ति आगम है। आगम का दीपक जलता रहेगा तो आचार की शुद्ध परम्परा का दर्शन भी होता रहेगा। आगमज्ञान के अभाव में न तो श्रमणाचार शुद्ध रहेगा और न ही श्रावकाचार। आचार्यश्री ने गहराई से चिन्तन किया और एक युगान्तरकारी साहसिक निर्णय लिया। अब शीघ्र ही कण्ठस्थ आगमज्ञान को लिपिबद्ध करना चाहिए। आने वाले समय में यदि शास्त्र पुस्तकारूढ़ नहीं होंगे, आगम लिपिबद्ध नहीं होंगे तो जिनवाणी का यह सूर्य मिथ्यात्व के राहु द्वारा ग्रस लिया जायेगा। और इस महत्त्वपूर्ण अपूर्व निर्णय को क्रियान्वित किया गया आज के दिन। कार्तिक शुक्ल पंचमी के शुभ दिन में शास्त्रों का प्रथम बार लेखन प्रारम्भ हुआ। श्रुतज्ञान लेखन का यह आदि चरण होने के कारण इस पंचमी को श्रुतपंचमी व ज्ञानपंचमी के रूप में मान्यता मिली जो आज तक चली आ रही है।

शास्त्र-लेखन की परम्परा चली तो सम्भव है उस युग के अनेक आचार्यों ने भी इसका विरोध किया होगा। इसे आगम विरुद्ध तथा साध्वाचार के प्रतिकूल बताया होगा, किन्तु आचार्य श्री देवर्द्धिगणी जैसे पूर्वधर, साहसिक और दूरदर्शी आचार्य ने श्रुत-रक्षा के लिए यह अत्यन्त आवश्यक समझा और आगमों को पुस्तकारूढ़ करने का शुभारम्भ कर दिया। ज्ञानपंचमी का यह दिन श्रुत-सेवा के इतिहास में उस समय एक युगान्तरकारी सिद्ध हुआ। यदि शास्त्रों के लेखन की परम्परा नहीं चली होती और अनेक श्रुत भक्त श्रेष्ठियों ने इस श्रुत-सेवा में अपना योगदान नहीं किया होता तो बहुत सम्भव है आज जिनवाणी के रूप में, आगम और शास्त्र के रूप में हमें जो कुछ प्राप्त है वह भी नहीं रहता। ज्ञान की दृष्टि से, शास्त्र की दृष्टि से हमारा ज्ञान भण्डार खाली रह जाता।

संसार में जैन आगमों के प्रति आज यह दृढ़ धारणा बन रही है कि भगवान महावीर का चिन्तन, दर्शन, तत्त्वज्ञान विज्ञान सम्मत है, बल्कि आज के विज्ञान से भी दो कदम आगे है अर्थात् आज जहाँ तक विज्ञान नहीं पहुँचा है, वहाँ तक का मार्ग भगवान महावीर का तत्त्वज्ञान आज भी हमें दिखा रहा है। सम्भव है, कल विज्ञान भी वहाँ तक पहुँच जाये। जैनधर्म को, जैन तत्त्वज्ञान को एक पूर्ण वैज्ञानिक और तर्कसंगत तत्त्वदर्शन होने

का जो गौरव, जो सम्मान आज के संसार में प्राप्त हो रहा है इसका सम्पूर्ण श्रेय आचार्य देवर्द्धिगणी के इन सत्प्रयत्नों को है जिन्होंने शास्त्र-सुरक्षा के लिए एक ऐतिहासिक कार्य ज्ञानपंचमी के इस पवित्र दिन में प्रारम्भ किया।

श्रुताराधना के बाह्य कारण

आगम में बताया है, पाँच ज्ञानों में श्रुतज्ञान सूर्य की तरह स्व-पर प्रकाशक है। मतिज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान भी स्वयं के विषय में स्वयं कुछ भी नहीं कह सकते। इसलिए पाँच ज्ञान में श्रुतज्ञान वाचक है। बाकी चार ज्ञान मूक हैं, अभाषक हैं। श्रुतज्ञान ही भाषक है। मतिज्ञान आदि चारों ज्ञान अपने-अपने विषय का ज्ञान कर सकते हैं, किन्तु उस विषय को अभिव्यक्ति देना, प्रकट करना, प्रवचन करना यह सब श्रुतज्ञान का विषय है। वर्णमाला श्रुतज्ञान का विषय है और इस श्रुतज्ञान के सहारे ही हम दूसरों का ज्ञान ग्रहण कर सकते हैं और दूसरों तक अपना ज्ञान पहुँचा सकते हैं। एक आचार्य ने कहा है–

अन्यज् ज्ञान चतुष्टयं स्वविषयं नैवाभिधातुं क्षमः।
श्रीमत्केवलिनोऽपि वर्णनिकरज्ञानेन तत्त्वं जगुः॥
स्पष्टं स्वात्म-पर प्रबोधन विधौ सम्यक् श्रुतं सूर्यवद्।
भेदाः पूर्वमिताः श्रुतस्य गणिभिर्वं वंद्याः स्तुवे तान् मुदा॥

हम जो बोलते हैं, लिखते हैं, उपदेश करते हैं वह सब श्रुतज्ञान का विषय है। केवली भगवान भी वर्ण समुदाय की सहायता से ही उपदेश व प्रवचन करते हैं और वह श्रुतज्ञान ही है। इसलिए संसार में सबका उपकार करने वाला श्रुतज्ञान है।

श्रुतज्ञान को स्वयं गणधर देव वन्दना करते हैं। भगवतीसूत्र की आदि में स्वयं तीर्थंकर भगवान महावीर कहते हैं–

नमो सुय देवस्स।

–श्रुत-देवता को नमस्कार हो।

उत्तराध्ययनसूत्र में गणधर गौतम भगवान से प्रश्न करते हैं–

सुयस्स आराहणयाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

–श्रुत की आराधना करने से जीव को किस फल की प्राप्ति होती है ?

भगवान उत्तर देते हैं–

सुयस्स आराहणयाए णं अन्नाणं खवेइ। न य संकिलिस्सइ !

–उत्तरा. २९/२५

–श्रुत की आराधना करने वाला अज्ञान का नाश करता है। ज्ञान का प्रकाश प्राप्त करता है और ज्ञानी जीवन में कभी भी खेद को, क्लेश को प्राप्त नहीं होता।

अज्ञानी जीव अन्धे मनुष्य की तरह पग-पग पर ठोकरें खाता है। ज्ञानी मनुष्य जहाँ भी जाता है, प्रसन्नता, प्रकाश और आनन्द बिखेरता है। अज्ञानी धर्म की अवहेलना करता है। ज्ञानी धर्म की प्रभावना करता है। इसलिए श्रुतज्ञान की आराधना, उपासना, स्वाध्याय करना आज के दिन की विशेष प्रेरणा है।

श्रुतज्ञान के सहायक दस कारण

आचार्य धर्मघोषसूरि ने श्रुतज्ञान आराधना के पाँच आभ्यन्तर कारण और पाँच बाह्य कारण बताते हुए कहा है–

आरोग्य-बुद्धि-विनयोद्यम-शास्त्ररागाः,
पंचान्तराः पठन सिद्धिकरा नराणाम्।
आचार्य-पुस्तक-निवास सहाय-वस्त्रा-
बाह्याश्च पंच पठनं परिवर्धयन्ति॥

(१) आरोग्य, (२) बुद्धि, (३) विनयशीलता, (४) उद्यम, और (५) श्रुत के प्रति भक्ति, अनुराग; ये पाँच आभ्यन्तर कारण हैं, जो ज्ञान-प्राप्ति में सहायक बनते हैं तथा (६) आचार्य (गुरु–अध्यापक), (७) पुस्तक, (८) निवास, (९) सहायता, तथा (१०) भोजन आदि की अनुकूल सुविधा; ये पाँच बाह्य कारण विद्या व ज्ञान-प्राप्ति में सहायक होते हैं।

१. सबसे पहली बात है–आरोग्य। शरीर स्वस्थ व रोगरहित होगा तो ज्ञान-प्राप्ति का प्रयास किया जायेगा। पेट दुःखता है, बुखार चढ़ रहा है, कहीं दर्द हो रहा है तो ऐसी स्थिति में अध्ययन, ज्ञानार्जन नहीं हो सकता।

२. शरीर स्वस्थ हो या बुद्धि का ब्रह्मचारी हो, अर्थात् मंद बुद्धि हो तो भी शास्त्रज्ञान नहीं हो सकता। गुरु से जो पढ़े वह याद रहना चाहिए। उसे ग्रहण करने व धारण करने की योग्यता भी होनी चाहिए। वरना

'**सुबह पढ़ा रात को सफा**' वाली बात हो तो खाली पट्टी पर लिखते-लिखते गुरु भी ऊब जाता है। ग्रहण शक्ति, स्मरण शक्ति और धारणा शक्ति तीनों अच्छी हों तभी ज्ञान की प्राप्ति संभव है।

३. शरीर स्वस्थ हो, बुद्धि भी अच्छी हो, किन्तु ग्रहण करने वाला अविनीत हो, उद्दण्ड हो, उच्छ्रंखल हो तो वह गुरु से ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता। भगवान महावीर ने बताया है–अविनीत, रोगी और खाने-पीने का लालची व्यक्ति, विषयों का लोभी व्यक्ति ज्ञान प्राप्त करने का पात्र नहीं है।

४. चौथी बात है–उत्साह। जिसमें ज्ञान-प्राप्ति की लगन होगी, उत्साह होगा, परिश्रम करने की आदत होगी वही ज्ञानार्जन कर पावेगा। "**नहि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः।**"–सोये सिंह के मुँह में मृग नहीं आता। भोजन के लिए उसे परिश्रम करना पड़ता है। उसी प्रकार ज्ञान-प्राप्ति के लिए उद्यम, उत्साह और रात-दिन बक चेष्टा बार-बार उसके लिए सचेष्ट रहना जरूरी।

५. पाँचवाँ साधन है–शास्त्रानुराग। शास्त्र के प्रति आदरभाव। श्रद्धा और आस्था भी होनी चाहिए। भगवान ने बताया है–"**सुयं तइयं चक्खु।**" –शास्त्र श्रुत मनुष्य का तृतीय नेत्र है। भीतर की आँख है। इसलिए शास्त्र के प्रति आदरभाव होना चाहिए। शास्त्र में आत्म-विकास का मार्ग बताया है। उसके प्रति श्रद्धा होनी चाहिए। श्रद्धा और आदर से विद्या-प्राप्ति शीघ्र होती है। बुद्धि भी तेजस्वी होती है। ज्ञान-प्राप्ति के ये पाँच अन्तरंग कारण हैं और पाँच बाह्य कारण भी हैं।

६. छठा साधन है–गुरु का संयोग। ज्ञान-प्राप्ति की तीव्र उत्कंठा हो परन्तु ज्ञानी, समर्थ गुरु नहीं मिले तो ज्ञान कैसे प्राप्त हो। लेने वाला हो, परन्तु देने वाला न मिले तो पात्र खाली ही रहेगा न? गुरु से मतलब–गुरु की योग्यता वाला गुरु मिलना चाहिए, जो ज्ञानी हो, सदाचारी हो और शिष्य का हितचिन्तक हो। ये तीन बातें गुरु में हों, वही गुरु ज्ञानदाता हो सकता है।

७. सातवाँ साधन है–पुस्तक। प्राचीन समय में जब प्रेस नहीं थीं। मुद्रण कला विकसित नहीं हुई थी। उस युग में पुस्तक-प्राप्ति बहुत दुर्लभ थी। हाथ से ग्रन्थ लिखने पड़ते थे। एक-एक शास्त्र लिखने में महीनों का समय लग जाता था। फिर उसकी कीमत भी बहुत होती थी। हर

कोई उसे खरीद नहीं सकता, हर जगह के शास्त्र मिल नहीं सकते थे। उस युग में भी ज्ञान जिज्ञासु व्यक्ति परिश्रम करके, व्यवस्था करके शास्त्र प्राप्त करते थे। शास्त्र सुलभ कराने वाले उदारमना गृहस्थ भी अपना धन व्यय करते थे। आज़ अध्ययन की सुविधा बहुत है, परन्तु ज्ञान की कमी हो रही है। जब अध्ययन की सुलभता कम थी, शास्त्र दुर्लभ थे, ज्ञानदाता दुर्लभ थे उस युग में ज्ञानाराधना बहुत होती थी।

८. आठवीं बात अध्ययन के अनुकूल स्थान हो, उचित आवास हो। क्षेत्र ऐसा हो, जहाँ शास्त्र आदि सुलभ हो, वातावरण अच्छा हो। श्रावक समाज अध्ययन करने वाले विद्यार्थियों को व्यवधान नहीं डाले। उन्हें अन्य फालतू बातों व वितंडावाद में न डालें—ऐसा स्थान भी विद्या-प्राप्ति में सहायक होता है। प्राचीन समय में काशी, पूना, कश्मीर, तक्षशिला आदि विद्या क्षेत्र थे। वहाँ दूर-दूर के विद्यार्थी ज्ञानार्जन के लिए जाते थे।

९. नौवाँ साधन है—सहाय। ज्ञानार्जन में सहायता देने वाला सहपाठी भी होना चाहिए जिससे एक-दूसरे में प्रतिस्पर्द्धा भी होती है और एक-दूसरे का उत्साह भी बढ़ाते रहते हैं। परस्पर मदद करते रहते हैं।

१०. ज्ञान-प्राप्ति का दसवाँ साधन है—भोजन। विद्यार्थी को अनुकूल भोजन की प्राप्ति विद्याध्ययन में बहुत सहायक होती है। विद्यार्जन के लिए आवश्यक दूध, घृत आदि विगय की उपलब्धि भी जरूरी है। रूक्ष भोजन से बुद्धि में जड़ता व मन्दता आती है। साथ ही चटपटा मसालेदार भोजन हानि करता है। इस प्रकार विद्यार्थी को सादा, स्निग्ध, मधुर भोजन जहाँ उपलब्ध हो तो विद्या सुलभ हो जाती है।

आचार्यों ने कहा है—ये दस बातें जब सुलभ हों या उपलब्ध हों तो ज्ञान की आराधना अच्छी तरह हो सकती है।

इसी के साथ ज्ञान के आठ आचार बताये गये हैं। जैसे—काल, विनय, बहुमान आदि। इन पर विस्तार से फिर कभी चर्चा करूँगा, परन्तु ज्ञानाचार का पालन करते हुए जो ज्ञान की आराधना, उपासना करते हैं उन्हें श्रुतज्ञान की प्राप्ति होती है और वे अपने ज्ञानावरणीय कर्म को क्षय कर सकते हैं।

इसके साथ ही ज्ञान की आशातना से भी बचना बहुत जरूरी है। जैसे–ज्ञान के प्रति कभी भी अरुचि या द्वेषभाव नहीं आना चाहिए। ज्ञान को तुच्छ नहीं मानना चाहिए। ज्ञान का महत्त्व है उसे समझकर ज्ञान का आदर करना चाहिए।

ज्ञानी पुरुषों के साथ दुर्व्यवहार नहीं करना चाहिए। ज्ञानदाता चाहे गुरु हो, धर्मगुरु हो या अध्यापक हो; उनका उपहास करना, उनके साथ अभद्र व्यवहार करना या मारपीट करना यह ज्ञान की अशातना है। इससे ज्ञानावरणीय कर्म सघन होता है। ज्ञान-प्राप्ति दुर्लभ होती है।

गुणमंजरी-वरदत्त की कथा

प्राचीन जैन कथा साहित्य में ज्ञानपंचमी कथा में गुणमंजरी और वरदत्तकुमार की कथा प्रसिद्ध है। इस कथा में यही बताया गया है कि ज्ञान की अशातना करने से ज्ञानावरणीय कर्म का बंध होता है, जिस कारण प्राणी मूर्ख, मन्द बुद्धि, गूँगा या अज्ञानी रह जाता है।

संक्षेप में वह कथा इस प्रकार है–

पद्मपुर नामक नगर में सिंहदास नाम का सेठ रहता था। उसकी पत्नी का नाम कपूरतिलका था। सेठ की एक पुत्री थी गुणमंजरी। वह जन्म से ही गूँगी और रोगी थी। सेठ ने खूब धन खर्च करके उसकी चिकित्सा करवाई परन्तु कोई लाभ नहीं हुआ। सेठ-सेठानी पुत्री की यह दशा देखकर बहुत दुःखी रहते थे।

एक दिन नगर में एक आचार्य पधारते हैं। आचार्यश्री ने ज्ञान विराधना के कटु फलों पर प्रभावशाली प्रवचन किया, जिसे सुनकर सेठ सिंहदास ने आचार्यश्री से पूछा–"गुरुदेव ! मेरी पुत्री गुणमंजरी ने पूर्व-जन्म में ऐसा क्या पापकर्म किया था, जिसके फलस्वरूप यह गूँगी और रोगी बनी है।"

आचार्यश्री अवधिज्ञानी थे। उन्होंने फरमाया–प्राचीनकाल में भरत क्षेत्र के एक गाँव में जिनदेव नाम का सेठ रहता था। उसकी पत्नी थी सुन्दरी। सेठ के पाँच पुत्र थे। बड़े होने पर सेठ ने पाँचों पुत्रों को पाठशाला भेजा। बच्चे आलसी और मंद बुद्धि थे। पढ़ाई नहीं करते। जब समझाने पर भी नहीं समझे तो अध्यापक ने उनको मार लगाई।

बच्चे रोते-रोते घर पर आये। अपनी माँ से शिकायत की–"अध्यापक हमें मारता है।" माँ ने उन्हें पढ़ाई की प्रेरणा देने के बजाय उलटी पट्टी पढ़ाई–"अध्यापक तुम्हारी पिटाई करता है तो तुम पाँचों मिलकर उसको

पीट डालो।'' दूसरे दिन बच्चों ने मिलकर अध्यापक की पिटाई कर दी और दौड़कर घर पर आ गये। माता ने उन्हें शाबाशी दी और पुस्तकें, पट्टी वगैरा को जला डाला। सेठ ने पुत्रों को पढ़ने के लिए कहा तो सेठानी बोली–''मुझे पुत्रों को नहीं पढ़ाना है।''

पुत्र बड़े हुए तो उनके विवाह की समस्या आ गई। सेठ ने अपनी पत्नी से कहा–''देखो, अब इन मूर्खों को कोई भी अपनी लड़की देने तैयार नहीं है। यह सब तुम्हारी करनी का फल है।'' इस प्रकार सेठ का सेठानी के साथ झगड़ा होता रहता। वह सुन्दरी सेठानी वहाँ से मरकर यहाँ पर गुणमंजरी बनी है।

गुणमंजरी भी वहीं बैठी थी। उसने अपना पूर्व-जन्म सुना तो उसे जाति-स्मरण ज्ञान हो गया। वह अपने पापों पर बहुत पछताने लगी। सेठ सिंहदास ने पूछा–''गुरुदेव ! अब क्या किया जाये जिससे इसका प्रगाढ़ ज्ञानावरणीय कर्म हल्का पड़े ? इसका गूँगापन मिटे और शरीर नीरोग हो जाय।''

आचार्यश्री ने कहा–''कार्तिक सुदी पंचमी को ज्ञानपंचमी के दिन से ज्ञान की आराधना प्रारम्भ करो। महीने की प्रत्येक शुक्ल पंचमी को चौविहार उपवास करके **'नमो नाणस्स'** इस ज्ञान पद का जाप करो, सुपात्र दान दो, प्रभु-भक्ति करो। पाँच वर्ष पाँच मास अर्थात् ६५ उपवास व जाप करने से इसका यह कष्ट दूर होगा।

आचार्यश्री की सभा में वहीं उस नगर का राजा अजितसेन भी उपस्थित था। उसके वरदत्त नाम का पुत्र था। राजा ने आचार्यश्री से निवेदन किया–''भगवन् ! मेरा यह वरदत्त नाम का पुत्र मंद बुद्धि है। पढ़ता भी नहीं और कुछ भी समझता नहीं। शरीर भी इसका कुष्ट पीड़ित है, इसने पूर्व-जन्म में क्या पाप किया जिस कारण इसे यहाँ इतने उपचार करने पर भी कोई लाभ नहीं मिला।''

आचार्यश्री ने वरदत्त के पूर्व-जन्म की घटना सुनाते हुए कहा–''प्राचीन काल में वसु नाम के श्रेष्ठी के दो पुत्र थे–वसुसार और वसुदेव। दोनों पुत्रों ने दीक्षा ली। छोटा भाई वसुदेव बहुत तीक्ष्ण बुद्धि था। उसने अनेक शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त किया। प्रतिदिन वह १०० साधुओं को पढ़ाता था। इतना श्रम करने से वह थक जाता था। एक दिन रात को थककर गहरी नींद में सोया था कि एक साधु ने उसे जगाकर कहा–''मुझे अमुक पाठ का अर्थ समझाइये।'' मुनि वसुदेव बहुत नाराज हुए। वे बोले–''चले जाओ यहाँ से, मैं तुम्हें नहीं पढ़ाऊँगा, मुझे नींद लेने दो।''

फिर मन ही मन सोचने लगे–'मैंने क्या पाप किया था कि यह पढ़ाई कराने का झंझट लगाया। न तो आराम कर सकता हूँ, न ही पूरी नींद ले सकता हूँ। इससे तो मेरा बड़ा भाई वसुसार मूर्ख है तो अच्छा है, आराम से रहता है, निश्चिन्त होकर सोता है, कोई तकलीफ नहीं उसे। अब मैं किसी को नहीं पढ़ाऊँगा।' इस प्रकार मुनि वसुदेव ने ज्ञान की आशातना निंदा की, दूसरों को ज्ञानदान देना बन्द किया। वही मुनि वसुदेव मरकर यहाँ वरदत्त बना है और ज्ञान की अशातना के दुष्फल रूप में यह मंद बुद्धि हुआ है।

वरदत्तकुमार को भी अपना पूर्व-जन्म सुनकर जाति-स्मरण ज्ञान हो गया। उसे बड़ा पश्चात्ताप हुआ। आचार्यश्री के बताये अनुसार उसने भी ज्ञानपंचमी की आराधना की।

इस प्रकार ज्ञानपंचमी की शुद्ध आराधना करने के कारण गुणमंजरी तथा वरदत्तकुमार का उद्धार हो गया। ज्ञानपंचमी के सम्बन्ध में प्राचीन ग्रन्थों में यह कथा आती है। इसका सार यही है कि ज्ञान के साधन पुस्तक-शास्त्र की अशातना करना, गुरु के साथ दुर्व्यवहार करना और ज्ञान की निन्दा करना तथा ज्ञान होते हुए भी दूसरों को ज्ञान नहीं देना। यह सब बातें ज्ञानावरणीय कर्म का प्रगाढ़ बंधन बाँधने वाली हैं। अध्यापक शिक्षा देने वाला यहाँ गृहस्थ है। पट्टी-पुस्तक और धार्मिक शास्त्र नहीं हैं, किन्तु फिर भी वे ज्ञान के उपकरण हैं, ज्ञान के साधन हैं तो उनका तिरस्कार व अपमान करना भी ज्ञान की अशातना है। इसलिए गुरुजनों का, अध्यापकों का कभी अपमान नहीं करना चाहिए। ज्ञान के साधन पुस्तक, कागज, कलम आदि का भी तिरस्कार नहीं करना चाहिए। यह कहानी हमें इन बातों के प्रति सावधान करती है।

आज ज्ञानपंचमी के दिन इन बातों पर आज की शिक्षा पद्धति अध्यापक व छात्रों के व्यवहार तथा पुस्तकों आदि की अवज्ञा, अवहेलना पर विचार करने की प्रेरणा देती है कि हम क्या करते जा रहे हैं। ज्ञान की अवमानना करके हम अपनी बुद्धि का विकास-विस्तार में अवरोध तो पैदा नहीं कर रहे हैं? आज विद्यालयों में छात्र मिलकर अध्यापकों को पीट देते हैं। पुस्तकें फाड़ डालते हैं। तोड़-फोड़ करते हैं। उनकी ये हरकतें उन्हें विद्याध्ययन से, ज्ञान-प्राप्ति से वंचित कर रही हैं।

श्रुत-सेवा के उल्लेखनीय उदाहरण

जैन-परम्परा का इतिहास बताता है कि जैन आचार्यों ने तथा उनकी प्रेरणा से प्रेरित बड़े-बड़े श्रीमन्तों व राजाओं ने श्रुतज्ञान को सुरक्षित रखने

के लिए भगीरथ प्रयत्न किये हैं। अपनी शक्ति और धन का पूर्ण सदुपयोग किया है। आज पुस्तक-मुद्रण की सुविधाएँ प्राप्त हैं। छपाई की श्रेष्ठतम तकनीक विकसित हो गई है। कम्प्यूटर का युग आ गया है। मिनटों में एक पुस्तक की हजार, दस हजार, लाख प्रतियाँ छप जाती हैं। प्राचीन समय को देखते हुए आज पुस्तक-लेखन, मुद्रण बहुत सरल और बहुत सस्ता है। उस युग की कल्पना करें, जिस युग में न तो कागज उपलब्ध था, न ही स्याही और न ही कलम की सुविधाएँ भी प्राप्त थीं। मुद्रण की तो बात ही क्या? ताड़-पत्रों पर एक-एक अक्षर लिखा जाता था। स्याही भी हाथ से घोंट-घोंटकर बनाई जाती थी। उस युग की कल्पना भी आज नहीं की जा सकती। उस समय में भी सैकड़ों, हजारों ग्रन्थ, लाखों, करोड़ों स्वर्ण-मुद्राएँ खर्च करके लिखाये जाते थे।

कहा जाता है बस्तुपाल मंत्री, जिन्होंने आबू देलवाड़ा में अद्भुत जिन-मन्दिर बनवाये, उन्होंने आचार्य के श्रीमुख में श्रुतज्ञान प्रसार की महिमा सुनी। १८ करोड़ स्वर्ण-मुद्राएँ खर्च करके तीन बड़े-बड़े विशाल ज्ञान भण्डार बनवाये जहाँ पर हजारों आगम ग्रन्थ सुरक्षित रखे गये।

जैन योग के महान् युग प्रवर्तक आचार्य श्री हरिभद्रसूरि के विषय में यह प्रसिद्ध है कि उन्होंने १,४४४ ग्रन्थों की रचना की। कहा जाता है जब आचार्यश्री ने १,४४४ ग्रन्थों की रचना का संकल्प लिया तो उनके सामने समस्या आई। "**स्वल्पं तथायुः बहवश्च विघ्नाः।**"–आयुष्य काल तो बहुत परिमित है, स्वल्प है। उसमें भी विघ्न-बाधाएँ आती रहती हैं। समय कम है; मैं कैसे इतने ग्रन्थ लिख सकूँगा। पूरे दिनभर ग्रन्थ लिखता रहूँ तब भी १,४४४ ग्रन्थों की रचना नहीं कर पाऊँगा। रात्रि के समय लिखने का कार्य हो सके तभी मेरा यह लक्ष्य पूर्ण हो सकता है। परन्तु रात्रि में निरवद्य प्रकाश कहाँ से आये? दीपक आदि के प्रकाश में तो जीव विराधना होगी।

वहाँ पर एक धनाढ्य श्रावक था लल्लिग। बड़ा उदार और गुरुभक्त था। आचार्यश्री ने उसके सामने अपनी भावना रखी और निरवद्य प्रकाश की बात कही–"यदि कोई ऐसा मणि रत्न मिल जाये जिसके अचित प्रकाश में मेरा यह कार्य हो सके तो ''''।"

श्रावक लल्लिग ने एक ऐसा मणि प्राप्त किया और वह उपाश्रय में लाकर आचार्यश्री के पास रख दिया। आचार्य श्री हरिभद्रसूरि ने उसके प्रकाश में रात्रि में ग्रन्थ-रचना प्रारम्भ की और कुछ ही समय में विविध विषयों के १,४४४ ग्रन्थों की रचना कर डाली।

तो ज्ञान प्रसार में इस प्रकार सहयोगी बनने वाले महानुभावों के प्रयत्नों से ही आज जैन साहित्य की श्री-समृद्धि सुरक्षित रही है और सदा विस्तार पाती रही है।

थराद (गुजरात) के आभु सिंघवी ने तीन करोड़ रुपया खर्च करके हजारों शास्त्र लिखाये। कई शास्त्र स्वर्णाक्षरों में तथा बाकी शास्त्र स्याही से लिखवाकर ज्ञान भण्डारों में सुरक्षित किये।

महाराज कुमारपाल के विषय में तो यह कहा जाता है कि उन्होंने सात सौ लहियाओं (लिपिकारों) को वेतन पर रखा। जिन्हें राजकोष से पूर्ण आजीविका और भत्ता मिलता था। उनसे आगमों की छह लाख छत्तीस हजार प्रतियाँ लिखवाईं। सात प्रतियाँ सोने की स्याही से भी लिखवाईं। आचार्य श्री हेमचन्द्र जी द्वारा रचित साढ़े तीन करोड़ श्लोकों की २१ प्रतियाँ करवाई और अलग-अलग नगरों में २१ ज्ञान भण्डार बनाये जिन्हें वहाँ पर सुरक्षित रखा गया। स्वयं महाराज कुमारपाल ने ६० वर्ष की आयु में संस्कृत व्याकरण सीखी।

श्रावक पेथडशाह सिंघवी जिसकी दानवीरता की अनेक कहानियाँ प्रसिद्ध हैं। उसने श्री धर्मघोषसूरि जी से प्रार्थना की–"मैं पंचम अंग भगवतीसूत्र आपके श्रीमुख से सुनना चाहता हूँ।" आचार्यश्री ने प्रार्थना स्वीकार कर परिषदा में भगवतीसूत्र का वाचन प्रारम्भ किया। शास्त्र-वाचन प्रारम्भ होने से पहले ही पेथडशाह सबसे आगे आकर बैठ जाते और दत्तचित्त होकर आगम सुनते। आगम में जहाँ-जहाँ पर भगवान महावीर एवं गौतम का संवाद आता, भगवान उत्तर देते हुए गौतम को सम्बोधित करते हैं–"गोयमा ! (हे गौतम !), जब-जब आचार्य 'गोयमा' शब्द का उच्चारण करते, पेथडशाह एक स्वर्ण मोहर निकालकर श्रुत खाते में रख देते। इस प्रकार सम्पूर्ण भगवतीसूत्र सुनने में छत्तीस हजार बार गोयमा पद आया और पेथडशाह ने छत्तीस हजार स्वर्ण-मुद्राएँ ज्ञान खाते में दे दीं।

इन छत्तीस हजार स्वर्ण मोहरों से फिर उसने आगम लिखवाये और भरुच, मांडवगढ़ आदि स्थानों पर सात ज्ञान भण्डार बनाकर वहाँ आगमों को सुरक्षित रखा।[1]

इतिहास में इस प्रकार की सैकड़ों रोमांचक घटनाएँ हैं, जब शास्त्र लिखाना, परम पवित्र श्रुत-सेवा मानी जाती थी और उसमें करोड़ों

१. श्री विजयलक्ष्मीसूरि कृत उपदेश प्रासाद, भाग ४ के आधार पर

स्वर्ण-मुद्राएँ खर्च करके श्रीमंत लोग अपना जीवन कृतार्थ समझते। स्वयं को भाग्यशाली मानते थे। आचार्यों से प्रार्थना करते थे-''भगवन् ! हमें श्रुत-सेवा का लाभ दो।'' अभी इसी शताब्दी में आचार्य श्री अमोलक ऋषि जी महाराज ने ३२ सूत्रों का हिन्दी अनुवाद किया तब हैदराबाद के दानवीर लाला ज्वालाप्रसाद जी ने लाखों रुपया व्यय करके अकेले व्यक्ति ने ३२ सूत्रों का मुद्रण करवाया और जहाँ-जहाँ पर स्थानक, उपाश्रय, पुस्तकालय, ज्ञान भण्डार थे वहाँ-वहाँ अपनी ओर से भेंट भेजे। स्थानकवासी समाज में वही सबसे पहला आगम प्रकाशन है।

आचार्यसम्राट् श्री आत्माराम जी महाराज ने रात-दिन अथक परिश्रम करके जैन सूत्रों पर हिन्दी में भाष्य लिखे, टीकाएँ लिखीं और दानवीर श्रावकों ने उनका प्रकाशन किया। इस श्रुत-सेवा पर आज सम्पूर्ण जैन समाज को गर्व है।

तो इस प्रकार के भाग्यशाली श्रुत-प्रेमी युग-युग में होते रहे हैं। मैं मानता हूँ श्रुत-सेवा करके उन्होंने जिनशासन की गरिमा और महिमा को अक्षुण्ण रखा, हमें आज उनका उपकार मानना चाहिए कि उनकी श्रुत-भक्ति के फलस्वरूप ही भगवान महावीर की दिव्य वाणी का यत्किंचित् प्रकाश हमें प्राप्त हो रहा है। अगर हमारे पूर्वजों ने श्रुतज्ञान, आगम प्रकाशन और आगमज्ञान के प्रचार की इस गंगा को प्रवाहित नहीं किया होता तो शायद ज्ञान के इस महाप्रकाश से हम वंचित ही रह जाते।

आज कुछ लोग शास्त्र प्रकाशन एवं साहित्य प्रचार की आलोचना करते हैं। उसमें धन व्यय करना व्यर्थ बताते हैं। भोजन आदि अन्य व्यवस्थाओं में जहाँ लाखों खर्च करने में उन्हें कोई परवाह नहीं, परन्तु शास्त्र प्रकाशन में ५-१० हजार के लिए भी उन्हें १० बार सोचना पड़ता है और नहीं देवें तो न देवें, किन्तु उसकी व्यर्थ और अज्ञान मूलक आलोचना करके समाज में व्यर्थ का विवाद खड़ा करते हैं, वातावरण को बिगाड़ते हैं। स्वयं ज्ञानान्तराय का बन्ध करते हैं और दूसरों की ज्ञान-प्राप्ति में भी बाधक बनते हैं।

उपसंहार

ज्ञानपंचमी के इस पावन पर्व पर वे सोचें, अपने अन्तर्मन में झाँकें, यदि हमारे पूर्वज भी आपकी तरह शास्त्र लिखना और शास्त्र छपाना व्यर्थ समझते तो श्रुतज्ञान की यह अमूल्य सम्पदा नष्ट-भ्रष्ट हो जाती, ज्ञान की

दृष्टि से, शास्त्र की दृष्टि से हम दरिद्र रह जाते। हमें उन पूर्वजों का उपकार मानना चाहिए। जिन्होंने नष्ट होते, लुप्त होते श्रुतज्ञान की रक्षा में अपना तन-मन-धन अर्पित कर दिया। न उन्हें नाम की कामना थी, न यश की, न प्रसिद्धि की। पवित्र श्रुत-सेवा की भावना से उन्होंने अपनी सम्पत्ति का सदुपयोग किया, उस जमाने में करोड़ों रुपया खर्च किया और अपनी बुद्धि, प्रतिभा और शक्ति को सार्थक बनाया, जिसका लाभ आज हम प्राप्त कर रहे हैं। जिनवाणी का अमृतपान करके आज हमें अपने पूर्वजों की सेवाओं पर गौरव है। आज के दिन ज्ञानपंचमी का संदेश है कि हम स्वयं स्वाध्याय करके ज्ञानी बनें, ज्ञान की उपासना, आराधना करें। ज्ञान के प्रचार में सहयोगी बनें। जो ज्ञान प्रचार कर रहे हैं, ज्ञानी हैं उनका आदर करें। ज्ञानियों का सम्मान करें। यही श्रुत आराधना का मार्ग है और इसी श्रुत आराधना से जीव ज्ञानी बनता है। क्लेशों व कष्टों से मुक्त होता है।

ज्ञानपंचमी के दिन आज इन तीन बातों पर गौर कीजिए–

- ज्ञान के साधन शास्त्र, पुस्तकें, ज्ञानदाता गुरु आदि के प्रति सदा आदर भाव रखिए।
- ज्ञान प्राप्त करने के लिए विनयशील बनिए, जिज्ञासु रहिए और जहाँ भी जो भी अच्छी बात मिले ग्रहण करें।
- ज्ञान की प्रभावना करने में, दूसरों को ज्ञान सिखाने में, ज्ञान के साधनों का प्रसार करने में अपने पुरुषार्थ और लक्ष्मी का उपयोग करते रहें।

● ●

मन के अंधकार को मिटाना ही ज्ञान-पूजा

आज ज्ञानपंचमी का पवित्र दिन है। जैन इतिहासकार कहते हैं कि भगवान महावीर के निर्वाण पश्चात् उनके उत्तराधिकारी सुधर्मा स्वामी आज ही के दिन उनके पट्ट पर विराजमान हुए। वे भगवान के प्रथम पट्टधर थे। उन्हीं से श्रुतज्ञान का जो पावन प्रवाह प्रारम्भ हुआ वह युग-युगान्तर की यात्रा करता हुआ आज तक प्रवाहित हो रहा है।

इतिहास के पटल पर

भगवान महावीर के लगभग ९८० वर्ष पश्चात् उन्हीं के २७वें पट्टधर आर्य देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण ने कार्तिक शुक्ल पंचमी के दिन मौखिक रूप में चले आते आगमज्ञान को पुस्तकाकार रूप देने का साहसिक एवं दूरदर्शी कार्य प्रारम्भ किया था। उसके पूर्व सभी शास्त्र कण्ठस्थ परम्परा से चले आ रहे थे। गुरु से आगम वाचना लेकर शिष्य आगम व श्रुत कण्ठस्थ करते थे, फिर वे अपने शिष्यों को सिखाते चलते। इस प्रकार गुरु-शिष्य की परम्परा में श्रुतज्ञान कण्ठस्थ ही चलता रहा इसी कारण वह 'श्रुत' (सुना हुआ) कहलाया। किन्तु काल-प्रभाव के कारण स्मरण-शक्ति दुर्बल होती गई। कण्ठस्थ ज्ञान विस्मृत होता चला गया। सागर-सा विशाल श्रुतज्ञान धीरे-धीरे क्षीण होकर क्षुद्र धारा जैसा रह गया। जिस प्रकार अंजलि में रखा हुआ जल बूँद-बूँद टपककर नष्ट होता रहता है। गंगोत्री से निकला प्रवाह धीरे-धीरे भूमि में सोखता-सोखता क्षीण होता रहता है, उसी प्रकार स्मृति-धारणा के बल पर चलने वाला १४ पूर्व का अपार–असीम श्रुतज्ञान धीरे-धीरे क्षीण होता-होता एक पूर्व से भी कम रह गया था। तब उसे नष्ट होने से बचाने के लिए आचार्य श्री देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण ने ताड़-पत्रों पर शास्त्र लिखने का शुभारम्भ किया। उस शुभारम्भ की पवित्र तिथि कार्तिक शुक्ल पंचमी थी। इस कारण इस तिथि को श्रुतपंचमी अथवा ज्ञानपंचमी के नाम से जाना जाता है। जिन पलों व तिथियों में कोई महान् कार्य आरंभ होता है तो उस कार्य की महत्ता व प्रभावशीलता के कारण वह तिथि व समय भी महत्त्वपूर्ण एवं स्मरणीय बन जाता है। इसलिए श्रुतज्ञान की

आराधना करने के लिए विविध अनुष्ठान किये जाते हैं। कुछ लोग '**नमो नाणस्स**' की माला फेरते हैं। कुछ साधक ज्ञानियों की सेवा-शुश्रूषा, ज्ञानियों का बहुमान, ज्ञान के साधनभूत उपकरण–शास्त्र, पुस्तकें आदि बाँटते हैं। कुछ ज्ञान-पूजा या शास्त्र-पूजा के रूप में धन का सदुपयोग करते हैं। कुल मिलाकर अनेक प्रकार से ज्ञान की प्राप्ति के लिए ज्ञान व ज्ञानी का बहुमान व आराधना करने की प्राचीन परम्परा आज भी चल रही है।

यह एक सर्व सम्मत तथ्य है कि जिस समाज में ज्ञान की पूजा, ज्ञान का बहुमान व ज्ञानीजनों का सन्मान करने की महान् परम्परा जीवित है वह समाज अज्ञान के अंधकार में नहीं डूबता। ज्ञान के प्रति आदर व श्रद्धाभाव कभी-कभी मनुष्य को ज्ञानाराधना की प्रेरणा भी देगा और जब कभी ज्ञानाराधना की एक चिनगारी भी हृदय में जल उठी तो वह ज्ञान-प्राप्ति के मार्ग पर बढ़ जायेगा। ज्ञान के आलोक पथ पर चल पड़ेगा। इसलिए मैं आज ज्ञान के सम्बन्ध में ही विशेष चर्चा करना चाहूँगा।

ज्ञान की चर्चा करने से पूर्व मैं एक कहानी से अपनी बात आरम्भ करूँगा।

बिम्ब को पकड़ो : प्रतिबिम्ब को नहीं

एक राजा ने अपनी रानी के लिए बहुत कीमती नवरत्न का हार बनवाया। उसमें बड़े-बड़े हीरे–नीलम, पुखराज आदि नवरत्न जड़े थे। रानी को हार इतना पसन्द आया कि वह रात-दिन पहने ही रहती थी। एक दिन रानी सरोवर में स्नान करने गई। वस्त्र, हार आदि उतारकर रखे थे। तभी एक चील उड़ती-उड़ती आई; चमकते हार को उसने खाने की कोई वस्तु समझी और ले उड़ी। चील हार लेकर अपने घोंसले में घुस गई। घोंसला एक वृक्ष पर था और उसके नीचे एक सरोवर था। हार तो खाने की वस्तु नहीं थी। इसलिए वह यों ही घोंसले में पड़ा रहा।

रानी का हार नहीं मिलने से हायतोबा मच गई। राजा ने नगर में चारों तरफ गुप्तचर भेजे, सिपाही भेजे, खूब खोजबीन की, परन्तु हार कहीं नहीं मिला। मिलता भी कैसे? हार तो इतनी सुरक्षित जगह पर पहुँच गया जहाँ न कोई चोर पहुँच सकता और न ही सिपाही।

राजा ने घोषणा करवाई–"जो कोई व्यक्ति रानी का हार ढूँढ़कर ला देगा उसे मुँहमाँगा इनाम दिया जायेगा।" अब नगर का हर आदमी रानी जी का हार ढूँढ़ने में जुट गया।

एक धोबी था। वह तालाब पर कपड़े धोने आता था। तालाब के ऊपर वह वृक्ष था और वृक्ष की टहनी पर चील का घोंसला। चील के घोंसले में पड़े हार का प्रतिबिम्ब नीचे पानी में झलकता था। कपड़ा धोते-धोते धोबी की नजर पानी में चमकते हार पर पड़ी। वह खुशी से उछला–"वह रहा हार ! मिल गया हार !" उसने पानी में नीचे डुबकी लगाई। इधर-उधर चारों तरफ खोजा, मिट्टी उठा-उठाकर लाया परन्तु हार हाथ में नहीं आया। जब भी देखता तो हार नीचे पानी में दिखाई देता, परन्तु गोता लगाकर जैसे ही नीचे जाता पानी हिलता तो हार कुछ देर के लिए गायब हो जाता। कई दिन-रात धोबी यह प्रयत्न करता रहा, परन्तु हार हाथ में नहीं आया।

उसी तालाब के किनारे एक बाबा की कुटिया थी। उसने धोबी को बार-बार पानी में गोता लगाते, तालाब की मिट्टी बाहर लाते देखा, तो सोचा–'यह कौन-सी तपस्या कर रहा है?' योगी ने एक दिन पूछ लिया– "बेटा, तुम इतने परेशान क्यों हो रहे हो? क्या बात है?" धोबी ने अंगुली का इशारा करके बताया–"बाबा, वह देखो पानी में हार पड़ा है, परन्तु जैसे ही मैं लेने पहुँचता हूँ, हार गायब हो जाता है। हाथ में नहीं आ रहा। क्या बात है कुछ समझ में नहीं आती?"

साधु महात्मा ने इधर-उधर देखा, ऊपर नजर उठाई तो वृक्ष पर चील का घोंसला दिखाई दिया और उसमें हार चमकता हुआ दिखाई पड़ा। साधु खूब जोर से हँसा। धोबी बोला–"क्या बात है बाबा ! हार मिल गया?"

साधु ने कहा–"मूर्ख ! हार तो ऊपर है, यहाँ तो सिर्फ प्रतिबिम्ब है, तू प्रतिबिम्ब को पकड़ने में ही पागल हो रहा है। असली हार तक तेरी पहुँच नहीं है। जब तक असली स्थान तक नहीं पहुँचेगा, हार कैसे मिलेगा?"

कहानी का तत्त्व समझाने वाले सन्त कहते हैं–

इसी प्रकार ज्ञान, सुख, आनन्द आत्मा में है, परन्तु मनुष्य बाहर ही दौड़-धूप कर रहा है। बाहरी वस्तुओं में सुख, भोग-सामग्री में आनन्द और किताबों में ज्ञान की खोज कर रहा है। वह नहीं जानता, बाहर केवल प्रतिबिम्ब है, आभास है, असली वस्तु नहीं। असली तत्त्व पाने के लिए तो आत्म-स्वरूप का ज्ञान जरूरी है। वह कैसे मिलेगा? तुम्हें यह ज्ञान हो कि यह सुख-आनन्द कहाँ पर है तभी उस स्थान तक पहुँच सकते हो। इसलिए बाहर नहीं भीतर झाँको। संसार की मोह-माया को छोड़कर आत्मा के उच्च-स्तर पर पहुँचो तभी ज्ञानरूपी असली हार मिल पायेगा।

आज ज्ञानपंचमी के दिन ज्ञानरूपी हार पाने के लिए आत्मा को समझना जरूरी है। ज्ञान कहाँ है और वह कैसे प्राप्त किया जाता है इसी बात को समझाने के लिए ज्ञानपंचमी का यह प्रेरक पर्व आया है।

ज्ञान तीसरा नेत्र है : ज्ञान दिव्य सूर्य है

जैन आचार्यों ने ज्ञान की महिमा बताते हुए कहा है–

सुयं तइयं चक्खु।

–बृहत्कल्प भाष्य १/२

–ज्ञान मनुष्य के भीतर से खुलने वाला तीसरा नेत्र है। यह नेत्र जब खुल जाता है तो मन का अंधकार, अहंकार, कटुता आदि सब दूर हो जाते हैं। आपको ज्ञात है, बाह्य नेत्र तो हर एक मनुष्य के होते हैं, किन्तु केवल बाह्य नेत्र से देखना कोई विशेष बात नहीं है। प्रसिद्ध विचारक आचार्य विनोबा भावे ने एक जगह लिखा है–

पशु और मनुष्य में फर्क क्या है? "**पश्यतीति पशु।**"–जो केवल बाह्य नेत्रों से देखता है, वह पशु है। मनुष्य वह है, जो बाह्य नेत्र के साथ मन के, बुद्धि के अन्तर् चक्षु भी खुले रखता है। "**मनश्चक्षुषा पश्यतीति मनुष्यः।**"–मन के नेत्रों से जो निहारता है, मनन करता है, वह मनुष्य है।

तीर्थंकर देवों ने ज्ञान को आत्मा का मूल गुण बताया है। हम ज्ञान और क्रिया का जोड़ा बताते हैं, परन्तु क्रिया आत्मा का मूल गुण नहीं है, मूल गुण है ज्ञान। ज्ञान प्राप्त होने पर क्रिया की शुद्धता, क्रिया में पुरुषार्थ स्वयं आता है। इसलिए कहा है–"**पढमं नाणं तओ दया।**"–पहले ज्ञान प्राप्त करो, फिर दया या आचार का विवेक प्राप्त होता है। इसलिए ज्ञान को, स्वाध्याय को सर्वोत्तम तप बताया है–"**सज्झाय समं तवो नत्थि।**"–स्वाध्याय के समान दूसरा कोई तप नहीं है। स्वाध्याय सब दुःखों का नाश करने वाला है। उपवास, अनशन आदि बाह्य तप हैं, किन्तु ज्ञानाराधना करना अन्तरंग तप है। वह मोक्ष का साक्षात् कारण है। इसलिए यदि साधक क्रिया में कभी प्रमाद कर दे, क्रिया की उपेक्षा भी कर देवे तो वह विराधक नहीं होता, उसकी शुद्धि प्रायश्चित्त आदि द्वारा हो सकती है। किन्तु यदि ज्ञान में प्रमाद कर गया; ज्ञान की उपेक्षा, ज्ञान की अवहेलना की तो वह मिथ्यात्व का भागी हो सकता है। इसलिए ज्ञान का सर्वोपरि महत्त्व है।

उत्तराध्ययनसूत्र में साधु की समाचारी का वर्णन है, उसमें बताया है–

पढमं पोरिसी सज्झायं, बीयं झाणं झियायइ।
तइयाए भिक्खायरियं, पुणो चउत्थीए सज्झायं॥

दिन के चार प्रहर में प्रथम प्रहर में स्वाध्याय करें। स्वाध्याय का मतलब है, ज्ञान के पाँच अंगों की पुनः-पुनः आराधना करना, वाचना, पृच्छना, परिपृच्छणा, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा-ये ज्ञानोपासना के पाँच अंग हैं। तो साधक दिन के प्रथम प्रहर में और फिर पुनः चौथे प्रहर में इसी प्रकार रात के प्रथम प्रहर में और चौथे प्रहर में यों आठ प्रहर में चार प्रहर, २४ घण्टा में १२ घण्टा ज्ञानोपासना में बिताना चाहिए। दो प्रहर ध्यान में, एक प्रहर भिक्षा आहार का और एक प्रहर निद्रा का।

इससे प्रकट होता है, ज्ञान का जीवन में कितना महत्त्व है और ज्ञान-प्राप्ति कितनी आवश्यक है। ज्ञान सब पदार्थों को प्रकाशित करने वाला सूर्य है-"सज्झायं सव्व भाव विभावणं।"

शुक्ल यजुर्वेद के मंत्र में ऋषि कहता है-

ब्रह्म सूर्यसमं ज्योतिः।

-ज्ञान सूर्य के समान प्रकाश देने वाली दिव्य ज्योति है। सूर्य के बिना संसार में अंधकार ही अंधकार है।

अंधकार है वहाँ, जहाँ आदित्य नहीं है।
सूना है वह देश, जहाँ साहित्य नहीं है॥

सूर्य को जगत् का प्राण, जगत् का आधार और जीवन का संचालक माना है।

सूर्य का अपना प्रकाश होता है। उसका प्रकाश किसी से उधार लिया हुआ नहीं होता। आधुनिक वैज्ञानिक मानते हैं-हमारी पृथ्वी एक ग्रह है। सूर्य इससे लगभग सवा नौ करोड़ मील दूर है और १३ लाख गुना बड़ा है। यदि मनुष्य ६०० मील प्रति घण्टे की गति से उड़ने वाले वायुयानों में बैठकर लगातार उड़े तो उस दूरी को पार करने में १८ वर्ष लग सकते हैं। सूर्य से पृथ्वी पर जो शक्ति बरसती है वह इतनी है कि प्रति वर्ग इंच की शक्ति से ६० हॉर्स पावर का इंजन चल सके। पूरी पृथ्वी पर सूर्य जो ताप फेंकता है वह प्रति सेकण्ड इतना होता है कि जितना १२ हजार अरब टन कोयला जलाने पर ही पैदा किया जा सकता है। पृथ्वी पर गिरने वाला सूर्य

का प्रकाश अनुमान किया गया है–तीन लाख मोमबत्तियाँ जलाने में जितना प्रकाश पैदा होता है, पृथ्वी पर प्रति वर्ग इंच में इतना प्रकाश है सूर्य का।

तो सूर्य की भाँति ज्ञान भी समस्त संसार के रहस्यों को प्रकाशित/उद्घाटित करने वाला दिव्य सूर्य है, महान् शक्ति-पुँज है। व्यवहारचूलिका में कहा गया है–

सव्व जगुज्जोयकरं नाणं, नाणेण नज्जए चरणं।

–समस्त जगत् में उद्योत करने वाला ज्ञान ही परम सूर्य है। इसी के प्रकाश में मनुष्य गति कर सकता है, चरण आगे बढ़ा सकता है और अपने लक्ष्य की तरफ बढ़ सकता है। इसलिए कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य रूप चरण का अर्थात् आचरण का बोध देने वाला ज्ञान है।

चरण है गति का प्रतीक

एक बात ध्यान देने योग्य है कि शास्त्र में चारित्र को चरण कहा गया है। हमारी भारतीय संस्कृति में महान् पुरुषों की पूजा कैसे की जाती है? उनका चरण-स्पर्श करके ना? यद्यपि शरीर में मस्तक सबसे ऊँचा है, चरण सबसे नीचे रहते हैं, परन्तु हम जब गुरुजनों की, माता-पिता की या महापुरुषों की वन्दना/सत्कार, सन्मान-पूजा करते हैं तो सर्वप्रथम उनके चरण छूते हैं। रामायण में प्रसंग आता है–सीता-हरण के बाद श्रीराम सीता की खोज करते हुए जंगल में जब उसके आभूषण गिरे देखते हैं, चूड़ामणि हार व कंगन पड़े मिलते हैं तो लक्ष्मण से पूछते हैं–"देख, लक्ष्मण ! क्या ये सीता के ही आभूषण हैं? पहचान इनको।" तब लक्ष्मण कहते हैं–

नाहं जानामि केयूरे, नाहं जानामि कुण्डलं।
नूपुरं त्वभिजानामि, नित्यं पादाभिवन्दनात्॥

–मैं न तो चूड़ामणि, केयूर को पहचानता हूँ, न ही कुण्डलों को। तात ! मैं तो केवल माता सीता के नूपुर पहचानता हूँ, क्योंकि नित्य प्रातः उठकर मैं माता की चरण वन्दना करता था, इसलिए केवल नूपुर पर ही मेरी नजर पड़ती थी। इसलिए मैं चरणों में रहे नूपुरों को तो पहचान लूँगा।

तो हमारी संस्कृति में मस्तक को बड़ों के चरणों में झुकाते हैं। पूज्यजनों के चरण-स्पर्श की परम्परा है भारत की। यदि चरण छूने के बजाय कोई किसी का मस्तक छू ले तो? हमारी संस्कृति में यह असभ्यता और अज्ञानता मानी जाती है। चरण छूना सभ्यता है, नम्रता है, विनय है। मस्तक छूना असभ्यता और बड़ों का अपमान है। अज्ञानता का सूचक है।

सोचिये, चरण छूने का मतलब क्या है? चरण गति का प्रतीक है। गतिशीलता ही जीवन है। नाड़ी चलती है, तब तक जीवन है। साँस में गति है तब तक प्राण टिके हुए हैं। जब साँस बन्द हो गई, नाड़ी बन्द हो गई तो राम नाम सत् बोल देते हैं। सुन्दर शरीर माटी बन जाता है। लोग इसे जला देते हैं या मिट्टी में दफन कर देते हैं।

तो गतिशीलता का प्रतीक है–चरण। इसलिए हमारे शास्त्रों में चारित्र का नाम है–चरण। चरण को पूजने का अर्थ है–आचरण की पूजा। विचारक कहते हैं–महापुरुषों के चरण को नहीं, आचरण को पूजो। इसका मतलब यह है कि जीवन में चारित्र या सदाचार की प्रतिष्ठा करो, तो इस चारित्र का बोध देने वाला है श्रुतशास्त्र।

आज कहाँ बची है चरण-स्पर्श की परम्परा। नये बुद्धिवादी तो इसे गुलामी का प्रतीक बताकर उपहास करते हैं। लाज, शर्म से झुकते हैं तो केवल घुटनों को छू लेते हैं। बस हो गयी औपचारिकता।

यदि वैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया जाय तो चरण-स्पर्श की परम्परा के पीछे शरीर विज्ञान का बहुत बड़ा रहस्य छिपा है। हमारे शरीर में एक अद्‌भुत विद्युत् शक्ति प्रवाहित है। भीतर में पूरा एक पावर हाउस चल रहा है। सभी कोशिकाओं व नाड़ियों में यह शक्ति इसी प्रकार प्रवहमान है जैसे तारों के भीतर बिजली। इसी विद्युत् शक्ति के कारण शरीर में ऊर्जा है, ऊष्मा है, तेज है, प्रकाश है। नाड़ी संस्थान क्रियाशील है और रक्तप्रवाह ऊपर से नीचे प्रतिपल दौड़ रहा है। हमारा हृदय यदि एक क्षणभर भी खून का दौरा बन्द कर दे तो क्या परिणाम होगा? मृत्यु ! दिन-रात अनवरत हृदय धड़क रहा है, खून शरीर में ऊपर से नीचे दौड़ रहा है। किस शक्ति से? शरीर की उसी विद्युत् शक्ति के कारण। वह विद्युत् शक्ति हाथों में तथा पाँवों में सबसे अधिक प्रवाहित होती है। अंगुलियाँ तथा उनके पोरों में अद्‌भुत ऊर्जा और बिजली है। जब हम किसी से हाथ मिलाते हैं तो हमारी विद्युत् शक्ति उसकी विद्युत् शक्ति से टकराती है, यदि सामने वाले की ऊर्जा कमजोर है, हमारी विद्युत् प्रखर है तो हम उसे प्रभावित कर लेंगे। इसके विपरीत हमारी विद्युत् शक्ति कमजोर व सामने वाले की प्रखर है तो वह हमारी शक्ति को निष्प्रभावी कर देगा। हम उसके प्रभाव में बह जायेंगे। इसीलिए हमारी संस्कृति में किसी से हाथ मिलाने की परम्परा नहीं है। हाथ मिलाने का मतलब है–नेगेटिव-पोजिटिव शक्तियों को मिलाना। यह हाथ मिलाने की परम्परा पश्चिमी सभ्यता की देन है। हमारे यहाँ तो विवाह के

समय हस्त-मिलाप होता है। पति-पत्नी बनने वाला जोड़ा एक-दूसरे से हाथ मिलाता है। उनकी प्राण-ऊर्जा, शरीर विद्युत् एक-दूसरे में प्रत्यावर्तित होती है, परस्पर आकर्षण और स्नेह का संचार होता है। एक-दूसरे के प्रति अनुराग जागता है। इसीलिए विवाह का नाम **पाणिग्रहण** या **हस्त-मिलाप** है।

गुरुजनों या महापुरुषों के चरण का स्पर्श करने से उनके चरणों में प्रवाहित विद्युत् ऊर्जा हमें प्राप्त होती है, उनका आशीर्वाद प्राप्त होता है जो हमारे जीवन के लिए मंगलमय हो सकता है। हमें बाह्य दुष्प्रभावों से सुरक्षित रखने के लिए कवच का काम करता है। चरण-स्पर्श की परम्परा के पीछे यह वैज्ञानिक कारण है।

तो, मैं कह रहा था—चारित्र को 'चरण' कहा गया है। चारित्र को दीप्तिमय बनाता है ज्ञान। ज्ञान का साधन है शास्त्र। शास्त्र का अर्थ ही है, जो जीवन को, मन को, शासित या शिक्षित करे—अनुशासन में रहने की शिक्षा देवे, वह है शास्त्र। शास्त्र ज्ञानरूप है, केवल पुस्तक शास्त्र नहीं है, पुस्तक के भीतर रहा बोध ज्ञानशास्त्र है। इसलिए आचार्य ने सूचित किया है—"**नाणेण नज्जए चरणं।**"—ज्ञान से ही चरण का बोध होता है। "**नाणेण विना न हुंति चरण-गुणा।**"—(उत्तराध्ययन) ज्ञान के बिना चारित्र के गुण-धर्म-अधर्म और कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का बोध ही नहीं होता और जिसे कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का बोध नहीं तो वह होता है बुद्धू—अज्ञानी। अज्ञानी जीवन में अंधे की तरह भटकता है, ठोकरें खाता है। अपनी मंजिल को नहीं पाता। प्लेटो का कहना है—"अज्ञानी रहने से तो जन्म नहीं लेना ही अच्छा है।"

अज्ञानी को 'बाल' कहा गया है। बालक आग को जलती देखता है, तो चमकती वस्तु देखकर उसमें भी हाथ डाल देता है। साँप को रेंगते देखता है तो उसे भी खिलौना समझकर पकड़ने को ललकता है। क्यों? उसे उसके प्रतिफल—अंजाम या परिणाम का ज्ञान नहीं है कि आग जला देगी, साँप काट लेगा। बालक के सामने नमक और चीनी दोनों रखी हैं। फिटकरी और मिश्री रखी हैं, उसे पता नहीं। वह कुछ भी उठाकर मुँह में डाल सकता है। मिर्च रखी है, तो उसे भी मुँह में डाल सकता है। मुँह कड़वा होता है तो थू-थू कर देगा। मुँह जल जाने पर रोयेगा, परन्तु फिर भी उसे यह पता नहीं है कि मेरा मुँह क्यों जला, किससे जला? इसी प्रकार अज्ञानी को परिणाम का ज्ञान नहीं होता। क्रोध करता है, अहंकार करता है,

काम-वासना में आसक्त होता है। दुर्व्यसनों का सेवन करता है। दूसरों को ठगता है। उसे इसके बुरे परिणाम का ज्ञान नहीं। यदि ज्ञान है तो भी वह उससे स्वयं को बचाने में समर्थ नहीं है। ईसा मसीह ने क्रॉस पर लटकाने वालों के लिए यही तो कहा था–"हे प्रभु ! इनको माफ कर देना क्योंकि इन्हें यह भान नहीं है कि ये क्या करने जा रहे हैं। इसका परिणाम क्या होगा।" ऐसा अज्ञानी वास्तव में दया का पात्र है। अज्ञानी में क्रोध को जीतने का साहस नहीं है। अहंकार को दबाने का या अहंकार को नम्रता में बदलने का तरीका भी नहीं मालूम है उसे, इसलिए वह इन कषायों के प्रवाह में बह जाता है और अपनी आत्मा को दुःखी करता है। संतप्त करता है। इसलिए ज्ञानी पुरुष कहते हैं–अज्ञानी जीव बालक के समान है। बालक मंदमति होता है–

बाले य मन्दिए मूढे, बज्झइ मच्छिया व खेलम्मि।

किसी चलते-चलते व्यक्ति ने रास्ते में खंखार थूक दिया, श्लेष्म फेंक दिया। मक्खी आई, उसे लगा यह भी कोई चखने की या खाने की स्वादिष्ट वस्तु है। उस पर बैठी तो पंख श्लेष्म में लिपट गये। बिचारी फँस गई। उसे न तो उसके कुछ खाने का स्वाद आया और न ही उड़ सकती थी। उसी में लिपटी, तड़फती, पंख फड़फड़ाती मर गई। अज्ञानी पुरुष भी विषय-भोगों में इसी प्रकार फँस जाते हैं, फिर "से सोयइ-झूरइ तिप्पइ परितिप्पई।"–वे तड़पते हैं, पछताते हैं और रोते-कलपते हुए जिन्दगी की घड़ियाँ पूरी करते हैं।

बाल भी तीन प्रकार के होते हैं–

१. एक, बुद्धि से बालक। ज्ञान व विवेकरहित व्यक्ति, जिसे अज्ञानी, मूर्ख व अबोध कहते हैं। यह स्थिति त्यागने योग्य है, हेय है।

२. दो, अवस्था से बालक; जिसे बाल्य अवस्था या बचपना कहते हैं। यह सामान्य बात है, ज्ञेय है।

३. तीन, हृदय से बालक। बालक की तरह सरल, सहज निष्पाप हृदय हो, यह सबके लिए आदर्श बात है, उपादेय है।

अवस्था से जो बाल होते हैं वे अपने आप आयु-वृद्धि के साथ-साथ तरुण हो जाते हैं। किन्तु जो बुद्धि से बालक रह जाते हैं उन्हें प्रबुद्ध करने वाला गुरु मिले या शास्त्र मिले तभी उनका अज्ञान दूर हो सकता है और

बुद्धि व ज्ञान का प्रकाश जगमगा सकता है। हृदय से जो बाल होते हैं वे धर्म के व ज्ञान के सुपात्र होते हैं।

शास्त्र-सूर्य से बुद्धि-कमल का विकास

बुद्धि से जो बाल अर्थात् मन्दमति होते हैं, अल्प बुद्धि होते हैं उनकी बुद्धि का विकास करने के लिए शास्त्ररूपी सूर्य की अपेक्षा रहती है। जैसे कमल रात के समय कुम्हलाकर सिकुड़ जाते हैं, उनके पराग-कोष भी बन्द हो जाते हैं किन्तु जैसे ही प्रातःकाल सूर्य पूर्वांचल में उदित होने लगता है, उसकी प्रभास्वर किरणों के स्पर्श से ही कमल-कोष खुल जाता है, बन्द कर्णिका विकसित हो जाती है–

दूरे सहस्रकिरणः कुरुते प्रभैव,
पद्माकरेषु जलजानि विकासभाञ्जि।

–सूर्य भले ही हजारों मील दूर है, किन्तु उसकी प्रभास्वर किरणें ही कमल को विकसित कर देती हैं। इसी प्रकार शास्त्र का अध्ययन, शास्त्र का श्रवण, चिन्तन-मनन करने से ज्ञानरूपी सूर्य की किरणें हमारे मस्तिष्क की कोशिकाओं को, बुद्धि को विकसित और संवर्द्धित कर देती हैं।

ज्ञान-प्राप्ति के तीन प्रकार

भगवान महावीर से पूछा गया–"ज्ञान कैसे मिलता है? ज्ञान-प्राप्ति का उपाय क्या है?"

उन्होंने बताया–ज्ञान-प्राप्ति तीन तरह से हो सकती है–

सह सम्मइयाए,
पर वागरणेणं,
अन्नेसिं वा अंतिए सुच्चा।

–आचारांगसूत्र

किसी को स्वतः चिन्तन-मनन करने से, अपने सहज क्षयोपशम या बौद्धिक स्फुरणा से ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है। कुछ बालक बचपन में ही इतने प्रतिभाशाली, बुद्धिमान् होते हैं कि उनकी प्रखर बुद्धि बड़ी चमत्कारी, आश्चर्यजनक लगती है। उनका ज्ञान स्वतः भीतर से जाग्रत होता है। जैसे भूमि के भीतर से जल-स्रोत से पानी का प्रवाह फूटकर बाहर आता है, वैसे ही उनके अन्तर् हृदय से ज्ञान स्वतः प्रकट होता है। इसका एक अर्थ यह

भी है–"**स्व-सममति।**" अर्थात् अपनी सम बुद्धि, शान्ति व स्थिर मन रहने से स्वतः बुद्धि का विकास होता है।

दूसरा प्रकार है–"**पर वागरणेणं।**"–दूसरों की वाणी सुनकर। ज्ञानी या तीर्थंकरों के वचन सुनने, उनकी वाणी सुनने से ज्ञान स्फुरित होता है।

तीसरा उपाय है–दूसरों के मुख से, अनुभवी व्यक्तियों के मुख से सुनकर ज्ञान होना। ये तीन प्रकार हैं। इसे ही एक विचारक ने इस प्रकार प्रकट किया है–

१. जो ज्ञान मनन से–चिन्तन-मनन शास्त्र-स्वाध्याय से मिलता है, वह उत्तम है।

२. अनुसरण से, दूसरों की देखादेखी करने से होने वाला ज्ञान सबसे सरल है।

३. अनुभव करते-करते या स्वयं अनुभव होने पर जो मिलता है वह अनुभव ज्ञान सबसे बड़ा होता है।

कहा जाता है–

जहाँ न पहुँचे रवि, वहाँ पहुँचे कवि।
जहाँ न पहुँचे कवि, वहाँ पहुँचे अनुभवी॥

प्रसिद्ध विचारक डिजरायली का कथन है–ज्ञान की पहली सीढ़ी है–अपनी अज्ञानता का आभास होना। जब तक कोई यह मानता है कि मैं बहुत बड़ा ज्ञानी हूँ, विद्वान् हूँ, मुझे सब कुछ आता है। वह कुछ भी प्राप्त नहीं कर सकता। क्योंकि उसके भीतर ज्ञान की जिज्ञासा नहीं होती, केवल अहंकार होता है। जहाँ अहंकार होता है वहाँ ज्ञान नहीं टिक पाता। कबीरदास रहस्यमयी भाषा में कहते हैं–

जब मैं था तब गुरु नहीं, जब मैं गुरु नहीं पास।

–जब तक मेरे मन में 'मैं' यानी अहंकार भरा था तब तक गुरु अर्थात् ज्ञान मेरे पास नहीं आया, परन्तु जैसे ही ज्ञान आया तो पता नहीं अहंकार कहाँ पलायन कर गया।

हम जानते थे, इल्म से कुछ जानेंगे।
मगर जाना तो यह जाना कि, हमने न जाना कुछ भी॥

आधुनिक खगोल विज्ञान का जन्मदाता न्यूटन जिसने गुरुत्वाकर्षण सिद्धान्त की खोज कर भौतिक विज्ञान की विकट समस्याएँ सुलझायी थीं,

उसके आविष्कारों की प्रशंसा करने के लिए यूरोप के वैज्ञानिकों की भीड़ जमा हुई। उसका अभिनन्दन किया गया। तब न्यूटन ने कहा–"मैं तो उस छोटे बच्चे की तरह हूँ जो अभी तक समुद्र के किनारे चक्कर लगाकर सीप, घोंघे ही ढूँढ़ पाया है। जो जानना बाकी है, वह इतना असीम–अनन्त है कि उसके ढाँचे की कल्पना तक नहीं की जा सकती। क्योंकि अत्यन्त विकसित मनुष्य के मस्तिष्क का केवल ७% ही जाग्रत होता है। ९३% तो सुप्त व अविज्ञात स्थिति में पड़ा रहता है। तो फिर ज्ञान का व बुद्धि का अहंकार कैसा?"

जिज्ञासा है ज्ञान की जननी

ज्ञान का पहला सोपान है–नम्रता, लघुता। विनय और जिज्ञासा। ज्ञान की जिज्ञासा ही मनुष्य को ज्ञान-प्राप्ति की ओर बढ़ाती है। वेद-वेदांग के महापण्डित इन्द्रभूति भगवान महावीर के समवसरण में आते हैं। जब तक दूर खड़े हैं, उनके मन में ज्ञान का अहंकार है–मेरे जैसा विद्वान् संसार में दूसरा कोई नहीं है। किन्तु जैसे ही भगवान महावीर उनके मन में छिपे संशय को पकड़कर कहते हैं–"गौतम ! क्या तुम्हें जीव और देह के विषय में शंका है?" बस गौतम का अहंकार चूर-चूर हो गया। वे सोचने लगे–'ये तो मुझसे बहुत बड़े ज्ञानी हैं, मेरे मन के गुप्त सन्देह को भी जानते हैं।' गौतम का अहंकार दूर होता है। जिज्ञासा की लहर पैदा होती है। भगवान के समक्ष आकर पूछते हैं–"भन्ते ! सत्य क्या है? तत्त्व क्या है?" भगवान एक ही वाणी में त्रिपदी का ज्ञान देते हैं और उसी समय गौतम को चौदह पूर्व का अपार ज्ञान प्राप्त हो जाता है। इसलिए कहा है–"ज्ञान-प्राप्ति का पहला सोपान है, जिज्ञासा।"

रडयार्ड कपलिंग नामक एक विचारक ने लिखा है–मेरे छह गुरु हैं–

व्हेयर एण्ड व्हाट–कहाँ और क्या?

व्हेन एण्ड व्हाई–कब और क्यों?

हाऊ एण्ड हू–कैसे और कौन?

मैंने जो कुछ जाना है, ज्ञान प्राप्त किया है वह इन्हीं छह गुरुओं से मिला है। आज का विज्ञान जितनी आश्चर्यजनक प्रगति कर सका है उसका श्रेय इन्हीं छह गुरुओं को है। दर्शनशास्त्र को अंग्रेजी में 'फिलासफी' कहते हैं। 'फिलासफी' शब्द का अर्थ है–ज्ञान की जिज्ञासा, जानने की उत्सुकता। गौतम स्वामी भगवान महावीर से पूछते रहते हैं–"से कहमेयं भंते ! किमाहु भंते ! केणट्ठेणं भंते।"–भन्ते ! यह बात कैसे है, किस प्रकार है, इसका क्या

अर्थ है? सम्पूर्ण जैन वाङ्मय का मूल गौतम की यह प्रखर जिज्ञासा है। इसलिए ज्ञान-प्राप्ति के लिए सबसे पहले जिज्ञासु बनना होगा।

मनुस्मृति में कहा गया है–एक बार विद्या देवता ब्राह्मण के पास आकर कहने लगी–"विप्रदेव ! मेरी रक्षा करना। मैं तुम्हारी निधि हूँ, भण्डार हूँ।"

विप्र बोला–"विद्या देवता ! मैं आपकी रक्षा कैसे करूँ?"

विद्या बोली–"मुझे अहंकारी और ईर्ष्यालु को कभी मत देना। क्योंकि ये दोनों ही मुझे भ्रष्ट कर देंगे। अहंकारी मेरा अपमान करता है और ईर्ष्यालु मुझे कलंकित करता है, इसलिए इन दोनों से बचाकर रखना, तभी मैं शक्तिशाली बन सकूँगी।"

भगवान महावीर ने कहा है–"थद्धे लुद्धे अविणीए।"–अहंकारी, लोभी या जीभ का चटोरा और अविनीत–ये तीनों ज्ञान के पात्र नहीं होते। अपात्र को दिया हुआ ज्ञान कच्चे घड़े में रखे पानी की तरह नष्ट हो जाता है। पानी भी व्यर्थ चला जाता है और घड़ा भी फूट जाता है। अहंकारी का हृदय बंजर भूमि की तरह होता है। बंजर भूमि पर चाहे जितने हल चलाओ, खाद-पानी डालकर अथक परिश्रम करो, पसीना बहाओ, परन्तु सब व्यर्थ जायेगा।

नहीं बंजर जमीं में फूल आते हैं,
अकारथ बीज ही मेहनत के जाते हैं।

इसी प्रकार ईर्ष्यालु व्यक्ति का हृदय राख के समान होता है। राख पर फूँक मारो तो उलटी उड़कर अपनी ही आँखों में आती है–

अगर खाक पर फूँक मारेगा फूल,
तो अपनी ही आँखों में झोंकेगा धूल।

ज्ञान के दो प्रकार

जैसा कि मैंने कहा–"अज्ञान मनुष्य को अंधकार में ढकेलता है, दुःखों के गर्त्त में गिराता है जबकि ज्ञान उन दुःखों से मुक्ति दिलाता है।"

योगवाशिष्ठ में कहा है–

ज्ञानान्निर्दुःखतामेति ज्ञानादज्ञानसंक्षयः।

–ज्ञान से ही दुःख दूर होते हैं, ज्ञान से ही अज्ञान का नाश होता है।

ज्ञान-प्राप्ति का सबसे पहला मार्ग है जिज्ञासा। जिज्ञासु जहाँ भी जाता है ज्ञान की खोज करता रहता है। सत्य को पाने की चेष्टा करता है। केवल पुस्तकीय ज्ञान ही ज्ञान नहीं है। यह तो अक्षर ज्ञान है–अक्षर ज्ञान से मनुष्य साक्षर होता है। साक्षर व्यक्ति में यदि विवेक और आत्म-बोध न हो तो वह साक्षर उलटा राक्षस भी बन सकता है, किन्तु जो ज्ञान आत्मा के भीतर से प्रगट होता है वह हमेशा ही मनुष्य को सुखदायी/आनन्ददायी होता है।

इस्लाम धर्म में माना जाता है–मुहम्मद साहब को दो तरह का ज्ञान मिला–एक तो इल्मे सफीना अर्थात् किताबी ज्ञान, दूसरा इल्मे सीना अर्थात् हृदय के भीतर से जगा ज्ञान। पहला ज्ञान कुरान शरीफ के रूप में जाहिर किया गया और दूसरा अध्यात्म ज्ञान योग्य पात्रों को दिया गया। आत्म-ज्ञान के रूप में मनुष्य को दया, स्नेह, भाईचारे और कर्त्तव्य-परायणता का बोध दिया और उसी के सहारे इन्सान इन्सान की तरह जीने लगा।

तो जीवन में ज्ञान का महत्त्व है वह इसी बात पर है कि आप उस ज्ञान से अपने जीवन को संस्कारित करें। जीवन जीने की शैली सीखें। बुद्ध ने कहा है–

कुछ विद्वान् चम्मच या कुड़छी के समान होते हैं। कुड़छी से हलवा भी परोसा जाता है, व्यंजन भी। स्वादिष्ट मसालेदार पदार्थ भी और बेस्वाद खट्टे-मीठे पदार्थ भी। कुड़छी से कितना ही स्वादिष्ट भोजन परोसा जाये, उसे पूछो कि बता इसका स्वाद कैसा? तो स्वाद के नाम पर गोलमोल है। यहाँ तक कि हलुवे की चिकनाई भी उस पर नहीं टिकती। इसी प्रकार कुछ विद्वान् होते हैं जो बड़ी-बड़ी पुस्तकें पढ़ते हैं, शास्त्र पढ़ते हैं, पुस्तकें लिखते भी हैं। धुँआधार उपदेश भी करते हैं, परन्तु उनके जीवन पर उस शास्त्रज्ञान का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वे केवल पुस्तकों के कीड़े हैं, जो दीमक की तरह पुस्तकें चाटते रहते हैं। पुस्तक में क्या लिखा है वह उनके जीवन में नहीं उतरता।

एक पण्डित जी कथा बाँच रहे थे। एक जगह अभक्ष्य वर्णन आया तो पण्डित जी ने कहा–"बैंगन नहीं खाना चाहिए क्योंकि यह बहुबीजा होता है। वायुकारक होता है।" कथा सुनकर भक्त ने पण्डित जी को भोजन के लिए निमंत्रण दिया, पूछा–"महाराज ! भोजन में क्या पसन्द करते हैं? हमारे यहाँ तो बैंगन का भर्त्ता बना है, चलेगा?" पण्डित जी बोले–"चलेगा

क्या दौड़ेगा? आने दो।" भक्त की पत्नी ने पूछा–"महाराज ! आज ही तो कथा में आपने कहा–बैंगन नहीं खाना।" पण्डित जी हँसे–"अरी बावली ! वे पोथी के बैंगन अलग होते हैं, खाने के बैंगन अलग होते हैं। कथा की बात कथा के साथ खत्म।"

तो इस प्रकार का थोथा ज्ञान कल्याण नहीं कर सकता। आप कितने ही बड़े वैद्य या डॉक्टर को दिखा दीजिये, दवा का लम्बा-चौड़ा नुस्खा भी लिखा लीजिए, परन्तु जब तक दवा पेट में नहीं जायेगी डॉक्टर के इलाज से क्या फायदा होगा? दवा पेट में जायेगी तभी तो बीमारी मिटेगी।

ज्ञानपंचमी के दिन श्रुत-पूजा या शास्त्र-पूजा का विधान है, उसका मतलब यह नहीं है कि आप शास्त्रों पर फूल, अक्षत चढ़ाकर पूजें, उन्हें सिर पर उठाकर सोने के थाल में रखकर जुलूस निकालें और समझ लें कि हमने शास्त्र-पूजा करके ज्ञान का बहुमान कर लिया।

ज्ञान का सबसे बड़ा पात्र है आपका हृदय और जीवन। जीवन में या आचरण में उतरा हुआ ज्ञान ही पूजनीय होगा, वही संसार में चिरस्थायी रहेगा। जैसे पेट में अन्न पहुँचने पर ही तृप्ति होती है वैसे ही ज्ञान जीवन में पहुँचने पर मुक्ति होती है।

मैंने प्रारम्भ में आपको बताया–ज्ञानपंचमी के दिन ज्ञान की पूजा कीजिए। इसके लिए पुस्तकें पूजने की जरूरत नहीं है, न ही शास्त्र को सिर पर उठाकर शास्त्र की शोभा-यात्रा निकालने की जरूरत है, हाँ, पुस्तक व शास्त्र की अशातना, अवहेलना नहीं होनी चाहिए और ज्ञानदाता, गुरु, अध्यापक आदि का अविनय भी नहीं करना चाहिए। ये तो ज्ञान-प्राप्ति के बाधक हैं। इसलिए ज्ञान के प्रति मन में आदरभाव पैदा कीजिए, श्रद्धाभाव जगाइये और उसमें लिखी बातों को समझने के लिए शास्त्रज्ञान हृदयंगम करने के लिए सच्चे जिज्ञासु बनिये। ज्ञानदाता के प्रति भी आदर और विनय भाव रखिये। मेरे विचार में सच्ची जिज्ञासा ही मनुष्य को ज्ञानी बनाती है और विनय से ही मनुष्य को ज्ञान प्राप्त होता है।

शास्त्र कहता है–मुझे न तो धनी के हाथ में देना, क्योंकि वह तो धन से मुझे तोलेगा। मेरे लिए धन की बोली लगायेगा। धन के साथ मेरी तुलना करना मेरा अपमान है। आलमारी में रखे शयन और साहित्य को देखकर वह कहेगा–यहाँ क्यों जगह रोक रखी है। इन्हें हटाओ, रद्दी वाले को बुलाकर बेच दो। आलमारी पुस्तकों के लिए थोड़ी है। यह तो कपड़े या

टी.वी., वीडियो क्राकरी का सामान सजाने के लिए है और न ही ज्ञानी के हाथ में देना। ज्ञानी से मतलब ज्ञान के अभिमानी से है। ज्ञान का अभिमान करने वाला कहेगा–अरे, मुझे शास्त्र क्या बताता है, मैंने सब शास्त्र पढ़ लिये। वह मुझे तुच्छ समझेगा।

तो फिर किसके हाथ में दें शास्त्र? शास्त्र ने कहा–जिज्ञासु के हाथ में मुझे देना। वह मेरा सम्मान करेगा, सँभालकर रखेगा और समय-समय पर खोलकर स्वाध्याय करेगा। जब कभी मन हुआ वह शास्त्र को पढ़ेगा और ज्ञान प्राप्त कर कृतकृत्य होगा। इसलिए जिज्ञासु ही शास्त्र का कद्रदान होता है। हीरे का मोल जौहरी करता है। इसी प्रकार शास्त्र का मूल्यांकन, ग्रन्थ का मूल्यांकन जिज्ञासु ही करेगा। जिज्ञासु जाग्रत बुद्धि वाला होता है। वह जहाँ भी गुण देखता है, तत्त्व की बात सुनता है, तुरन्त उसे ग्रहण कर लेता है, याद कर लेता है।

आपको मालूम होगा, तिब्बत में आज भी मंत्र-तंत्र-साधना ध्यान-साधना और जड़ी-बूटियों का गहन ज्ञान संसार में सबसे अधिक फैला हुआ है। तिब्बती लामाओं के पास अनेक चमत्कारी विद्याएँ आज भी मौजूद हैं। अनेक चमत्कारी दुर्लभ औषधियों का ज्ञान तिब्बतियों के पास है। यह सब कहाँ से मिले उन्हें? प्रसिद्ध घुमक्कड़ विद्वान् राहुल सांकृत्यायन ने लिखा है–जब मुसलमानों ने तक्षशिला विश्वविद्यालय के ज्ञान भण्डार पुस्तकालय को आज लगा दी जो कई वर्षों तक वह जलता रहा। तो वहाँ रहने वाले सैकड़ों तिब्बती विद्यार्थी उन पुस्तकों के अधजले, जीर्ण-शीर्ण पत्रों को उठा-उठाकर, छुपा-छुपाकर अपने साथ तिब्बत में ले गये। उनमें प्राकृत, संस्कृत, पाली भाषाओं के हजारों दुर्लभ ग्रंथ थे। उन्हीं ग्रंथों के आधार पर वहाँ के विद्वानों ने ये सब विद्याएँ सीखीं। जापान में भी भारतीय ज्ञान-विज्ञान के दुर्लभ ग्रंथ तिब्बत के द्वारा पहुँचे।

भगवान महावीर कहते हैं–"कंखे गुणे जाव सरीरभेउ।"–जब तक यह शरीर है, जिज्ञासा को जीवित रखो। जहाँ कहीं भी गुण देखो उसे ग्रहण कर लो। जिज्ञासु बनकर ही तुम ज्ञान समुद्र का अमृत पी सकते हो।

एक शायर कहता है–

न हमने हँसके सीखा है, न हमने रोके सीखा है।
जो कुछ भी सीखा है, किसी के होके सीखा है॥

किसी का होने का मतलब है ज्ञान के प्रति समर्पित हो जाना। अपना अहंकार, बड़प्पन छोड़कर मन को खाली कर लो और जहाँ ज्ञान की बात मिले, तत्त्व की बात मिले तुरन्त अपनी मन की झोली में डाल लो।

तो इस प्रकार ज्ञान-पूजा का पहला सूत्र है, सिद्धान्त है-ज्ञानी बनने के लिए जिज्ञासु बने रहो। अपनी बुद्धि की खिड़की सदा खुली रखो, जिसमें नये-नये ज्ञान की ताजी हवा आने दो।

ज्ञान-पूजा का श्रेष्ठ रूप

ज्ञान-पूजा का दूसरा सूत्र है-आप ज्ञानीजनों का सन्मान करें, उनका अभिनन्दन करें। ज्ञान के साधनरूप साहित्य का प्रसार करें, ज्ञान की महत्ता पर प्रकाश डालें यह सब तो अनुकरणीय एवं अनुमोदनीय है ही। इनसे ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम होता है, ज्ञान-प्राप्ति सुलभ होती है, परन्तु ज्ञान को जब हम जीवन में उतारेंगे, सत्य, करुणा, वैराग्य आदि उपदेशों को जीवन में जीने का प्रयास करेंगे तो उससे न केवल ज्ञानावरणीय अपितु दर्शनावरणीय, मोहनीय, अन्तराय जैसे घातिकर्म भी हल्के होंगे और तब हमारे भीतर से ज्ञान का जो प्रकाश चारित्र में झलकेगा, उससे जीवन उज्ज्वल होगा, आभासित प्रकाशित होगा। **एक आभामय प्रकाशमय जीवन संसार को भी प्रकाशमय बना सकता है।** इसलिए जीवन को ज्ञान से आलोकित बनाना ही सबसे बड़ी ज्ञान-पूजा है।

● ●

मौन एकादशी के अवसर पर एक चिन्तन–

मौन : मन का और तन का भी

आज मौन एकादशी का पर्व है। पर्व का अर्थ है, कुछ विशेष दिन। पर्व पवित्रता और श्रेष्ठता का भी सूचक है। जैन ज्योतिष के अनुसार प्रत्येक पक्ष की पाँच तिथियाँ पर्व-तिथि कहलाती हैं। द्वितीया, पंचमी, अष्टमी, एकादशी तथा चतुर्दशी एवं पूर्णिमा। पर्व-तिथि मानने का भी एक मनोवैज्ञानिक तथा कर्मशास्त्रीय कारण है जिसकी गहन चर्चा फिर कभी करूँगा। यहाँ यह बताना चाहता हूँ कि प्रज्ञापनासूत्र में बताया है–द्रव्य, क्षेत्र, काल, समय आदि का प्रभाव भी कर्मों को उदय व क्षयोपशम भाव में उनके तीव्र-मन्द प्रभाव में निमित्त बनता है। किसी समय में जैसे पुष्य नक्षत्र आदि हैं। प्रारम्भ की गई ज्ञानाराधना तथा अमुक नक्षत्र में ध्यान-साधना विशेष शीघ्र फलदायी होती है। वैसे ही अमुक तिथि को किया गया अमुक कार्य शीघ्र लाभदायी होता है। तिथियों का सम्बन्ध ज्योतिष शास्त्र से है। ज्योतिष का आधार है यह कर्मयोगी। मुख्य बात यह है कि इन तिथियों में विशेष धर्मध्यान, तप, त्याग करके शुभ भावनापूर्वक समय को सार्थक बना देने का उद्देश्य है, जिससे प्राणी को शुभ गति का बंध हो सकता है। दो दिन के अन्तर से एक दिन जीवन में शुभ ध्यान ध्याने के उद्देश्य से पर्व-तिथियों में उपवास, एकासना या विविध त्याग करके धार्मिक संस्कारों को जीवन्त रखा जाता है। इन्हीं पर्व-तिथियों में एकादशी एक विशेष पर्व है।

एकादशी की लिखावट की ओर ध्यान दीजिये। इसमें एक का अंक दो बार लिखा गया है। गणित में १ से ९ तक के अंक हैं। इनमें १ का अंक कुछ विशेष महत्त्व रखता है। १ यह एकाकी शक्ति है। यदि इसके पास एक दूसरा १ अंक रख दिया तो दो एका १ + १ मिलकर ग्यारह (११) हो गये। दो एक मिलते ही एक की शक्ति दस गुनी बढ़ गई। अध्यात्मशास्त्र में पहला १ अंक ज्ञान का प्रतीक है, दूसरा १ अंक आचरण का प्रतीक है। अगर अकेला ज्ञान है, तो वह मात्र एक के अंक का मूल्य रखता है, किन्तु यदि ज्ञान के साथ आचरण भी जुड़ गया तो उस ज्ञान की शक्ति दस गुनी बढ़ जाती है। एकादशी में दो एके–एक का अंक दो बार लिखा गया है।

इसका मतलब है जीवन में ज्ञान और कर्म दोनों मिलकर दस गुनी शक्ति पैदा कर देते हैं।

वैदिक-परम्परा में तो एकादशी का बहुत ही महत्त्व है। वहाँ एकादशी व्रत की विशेष परम्परा रही है। प्राचीन वैदिक पुराणों में बताया है एक व्यक्ति अपने घर पर प्रतिदिन दो लाख ब्राह्मणों को भोजन कराता है। उसे जितना पुण्य होता है, उससे अधिक पुण्य है हेमन्त ऋतु के मार्गशीर्ष मास की एकादशी का व्रत रखने से। एकादशी व्रत के विषय में मजाकिया एक कहावत भी प्रसिद्ध है। **करी थी एकादशी पर द्वादशी की दादी है।** एकादशी को अन्न तो नहीं खाते, किन्तु दूध, दही, पेड़े, फल ठूँस-ठूँसकर इतने खा लेते हैं कि वह एकादशी द्वादशी की दादी हो जाती है। ऐसी एकादशी तो व्रत का मजाक हो जाता है। वास्तव में एकादशी को अन्न नहीं खाया जाता, रात्रि-भोजन नहीं किया जाता। ब्रह्मचर्य का पालन किया जाता है। किसी भी जीव की हिंसा से बचा जाता है। एकादशी के लिए यह सामान्य विधान है। बारह महीनों में मार्गशीर्ष मास की एकादशी का अपना अलग ही महत्त्व है। वह तिथि बड़ी पवित्र और कल्याणकारी मानी गई है।

जैन-परम्परा में एकादशी

प्राचीन जैन साहित्य में मौन एकादशी व्रत का इतिहास मिलता है। उसमें मार्गशीर्ष मास की एकादशी का महत्त्व बताते हुए कहा है–

अस्यां चक्रिपदं हित्वा, प्रहीदरजिनो व्रतम्।
जन्म-दीक्षां च सज्ज्ञानं, मल्ली ज्ञानं नमीश्वरः॥

मार्गशीर्ष मास की एकादशी के दिन १८वें तीर्थंकर अरनाथ भगवान ने चक्रवर्ती सम्राट् का अपार वैभव त्यागकर मुनि-दीक्षा ग्रहण की थी। उन्नीसवें तीर्थंकर मल्लीनाथ भगवान का जन्म, वैराग्य (दीक्षा) तथा केवलज्ञान तीनों कल्याणक इसी एकादशी के दिन हुए तथा २१वें तीर्थंकर भगवान नेमिनाथ को केवलज्ञान भी एकादशी के दिन प्राप्त हुआ। इस प्रकार इस अवसर्पिणी काल में तीन तीर्थंकरों के पाँच कल्याणक इस मार्गशीर्ष शुक्ल एकादशी को सम्पन्न हुए। आचार्य श्री हेमचन्द्र ने लिखा है–

नारका अपि मोदन्ते यस्य कल्याण पर्वसु।

तीर्थंकर भगवान के कल्याण के पवित्र क्षणों में समूचे संसार में हर्ष की लहर दौड़ जाती है। सदा दुःख और पीड़ा में रहने वाले नारक जीव भी

उस पवित्र क्षण में अत्यन्त आनन्द और हर्ष की अनुभूति करते हैं। सघन अन्धकारमय स्थानों में भी प्रकाश की आभा फूटती है और ऐसा महसूस होता है कि संसार में कोई दिव्य प्रकाश फैल रहा है। झुलसती गर्मी में कोई शीतल हवा का झोंका आ रहा है। यह दिव्य प्रभाव होता है तीर्थंकरों के कल्याणक का। उस क्षण में पापी और दुष्ट प्राणी के मन में भी क्षणभर के लिए दया, करुणा, प्रेम और शान्ति का स्पर्श होता है। ऐसा स्पर्श जो अन्य किसी क्षण में नहीं हो सकता और जिसका आनन्द भी वाणी से व्यक्त नहीं किया जा सकता। स्थानांग, समवायांग आदि सूत्र भी इस बात के साक्षी हैं कि तीर्थंकरों के कल्याणक का क्षण संसार के लिए अद्वितीय, अनिर्वचनीय आनन्द, उल्लास एवं प्रकाश का क्षण होता है। क्योंकि तीर्थंकर भगवान अनन्त-अनन्त पुण्यों के पुँज होते हैं। उनकी पुण्यवानी अतिशय और संसार के लिए परम हितैषिता अद्वितीय होती है। इस कारण उनके कल्याणक का महत्त्व है। कल्याणक का अर्थ ही है कल्याणकारी।

मैं कह रहा था कि इसी मार्गशीर्ष शुक्ल एकादशी के दिन तीन तीर्थंकरों के पाँच कल्याणक भरत क्षेत्र में इस अवसर्पिणी काल में सम्पन्न हुए।

जैन ग्रन्थकारों की यह धारणा है कि जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में जिस दिन ये पाँच कल्याणक सम्पन्न होते हैं, उसी दिन ऐरावत क्षेत्र में भी इस क्रम से कल्याणक होते हैं। इस प्रकार पाँच कल्याणक भरत क्षेत्र में और पाँच ऐरावत क्षेत्र में होने से १० कल्याणक जम्बूद्वीप में इस दिन होते हैं।

धातकीखण्ड द्वीप में २ भरत क्षेत्र हैं, २ ऐरावत क्षेत्र हैं।

पुष्करार्ध द्वीप में भी २ भरत क्षेत्र तथा २ ऐरावत क्षेत्र हैं।

इस प्रकार कुल ५ भरत क्षेत्र में ५ × ५ = २५ कल्याणक

५ ऐरावत क्षेत्र में ५ × ५ = २५ कल्याणक

इस अवसर्पिणी काल में कुल ५० कल्याणक मार्गशीर्ष शुक्ल एकादशी के दिन मनाये जाते हैं। इसको अतीतकाल की चौबीसी और आने वाली चौबीसी से जोड़ने पर ५० × ३ = १५० कल्याणक तीनों काल में इस दिन सम्पन्न होते हैं। यह जैन पुराणों की मान्यता है और इस आधार पर यह कहा जाता है कि मार्गशीर्ष शुक्ल एकादशी के दिन १५० कल्याणक होने से यह दिन बहुत ही शुभ, श्रेष्ठ और पवित्र माना गया है। इस दिन तप (उपवास) और जप (तीर्थंकरों का जाप) द्वारा तीनों तीर्थंकरों की

उपासना/आराधना की जाती है। तप के साथ जप और जप के साथ ही मौन व्रत का इस दिन विशेष महत्त्व है।

मौन मन का अन्तरंग तप है, वचन का भी तप है। मौनयुक्त उपवास होने से मन-वचन-तन तीनों योगों से तप की आराधना हो जाती है। यों देखें तो तन का तप है–इन्द्रिय-संयम और उपवास; वाणी का तप है–मौन और जप तथा मन का तप है–ध्यान, एकाग्रता। और तीनों का मिलन है मौन एकादशी व्रत।

पौराणिक कथा

जैन व्रत कथा साहित्य का आलोडन करते हुए मैंने एक बार मौन एकादशी के माहात्म्य पर एक कथा पढ़ी थी। कथा रुचिकर और प्रेरणाप्रद है। इसलिए संक्षेप में यहाँ उसका उल्लेख करना चाहता हूँ।

एक बार भगवान नेमिनाथ द्वारका नगरी में पधारे। वासुदेव श्रीकृष्ण सम्पूर्ण राज-परिवार के साथ भगवान के दर्शन करने आये। दर्शन करके देशना सुनी। उसके पश्चात् भगवान से प्रार्थना की–"हे प्रभो ! मैं रात-दिन राज-कार्यों में व्यस्त रहता हूँ इसलिए धर्माराधना करने का विशेष समय नहीं मिल पाता। इस कारण मुझे कोई ऐसा एक दिन बताइये जिस दिन समग्र राज-चिन्ताओं से मुक्त होकर निर्विकल्प भावपूर्वक धर्माराधना करने से मैं विशेष उत्तम फल की प्राप्ति कर सकूँ।"

भगवान नेमिनाथ ने कहा–"वासुदेव ! मार्गशीर्ष शुक्ल एकादशी का दिन बहुत ही श्रेष्ठ और उत्तम दिन है जिस दिन मौनपूर्वक व्रत आराधना और तीर्थंकर देवों को स्मरण-चिन्तन करने का महान् फल होता है।"

श्रीकृष्ण वासुदेव ने पूछा–"प्रभो ! अतीतकाल में इस व्रत की आराधना किसने की है? उसका क्या महान् फल प्राप्त हुआ?"

भगवान नेमिनाथ ने बताया–अतीतकाल में सुर नाम का एक धनाढ्य श्रेष्ठी था। मानव-जीवन के सुख भोगते हुए एक दिन उसके मन में विचार उठा–'पूर्व-जन्मों के पुण्य फल के रूप में मैं इस जन्म में सभी प्रकार के सुख भोग रहा हूँ। किन्तु यदि इस जन्म में धर्माराधना नहीं की तो फिर यह जीवन निरर्थक हो जायेगा और अगले जन्म में भी सद्गति नहीं मिल सकेगी।' यह विचारकर सुर श्रेष्ठी अपने धर्म-गुरु के पास गया और निवेदन किया–"गुरुदेव ! मैं गृह-कार्यों में रात-दिन व्यस्त रहता हूँ। इस कारण धर्म-साधना

में विशेष समय नहीं लगा सकता। कृपाकर मुझे कोई ऐसा मार्ग बताइये कि मैं कम समय में धर्माराधना करके विशेष फल की प्राप्ति कर सकूँ।" इसके उत्तर में आचार्यश्री ने बताया–"हे श्रेष्ठी ! मार्गशीर्ष मास की शुक्ल एकादशी के दिन आठ प्रहर का पौषध व्रत लेकर मौनपूर्वक इस दिन जिनेश्वर देव की आराधना करने का महान् फल होता है।"

गुरुदेव की बताई विधि के अनुसार सुर श्रेष्ठी ने ग्यारह वर्ष तक प्रत्येक एकादशी को पौषध एवं पूर्ण मौनपूर्वक तप आराधना की। इस तप की आराधना से श्रेष्ठी सुर को अनेक शुभ फलों की प्राप्ति हुई। आयुष्य पूर्ण कर वह ग्यारहवें देवलोक में उत्पन्न हुआ और देव आयुष्य पूर्ण कर भरत क्षेत्र के सोरिपुर नगर में सुव्रत नाम का सेठ बना। पूर्व-जन्म के शुभ संस्कारों के कारण वहाँ भी उसे देव-गुरु-धर्म की आराधना का अवसर मिला। श्रेष्ठी सुव्रत के पास ग्यारह करोड़ की धन-सम्पत्ति थी, जिसमें से वह दान-लोकोपकार के कार्य करके पुण्योपार्जन करता रहा।

एक बार सोरिपुर में धर्मघोष नामक आचार्य पधारे। सुव्रत श्रेष्ठी ने उपदेश श्रवण कर धर्ममार्ग पूछा तो आचार्यश्री ने कहा–"श्रेष्ठी ! तुमने पूर्व-जन्म में मौन एकादशी व्रत की आराधना की थी। उस आराधना के फलस्वरूप ही तुझे यहाँ संसार के सुख और धर्ममार्ग की प्राप्ति हुई है। यहाँ पर भी तुम इसी एकादशी व्रत की आराधना करो।"

गुरुदेव के वचनों से प्रेरित होकर सेठ सुव्रत ने मौन एकादशी व्रत की आराधना प्रारम्भ की। एक दिन जब वह आठ प्रहर का पौषध व्रत लेकर अपनी पौषधशाला में धर्माराधना कर रहा था। उस रात्रि के समय में चार चोर उसके घर में घुस आये और सेठ के धन-भण्डार में से हीरे, मोती, स्वर्ण-मोहरें आदि की गठरियाँ बाँधने लगे। सेठ अपनी धर्माराधना में लीन था। चोर उसके सामने धन की गठरियाँ बाँध रहे थे, परन्तु देखकर भी सेठ ने धन का मोह नहीं किया और मौनभावपूर्वक धर्मध्यान करता रहा। सेठ की धर्म के प्रति यह अडिगता और निष्ठा अद्‌भुत थी। वह सोचने लगा–'यह धन मेरा नहीं है। मेरा तो ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप धन है जिसे कोई चुरा नहीं सकता।'

उसी समय घर में चोरों की आहट से नौकर-चाकर जाग गये। चोरों को पकड़ लिया। रात्रि में पहरा देने वाले सिपाहियों को बुलाकर उनके हवाले कर दिया। सैनिकों ने चोरों को कारागार में बंद कर दिया और प्रातःकाल होने पर राजा के सामने पेश किया।

राजा ने सेठ सुव्रत को बुलाया और पूछा–"सेठ जी ! क्या इन लोगों ने आपके घर में चोरी करने का प्रयास किया है?"

सेठ को चोरों पर दया आ गई। सोचा–'यदि मैं कह दूँगा कि हाँ, तो राजा इनको प्राणदण्ड देगा। मेरे कारण इन चार प्राणियों की हत्या हो जायेगी।' सेठ का दयालु हृदय काँप गया। उसने कहा–"महाराज ! ये चोर नहीं हैं। ये तो मेरे पुराने सेवक हैं। घर का सामान इधर-उधर जो बिखरा पड़ा था उसे ठीक-ठाक कर रहे थे। आप इनको छोड़ दीजिये। इन्होंने चोरी नहीं की है।"

सेठ की इस करुणाशीलता और उदारता पर राजा को भी बहुत आश्चर्य हुआ। नगर के लोगों ने भी सेठ की दयालुता की प्रशंसा की। चोरों का हृदय भी बदल गया। वे सेठ के चरणों में झुक गये। सेठ जी–"आपकी दयालुता ने ही आज हमारी जीवन-रक्षा की है, हम भविष्य में कभी भी चोरी जैसा कोई दुष्कर्म नहीं करेंगे।" इस प्रकार सेठ की उदारता और दयालुता के प्रभाव से चोरों का हृदय बदल गया। नगर में जिनधर्म की प्रभावना हुई।

दूसरे वर्ष पुनः सेठ ने एकादशी व्रत की आराधना की। पौषध करके रात्रि में धर्म जागरणा कर रहा था कि अचानक नगर में अग्नि प्रकोप हुआ। आसपास के भवन, दुकानें आदि अग्नि ज्वाला में जलकर भस्म होने लगे। लोग घरों से निकलकर इधर-उधर भागकर अपनी जान बचाने में जुट पड़े। परन्तु सेठ सुव्रत अडिग भाव से आकुलतारहित अपनी धर्माराधना में स्थिर रहा। पड़ौसियों ने सेठ को बहुत समझाया कि व्रत में भी आपत्तिकाल के आगार रहते हैं। तुम भागकर अपनी जान बचाओ। जीवित रहोगे तो व्रत आराधना फिर कर लेना। परन्तु सेठ सुव्रत अपने ध्यान से नहीं डिगा। तप का आश्चर्यजनक प्रभाव हुआ कि पूरे नगर में जहाँ बड़े-बड़े भवन जलकर राख हो गये वहाँ सेठ सुव्रत के भवन को आँच भी नहीं लगी। इसी प्रकार लोगों ने आश्चर्य के साथ धर्म का प्रभाव देखा और सुव्रत सेठ की प्रशंसा करने लगे। ग्यारह वर्ष तक सुव्रत सेठ ने लगातार मौन एकादशी व्रत की आराधना की। उसके बाद विजयशेखरसूरि के उपदेश से वैराग्य प्राप्त कर ११ कोटि मोहरों को त्यागकर दीक्षा ग्रहण कर ली।

मुनि बनने के पश्चात् भी सुव्रत मुनि ने मौन एकादशी तप की आराधना का क्रम चालू ही रखा। एक दिन एकादशी के दिन सुव्रत मुनि ने

प्रातः संकल्प किया–'आज पूर्ण मौन रखूँगा तथा अपने उपाश्रय से बाहर भी नहीं जाऊँगा।' रात्रि के समय एक मुनि के शरीर में वेदना उत्पन्न हुई। मुनि ने सुव्रत मुनि से कहा–"मेरे शरीर में तीव्र वेदना हो रही है। तुम किसी श्रावक के घर जाकर मेरे लिए औषध लेकर आओ या श्रावक को कहो कि वह वैद्य को बुलाकर लाये।"

सुव्रत मुनि ने विचार किया–'मैंने तो आज पूर्ण मौन व्रत लिया है और उपाश्रय से बाहर जाने का भी त्याग किया है फिर कैसे अपना नियम तोड़ूँ?' वेदनाग्रस्त मुनि के बार-बार कहने पर भी सुव्रत मुनि कुछ नहीं बोले तो मुनि को क्रोध आ गया। क्रोध में दूसरे मुनि ने सुव्रत मुनि को बहुत ही कठोर वचन बोले और अपने रजोहरण से बार-बार मारने भी लगे। सुव्रत मुनि फिर भी शान्त रहे, आक्रोश नहीं किया और अपना ही आत्म-निरीक्षण करते रहे। उच्च शुभ भावधारा में बहते हुए उन्होंने घातिकर्मों का क्षय किया और केवलज्ञान प्राप्त कर केवली बन गये। अन्त में सम्पूर्ण कर्मों का क्षय करके मोक्ष गये।

भगवान नेमिनाथ ने वासुदेव श्रीकृष्ण को मौन एकादशी का यह कथानक सुनाकर इस व्रत का महत्त्व बताया और कहा–"प्रत्येक व्यक्ति को अपनी शक्ति के अनुसार मार्गशीर्ष शुक्ल एकादशी के दिन मौनपूर्वक तप, जप और तीर्थंकरों की आराधना करनी चाहिए।[1]

जैन-परम्परा में जो भी व्रत विधान है, पर्व-आराधना है उसके पीछे तप, जप और त्याग का उद्देश्य रहा है। मार्गशीर्ष मास की शुक्ल एकादशी के पीछे भी यही भावना है। हम सदा वचन का व्यवहार करते हैं, परन्तु वर्ष में एक दिन तो सम्पूर्ण मौन व्रत धारण कर मौन का भी आनन्द लेवें।

मौन का उद्देश्य और साधना

मौन का अर्थ केवल वाणी का निरोध मात्र नहीं है। जिन जीवों को वाणी प्राप्त नहीं है, वचन पर्याप्ति नहीं मिली है; वे भी नहीं बोल सकते, परन्तु उन्हें मौनी नहीं कह सकते। मौन तब होता है जब हम विवेकपूर्वक वचन का संवरण करें। मन में वचन के विकल्प चलते रहें, विचारों की उथल-पुथल मची रहे, हाथों के इशारे और संकेत भी होते रहें तो वह

---

१. श्री विजयलक्ष्मीसूरि कृत उपदेश प्रासाद, भाग ४ के आधार पर

वचन निरोध पूर्ण मौन नहीं होता। पूर्ण मौन का अर्थ है मन की विकल्प शून्य अवस्था, निर्विकल्पता।

उत्तराध्ययनसूत्र में गौतम स्वामी ने भगवान महावीर से पूछा–"भन्ते ! वचनगुप्ति का क्या अर्थ है और उसका क्या फल है?"

भगवान महावीर उत्तर में बताते हैं–

वय गुत्तयाए णं जीवे निव्विकारत्तं जणयइ।
निव्विकारेणं जीवे वइगुत्ते अज्झप्प-जोग-साहण जुत्ते यावि भवइ॥

–उत्तरा. २९/५४

–वचनगुप्ति से जीव में निर्विकारता का भाव आता है। मन में उठने वाली वाणी की हलचल शान्त हो जाती है। शान्त सरोवर में जैसे लहरें नहीं उठतीं, उसी प्रकार मौनपूर्ण मन में विचारों की लहरें, तरंगें शान्त रहती हैं और मौनी का मन अध्यात्मभाव में लीन हो जाता है।

आचारांगसूत्र में भगवान ने बताया है–"मौन ही सच्चा मुनित्व है। मौन ही सम्यक्त्व है।

जे सम्मं ति पासहा ते मोणं ति पासहा।

–जिसने सम्यक्त्व का स्पर्श कर लिया है, जिसका मन सम्यग्दर्शन में रम गया है; उसका मन मौन में रमण करता है। वह संसार से उदासीन रहने वाला मौनी है।

आचार्य भद्रबाहु का कथन है कि मौन का अर्थ केवल वाणी का निरोध नहीं है, किन्तु वाणी के दोषों का ज्ञान रखते हुए विवेकपूर्ण वचन प्रयोग करना भी मौन है। जिसे वाणी का विवेक नहीं है, वचन की मर्यादा का ज्ञान नहीं है, वह अगर दिनभर नहीं भी बोले तब भी उसे मौनी या वचनगुप्त नहीं कहा जा सकता। जिसे वाणी का विवेक है, वह बोलता हुआ भी मौनी है।[1]

---

१. वयण विभत्ति अकुसलो वओ गयं बहुविहं अयाणंतो।
जइ वि न भासइ किंची न चेव वयगुत्तयं पत्तो॥
वयण विभत्ती कुसलो वओ गयं बहुविहं वियाणंतो।
दिवसं पि भासमाणो तहावि वय गुत्तयं पत्तो॥

–दशवकालिक निर्युक्ति २९०-२९१

इसका अर्थ है—मौन न विचारशून्यता है, न विकल्पशून्यता। किन्तु मन को विवेकपूर्वक शुभ ध्यान में जोड़ना और शुभ शब्दों का उच्चारण करना ही मौन है। इसलिए जप को वाणी का तप कहा जाता है। जप में शब्दों का उच्चारण अवश्य होता है, परन्तु वे शब्द पवित्र होते हैं। अरिहंत भगवान के गुणों का स्मरण कराने वाले हैं। इसलिए वे शब्द भी वाणी को पवित्र करते हैं। विचारों को पवित्र करते हैं इसलिए जप को, ध्यान को, आत्मा को, प्रभु स्मरण को भी हम मौन कह सकते हैं।

आज मौन एकादशी का दिन चुपचाप बैठे रहने का दिन नहीं, किन्तु मन से, वचन से अरिहंत प्रभु का स्मरण करने का, ध्यान और जप करने का दिन है और तभी हम वास्तव में मौन एकादशी की आराधना करेंगे। तन-संयम, मन-संयम और वचन-संयम सधेगा। तीनों का संयम शुभ योग में प्रवर्तन ही व्रत की सफल आराधना है।

● ●

वाक्‌शक्ति का सुनियोजन है; मौन

मौन एकादशी पर एक चिन्तन

भारतीय मनीषियों ने हमारी वाणी को वाक्‌शक्ति बताया है। कहा जाता है जब कोई बोलता है तो वह मनुष्य है और जब मौन हो जाता है तो वह देवता है। यानी वाणी मनुष्य की भाषा है और मौन देवताओं की भाषा है। वाणी में असीम शक्ति है, परन्तु मौन में उससे भी प्रचंड शक्ति है, इसलिए जो साधक साधनाकाल में वाणी पर संयम रखकर मौन साधना करते हैं, मौन के द्वारा उनकी आत्मा के भीतर सुप्त शक्ति प्रचंड बनती है।

हमारे प्राचीन साहित्य में वाक्‌शक्ति–वाणी के चार भेद बताये गये हैं। सबसे पहली वाणी है–वैखरी। साधारण मनुष्य जो परस्पर वार्त्तालाप करते हैं, इसे वैखरी वाणी कहते हैं। दूसरी वाणी है–मध्यमा। इसमें मुख से शब्दों का उच्चारण नहीं किया जाता, किन्तु संकेतों के द्वारा अभिप्राय प्रकट किये जाते हैं। चेहरा हमारे भावों का दर्पण होता है। जो भाव मन में आते हैं उन्हें आँखों के इशारों से हाथों की मुद्राओं में सामान्य रूप में प्रकट कर सकते हैं और सामने वाला समझ सकता है। इसमें मुख से शब्दोच्चारण नहीं होता। केवल संकेत मात्र होता है।

तीसरी वाणी है–परावाणी। इसका प्रगटीकरण संकेतों व हाव-भाव तथा मुद्राओं द्वारा भी नहीं होता। यह विचार रूप में मस्तिष्क में चलती रहती है। विचारों की विद्युत् तरंगें समीपवर्ती लोगों को प्रभावित करती रहती हैं। जैसे मन में विचार होते हैं उसी के अनुरूप विचार तरंगें मस्तिष्क से निकलती रहती हैं और वातावरण को प्रभावित करती हैं। पास में रहने वालों का बिना कुछ कहे ही मन बदल देती हैं, भाव बदल देती हैं और वे हमारे विचारों का अनुगमन करने लग जाते हैं। जैसे गुम्बज के अन्दर की हुई आवाज उसमें प्रतिध्वनित होती रहती है उसी प्रकार परावाणी मस्तिष्क में विचार रूप में गूँजती हुई दूसरों के मस्तिष्क में प्रतिध्वनित होती है और उनके विचारों को प्रभावित करती रहती है। बहुत से साधक मौन रहते हैं,

मुख से एक शब्द भी नहीं बोलते किन्तु उनके मन व विचारों का प्रभाव दूसरों पर पड़ता है, उनकी अन्तःकरण स्थित ऊर्जा दूसरों के हृदयों को प्रभावित करती रहती है।

चौथी वाणी है–पश्यन्ती। इसमें तीनों वाणियों से भी प्रचंड शक्ति होती है परन्तु न तो शब्दों का उच्चारण होता है और न ही भावों को संकेतों द्वारा प्रकट किया जाता है, और न ही विचार तरंगें भी मस्तिष्क में घूमती हैं। यह एक प्रकार की संकल्प शक्ति या भावना होती है। इसमें साधक की आत्म-शक्ति काम करती है। आत्म-शक्ति जितनी प्रचंड होती है उतनी ही प्रचंडता के साथ आसपास के वातावरण को और दूरवर्ती व्यक्तियों को भी प्रभावित करती है। अखण्ड मौन-साधना के द्वारा ही पश्यन्ती वाणी की शक्ति प्रगट होती है। जितनी सुदीर्घ व कठोर मौन-साधना होगी, उतनी ही प्रचंड शक्ति उसकी पश्यन्ती वाणी से प्रकट होगी। योगशास्त्र का मत है–वैखरी वाणी मुख से, मध्यमा मन से, परावाणी प्राणों से और पश्यन्ती आत्मा से निःसृत होती है। प्रथम वाणी शब्द रूप है, बाकी तीनों वाणी मौन रूप हैं और यह एक-दूसरे से अधिक प्रभावशाली एवं प्रचंड शक्ति-सम्पन्न होती है।

साधारण मनुष्य अपने अन्तःकरण की शक्ति, प्राणों की शक्ति को बोलकर ही बिखेर देता है किन्तु साधक मौन रहकर उस शक्ति को आत्म-शक्ति के संवर्धन में उपयोग करते हैं और मौन द्वारा अपने भावों को अत्यधिक प्रभावकारी बना देते हैं।

इसलिए माना जाता है मौन व्यक्तित्व को अधिक प्रभावशाली और अधिक लोकप्रिय बनाती है। जो जितना कम बोलता है उसकी वाणी उतनी ही अधिक प्रभावशाली होती है और लोग उसके संकेतों पर, उसके विचारों पर चलने को उद्यत हो जाते हैं। जब मौन टूटता है तो वाणी की शक्ति बिखर जाती है, चिन्तन-शक्ति भी बिखर जाती है और प्राण-शक्ति भी कमजोर पड़ जाती है।

कई बार देखा सुना है, मौनी साधक जब दीर्घकाल का मौन खो लेते हैं तो उनका पहला शब्द, पहला मंगलपाठ, उनके मुख से निःसृत प्रथम वाणी कुछ अलग ही प्रभावकारी होती है। क्योंकि दीर्घकाल की संचित शक्ति उस वाणी से व्यक्त होती है, जिसका लाभ सुनने वालों को मिलता है। धीरे-धीरे उस मौन की चमत्कारी शक्ति क्षीण पड़ जाती है।

अभी कुछ दिन पूर्व अखबार में एक पत्रकार की टिप्पणी पढ़ने को मिली। उसने लिखा था-सोनिया गांधी जब तक चुप थी, अजेय थी। सर्वप्रिय थी और आलोचनाओं से बची थी। अब बोलने लगी है। उनकी क्या छवि बनती है यह भविष्य बतायेगा। आलोचनाओं से वह कैसे अपना बचाव कर सकेगी।

कबीरदास जी का कहना है–

बाद विवादे विष वर्धना, बोले बहुत उपाध।
मौन गहै सबकी सहे, सुमिरै नाम अगाध॥

–बोलने से विवाद बढ़ता है। मौन से सबके साथ मित्रता बनी रहती है।

मौन मनुष्य की सर्वप्रियता का एक अचूक साधन है। संस्कृत की सूक्ति है–"**मौनिनः कलहो नास्ति।**"–मौन रहने वाला कलह से, कटुता से बचता रहता है। मौन एक रक्षा-कवच है, ज्ञानियों का भी और मूर्खों का भी। ज्ञानी मौन रहता है, तो उसका वह गुण है, भूषण है और वह अपने सत्य व्रत की रक्षा कर सकता है। लोकप्रियता को बनाये रख सकता है। मूर्ख जब तक मौन रहता है, लोग उसे समझदार समझते हैं। मूर्खता का ढक्कन है मौन।

लोंगफेलो नामक विदेशी विद्वान् ने लिखा है–"आत्म के दो सर्वोत्तम मित्र हैं–एक मौन, दूसरा एकान्त।" मौन रहने से मन को ताजगी मिलती है। जैसे एक-दो घण्टा की नींद लेने से खोई हुई शक्ति वापस मिल जाती है। थकावट दूर होकर शरीर में ताजगी आ जाती है। उसी प्रकार मौन रहने से विचारों में, मन में ताजगी भर जाती है। विवेक में स्फूर्ति आ जाती है। वाणी में जोश आ जाता है।

बोलने में शक्ति का सर्वाधिक क्षय

मौन का अर्थ है–ऊर्जा के बिखराव को समेटना। अपनी भीतरी शक्ति को संगृहीत कर उच्च-स्तरीय पुरुषार्थ में, आत्म-अभ्युदय के श्रेष्ठ मार्ग में लगाना। एक घण्टा बोलने से जितनी शक्ति नष्ट होती है, उसे वापस प्राप्त करने में कई घण्टा लग जाते हैं। जैसे शरीर को शक्तिमान और बलवान बनाये रखने के लिए ब्रह्मचर्य की महिमा है। उसी प्रकार वाणी को प्रभावशाली बनाये रखने के लिए मौन-साधना का महत्त्व है।

एक विचारक का कहना है–एक बार का स्त्री-सहवास महीनों की संचित शक्ति को नष्ट कर देता है। उसी प्रकार एक घण्टा का बोलना कई

घण्टों की संचित शक्ति को क्षीण कर देता है। आपने देखा होगा, अन्तिम समय में मरने से पहले मनुष्य की बोली बंद होती है। वह हाथों व आँखों के इशारे से अपना भाव जताने की चेष्टा करता है। मतलब यह है जब चेतना शक्ति क्षीण होने लगती है तो सबसे पहले वाणी की शक्ति क्षीण होती है। जन्मता बच्चा बोल नहीं पाता, परन्तु हाथ-पैर हिलाकर अपनी पीड़ा व हर्ष की अभिव्यक्ति करता है। सात-आठ महीने बाद बच्चा बोलने लगता है। परन्तु बाकी चेष्टाएँ जन्मते ही शुरू कर देता है। इसका मतलब है–बोलने में सबसे अधिक शक्ति लगानी पड़ती है। जबकि जीभ से सिर-हाथ कितना भारी होता है। कहावत है–"**टके की जीभ नहीं हिले, मणभर को माथो हिलावे।**" अर्थात् इतना बड़ा सिर हिलाने में जितनी शक्ति लगती है उससे भी ज्यादा शक्ति खर्च होती है टके भर की जीभ हिलाने में।

मौन कभी भी दूसरों को हानि नहीं पहुँचा सकता, जबकि मनुष्य बोलकर समाज में कलह, विग्रह, विद्वेष, फूट और हिंसा को भड़काता है। दूसरों के दिलों में तीर चुभो सकता है। जितने दंगे, फसाद, खून-खराबा होता है, उनमें भड़कीले भाषण उत्तेजक शब्द ही ज्यादा काम करते हैं। पहले बोली चलती है फिर गोली चलती है।

एक अंग्रेज लेखक ने बहुत ही सुन्दर व्यंग्य लिखा है–अण्डे देने के बाद मुर्गी यह मूर्खता करती है कि वह चहचहाने लगती है। उसकी चहचहाहट सुनकर डीम कौआ आ जाता है। वह उसके अण्डे छीन लेता है और जो वस्तुएँ उसने अपनी भावी सन्तान के खाने के लिए रखी थीं उन्हें भी वह चट कर जाता है। अगर वह चुप रहती तो इन दोनों आफतों से बच सकती थी।

बोला क्यों ?

पुराने सन्त एक बड़ी ही प्रेरक कहानी सुनाते थे। एक राजा था। उसके कोई सन्तान नहीं थी। राजा ने सन्तान-प्राप्ति के लिए अनेक मनौतियाँ कीं। देवी-देवताओं के प्रसाद चढ़ाये। एक बार कोई सिद्ध योगी उस नगर में आये। राजा ने उनकी महिमा सुनी तो सन्तान-प्राप्ति के लिए कोई उपाय पूछा। राजा रानी की पीड़ा देखकर तथा उनकी भक्ति से प्रसन्न होकर योगी ने कह दिया–"जाओ, तुम्हें पुत्र की प्राप्ति हो जायेगी।" वचन देने के बाद योगी ने अपने ज्ञान से देखा तो राजा को तो पुत्र-प्राप्ति का कोई योग ही नहीं बनता था। योगी को बड़ा पश्चात्ताप हुआ। मैंने भावावेश में आकर यह

क्या बोल दिया। अब तो कुछ भी हो, मेरा वचन असत्य नहीं होना चाहिए। योगी ने निदान किया और मरकर रानी की कुक्षि में उत्पन्न हुआ।

राजा को पुत्र-प्राप्ति होने पर बड़ी प्रसन्नता हुई। उसने योगी का वरदान समझा, इसलिए सबसे पहले पुत्र को आशीर्वाद दिलाने के लिए योगी के पास गया। कुटिया में गया तो पता चला योगीराज तो काल कर गये। राजा ने योगी की धूनी की राख में पुत्र को लोटाया ताकि उनका आशीर्वाद उसे मिले। उस धूनी की राख लगने पर उस शिशु को जाति-स्मरण ज्ञान हो गया। उसने देखा–"अरे, मैं तो पहले इतना महान् योगी था। राजा को वचन देकर मैंने अपनी तपस्या भ्रष्ट कर दी। मैं तो स्वर्ग में जाता, परन्तु राजा को वचन देने के कारण योग भ्रष्ट होकर यहाँ इसका पुत्र बना हूँ।" बालक के मन में अपने बोलने पर बहुत ही पश्चात्ताप हुआ। मैं बोला ही क्यूँ ? यदि उस दिन मौन रह जाता तो मेरी तपस्या भ्रष्ट नहीं होती। उसने संकल्प कर लिया–"अब मैं जीवनभर मौन रहूँगा। बोलने से बड़ा नुकसान हुआ इसलिए जीवन में कभी भी नहीं बोलूँगा।"

राजकुमार बड़ा हुआ, किन्तु बोलता नहीं था। सदा ही मौन धारण किये रहता। राजा को बड़ी चिन्ता हुई। पुत्र तो हुआ, परन्तु यदि यह जीवनभर गूँगा ही रहेगा तो क्या फायदा हुआ? दुनियाँ में और हँसी होगी। इसे देख-देखकर मन और दुःखी होगा। बड़े-बड़े वैद्यों को, मान्त्रिकों, तान्त्रिकों को बुलाया, लाखों रुपया खर्च किया, उपचार करवाया। सभी ने राजकुमार की शरीर-परीक्षा करके जन्म-कुण्डली व ग्रह-योग देखकर बताया–"न तो इसके शरीर में कोई कमी है, न ही कोई भी अंग खराब और न ही ग्रह-योग भी ऐसे हैं कि यह गूँगा रहे। फिर पता नहीं क्या बात है? हो सकता है, कभी अपने आप ही बोलने लग जाये।"

एक दिन राजकुमार हवाखोरी करने के लिए घोड़े पर बैठकर जा रहा था। पीछे ५-१० सैनिक चल रहे थे। जंगल में से गुजरते हुए दाहिनी ओर एक तीतर बोलने लगा। तीतर का दायें बोलना अशुभ माना जाता है। सो सेवकों ने तुरन्त बंदूक की गोली से तीतर को मार डाला। तीतर तड़फड़ाता हुआ राजकुमार के सामने आकर गिर पड़ा तो राजकुमार एकदम द्रवित हो गया। उसके मुँह से सहसा निकल पड़ा–"मूर्ख ! बोला ही क्यों ?" सेवकों ने कुमार का बोलना सुना–अरे ! राजकुमार बोल गया। दौड़े आये, राजा को बधाई दी। राजकुमार बोल गया। राजा बहुत प्रसन्न हुआ। नौकरों को

बख्शीश दी। फिर राजा ने कुमार को अपनी गोदी में बिठाकर पूछा–"बेटा, तुमने क्या बोला था? एक बार फिर बोलो।" परन्तु कुमार तो बिलकुल चुप था। उसने दो बार बोलने का बुरा परिणाम देख लिया। एक बार खुद योगभ्रष्ट हुआ। इस बार तीतर ने बोलकर जान गँवाई। अब तो उसने पक्का मौन ही धारण कर लिया। राजा ने बहुत कोशिश की परन्तु कुमार नहीं बोला।

राजा को यह देखकर बहुत ही क्रोध आया कि नौकरों ने मेरे साथ मजाक किया है। कुमार के बोलने की झूठी बधाई देकर मेरे दिल में और गहरा घाव कर दिया। राजा ने उन नौकरों को बुलाया और कहा–"हरामजादो, तुमने झूठी बधाई देकर मेरा दिल जलाया है।" क्रोध में आकर राजा उनको कोड़ों से पीटने लगा। नौकरों पर कोड़ों की बरसा होती देखकर राजकुमार भीतर से तिलमिला उठा। उसे बड़ा खेद भी हुआ और नौकरों की मूर्खता पर हँसी और दया आ रही थी। नौकरों पर कोड़ों की मार लगती देखकर राजकुमार के मुँह से सहसा निकल गया–"**बोले ही क्यों ? अगर तुम नहीं बोलते तो आज यह दुर्दशा नहीं होती।**" कुमार के मुँह से फिर वही शब्द निकले सुनकर राजा का क्रोध शान्त हो गया। उसने नौकरों की पिटाई तो बन्द कर दी, अब कुमार को बार-बार कहने लगा–"बेटा, एक बार मुँह से बोल दे।" रानी भी बार-बार उसके सामने रोती–"बेटा, क्या बात है, तू हमसे नाराज है या किसी ने तुझे कुछ कह दिया है। तू क्यों नहीं बोलता। एक बार मुझे मुँह से–माँ बोल दे।" इस प्रकार रात-दिन माता-पिता को रोते-बिलखते देखकर कुमार ने कहा–"**मैं बोला ही क्यों ? अगर नहीं बोलता तो इतना रोना-पीटना तो नहीं होता।**" फिर उसने राजा को अपने मौन का कारण बताया–"मेरे बोलने से ही यह सब अनर्थ हुआ है, अगर मैं नहीं बोलता तो मेरी तपस्या यों राख में नहीं मिलती।" प्राचीन भाषा श्लोक सागर में इस पर एक राजस्थानी कवि की उक्ति मिलती है–

मौन व्रत सबसे बड़ो, जो कोई जाणै साध।
जोगी बोल्यो राय पै, ताहि भई असमाध॥
ताहि भई असमाध, जनम राजा घर पायो।
खग बोल्या वन मांय, जीव आपणो गमायो॥
चाकर बोल्या राय पै, ताहि भई असमाध।
मौन व्रत सबसे बड़ो, जो कोई जाणै साध॥

बोलने से हुआ विनाश

संसार का इतिहास उठाकर देख लो, जितने भी अनर्थ हुए हैं, युद्ध हुए हैं, नर-संहार हुए हैं, उनके पीछे सबसे बड़ा कारण यह वाणी रही है। बोलने से ही अनर्थ हुए हैं। द्रौपदी अगर एक कटु वचन नहीं बोलती तो महाभारत की विनाश लीला नहीं होती। कुरुक्षेत्र में खून की नदियाँ नहीं बहतीं। अठारह अक्षोहिणी विशाल सेना का विनाश क्यों हुआ? एक द्रौपदी के बोलने के कारण। दशरथ यदि कैकेयी को एक वचन नहीं देते, तो न तो राम की जगह भरत का राजतिलक होता, न ही राम वनवास जाते और न ही रावण के साथ युद्ध होता।

भगवान महावीर के समय का प्रसंग देख लो, गोशालक भगवान महावीर से संघर्ष करने के लिए आता है। क्रोध में उन्मत्त हुआ भगवान को गालियाँ देता है। अपशब्द कहता है। भगवान को झूठा बताता है। खुद को सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान बताता है। गोशालक का यह प्रलाप सुनकर अनेक लोग उत्तेजित हो जाते हैं। अपने भगवान का अपमान कौन सह सकता है। किन्तु भगवान महावीर स्वयं मौन धारण किये रहते हैं। सबको शान्त करते हैं। कहते हैं–कोई भी साधु नहीं बोलेगा। सब क्षमा और शान्तिपूर्वक उसके आक्रोश वचन सुनेंगे, सहेंगे। परन्तु उसी धर्मसभा में भगवान के दो शिष्य सर्वानुभूति मुनि और सुनक्षत्र मुनि से यह सहन नहीं हुआ। वे गोशालक को कहते हैं–"अरे गोशालक ! अज्ञानी ! कुछ तो विचार कर ! तू भगवान का शिष्य बना था। इनके साथ-साथ रहा था। इनको अपना धर्म-गुरु माना था और आज तू इनका ही अपमान कर रहा है ! अपने धर्म-गुरु की हीलना कर रहा है !"

सर्वानुभूति और सुनक्षत्र मुनि के बोलते ही गोशालक जैसे आग-बबूला हो उठा और भगवान की धर्मसभा में उनके सामने ही वह उन दोनों मुनियों पर तेजोलेश्या छोड़कर उन्हें भस्मसात् कर देता है।

यह प्रसंग इसलिए बता रहा हूँ कि अगर वे मुनि मौन रहे होते तो गोशालक उन पर उत्तेजित नहीं होता और न ही उनको भस्म ही करता। गोशालक की क्रोधोन्मत्त दशा देखकर ही भगवान ने सब श्रमणों को मौन रहने का आदेश दिया था। मौन नहीं रह सके तो उनको इस तेजोलेश्या का ग्रास बनना पड़ा।

आज भी परिवार, समाज व राष्ट्र के किसी भी क्षेत्र में चले जाइये जितने विग्रह होते हैं, संघर्ष होते हैं, परिवार टूटते हैं, पार्टियाँ टूटती हैं, उनके मूल में कहीं न कहीं **बोलना** ही मुख्य कारण रहता है।

सास-बहू के कलह में यदि सासु मौन रख ले तो बहू अकेली कितनी देर बक-बक करेगी। अकेला चना भाड़ नहीं फोड़ सकता। बिना घास के चिनगारी किसको जलायेगी–"**अतृणे पतितो वह्निः स्वयमेवोपशाम्यति।**" –सूखी जगह पर गिरी आग अपने आप बुझ जाती है। अकेला व्यक्ति कलह नहीं कर सकता। झगड़ा तभी होता है जब दो मिलते हैं। दोनों में एक मौन साधकर बैठ जाये तो दूसरा अपने आप थोड़ी देर में शान्त होकर चला जायेगा।

कलह के प्रसंग पर मौन शान्ति का उपाय है। विपत्ति के समय मौन धीरज देता है और मन के भीतर नया प्रकाश फैलाता है, जिससे विपत्ति से मुक्त होने का मार्ग मिलता है। मौन मार्गदर्शक है। गांधी जी कहते थे जब-जब वे कठिन समस्याओं से घिर जाते थे एकान्त में मौन धारण कर बैठते थे। अपने आप में समाधान का रास्ता मिल जाता था। उन्होंने लिखा है–मुझे मौन से अपार शक्ति मिलती है। मौन एक सर्वोत्तम टॉनिक है। एक उत्कृष्ट भाषण है। हजार भाषणों से जो प्रभाव नहीं पड़ता वह एक मौन से पड़ सकता है।

ऊर्जा स्रोत है–मौन

मौन से आत्मिक ऊर्जा प्राप्त होती है। भगवान महावीर ने अपने साधनाकाल में साढ़े बारह वर्ष तक मौन तप किया था। दीक्षा लेते ही उन्होंने संकल्प कर लिया था कि मैं आवश्यकता होने पर केवल पाँच वाक्य ही बोलूँगा। भगवान ऋषभदेव ने १२ मास तक मौन व्रत धारण किये रखा। शिष्यों ने कितना ही पूछा–"प्रभु ! हमें बताइये हम क्या खायें? कहाँ रहें?" परन्तु भगवान कुछ भी नहीं बोले। ऐसा कठोर मौन व्रत धारण किये रहे। जितने भी तीर्थंकर होते हैं छद्मस्थ काल में दीक्षा लेने के बाद जब तक केवलज्ञान प्राप्त नहीं होता मौनपूर्वक तप करते रहते हैं। इस अखण्ड मौन तप के पीछे क्या उद्देश्य है। यही कि मौन से वाणी का संयम होता है, ध्यान में एकाग्रता बढ़ती है और आत्मिक ऊर्जा प्रगट होती है। मौन योग साधना, ध्यान साधना है।

रक्षा कवच है–मौन

स्थानांगसूत्र में तीन आत्म-रक्षक बताये हैं। नेताओं के साथ आजकल जहाँ जायें सिक्योरिटी गार्ड रहते हैं। ब्लेक केट कमांडो मशीनगन ताने साथ-साथ चलते हैं और इस पर ही राष्ट्र का करोड़ों रुपया रोज पानी की तरह बह रहा है। भगवान महावीर कहते हैं–तीन आत्म-रक्षक ऐसे हैं जो हर समय तुम्हारे साथ छाया की तरह रहते हैं। वे पल-पल तुम्हारी रक्षा करते हैं उन पर एक पाई का खर्च नहीं और सम्पूर्ण सुरक्षा। आप सोचते होंगे कौन-से हैं वे आत्म-रक्षक !

भगवान कहते हैं–यदि जीवन यात्रा में कहीं वाद-विवाद, कलह या किसी के साथ विग्रह का प्रसंग उपस्थित हो तो इन तीन रक्षा कवचों का प्रयोग करो–पहला–उसे अपना सत्य पक्ष समझाओ। धर्म का ज्ञान दो, कलह के कटु परिणाम बताओ, वह समझ लें तो बात वहीं समाप्त हो जायेगी।

यदि सामने वाला आपकी बात सुनना ही नहीं चाहता है, उल्टा आपको भी हथियार बनाना चाहता है तो "**तुसिणिओ वा सिया।**" तो वहाँ मौन हो जाओ। चुप रहो। यह दूसरा आत्म-रक्षक है। आँखें खुली रहें तो रहें, परन्तु जबान पर ताला डाल दो।

यदि मौन धारण करने पर भी कलह की संभावना बनी रहे। आपकी उपस्थिति ही यदि झगड़े का कारण बनती हो तो–"**उट्ठित्ता वा आया एगंतमवक्कमेज्जा।**"–वहाँ से उठकर एकान्त दूर चले जाओ। न रहेगा बाँस, न बजेगी बाँसुरी। यह है तीसरा आत्म-रक्षक। कितने अच्छे, सच्चे आत्म-रक्षक हैं ये। अगर आप इन तीनों शिक्षाओं पर ध्यान देंगे तो कलह विग्रह-विवाद के प्रसंग पर ये आपकी रक्षा करेंगे।

तो मौन हमारा आत्म-रक्षक है। हमारा सिक्योरिटी गार्ड है। अमूल्य निधि है। जितने भी तपस्वी, योगी, सिद्ध-पुरुष हुए हैं उन्होंने मौन का अवलम्बन लिया है। बिना मौन के किसी भी साधना में सिद्धि प्राप्त नहीं होती।

मनोविज्ञानवेत्ता कहते हैं–हमारे मुँह से निकला प्रत्येक शब्द मन पर गहरा प्रभाव डालता है। एक संस्कार छोड़ता है, उस संस्कार से वातावरण निर्मित होता है। वातावरण से जीवन बनता है। हमारी जिह्वा से निकला प्रत्येक शब्द हमारे भाग्य का निर्माण करता है। हमारे आसपास के

वायुमण्डल का निर्माण करता है। मुँह से निकला शब्द एक बीज है, जो मन की भूमि पर धीरे-धीरे अंकुरित होता है। इसलिए शब्द का प्रयोग करते समय बहुत सावधानी बरतना है। अच्छे शब्द बोलने वाले परिवारों के बालकों में अपने आप अच्छे संस्कार निर्माण होते हैं। जबकि बुरे, गंदे शब्द बोलने वाले परिवारों के बच्चों में माता-पिता, परिवार की बोली सुनकर वैसे ही संस्कार पनपने लगते हैं। इसलिए बोलने में विवेक और संयम रखना हमारे अपने ही कल्याण के लिए आवश्यक है।

मैंने एक बार पढ़ा था। ऐतरेयक ब्राह्मण में एक प्रसंग आता है। अग्नि, सूर्य आदि देवताओं ने मनुष्य के शरीर में प्रवेश किया तो सभी ने अपने-अपने योग्य स्थान की तलाश की। अग्नि मनुष्य के मुख में प्रवेश कर गई। वायु देवता नाक में प्रविष्ट हुए। सूर्य देवता नेत्रों में जाकर प्रकाश के रूप में स्थिर हो गये। दिक्‌पाल कानों में और चन्द्रमा मनुष्य के हृदय में जाकर विराजमान हो गया।

अग्नि, वाग् भूत्त्वा मुखं प्राविशद्,
वायुः प्राणो भूत्वा नासिका प्राविशत्।

अग्नि ने वाक् बनकर मुख में प्रवेश किया। मैंने इस पर चिन्तन किया तो स्पष्ट हुआ–वाणी के रूप में, वाक्‌शक्ति जो हमारे मुख में है, वह अग्नि देवता है। अग्नि के तीन काम हैं–प्रकाश करना, पकाना और जलाना। अग्नि तेज है, प्रकाश है। वह अन्न-धान्य को पकाकर मधुर बनाती है। कचरे को जलाकर भस्म करती है परन्तु साथ ही वह घर भी जला देती है। वह मुर्दों को जलाती है तो जिन्दों को भी जला देती है। इसी प्रकार वाणी संसार में प्रेम, मुहब्बत फैलाती है तो कलह की आग भी भड़काती है। इसलिए इस अग्नि शक्ति पर संयम करना जरूरी है और इस वाक्‌शक्ति का संयम है मौन। मौन जीवन की श्रेष्ठ तपःसाधना है। जिसने मौन साध लिया उसकी वाणी सिद्ध हो गई। वचन का विवेक भी एक प्रकार का मौन है। वाक्‌शक्ति का सुनियोजन है वाणी।

● ●

यह तृतीया अक्षय क्यों ?

भारतवर्ष के विषय में एक बात प्रसिद्ध है कि यह पर्वों का देश है। यहाँ की संस्कृति पर्व-प्रधान है। इसलिए कहा जाता है—सात बार तेरह त्यौहार। सप्ताह के वार सात होते हैं, परन्तु उनमें त्यौहार तेरह आ जाते हैं। त्यौहार या पर्व मनाना मनुष्य की उत्सवप्रियता का प्रतीक है। मनुष्य का मन सदा नवीनता देखना चाहता है, परिवर्तन चाहता है। सुबह जो भोजन किया, वही शाम को मिले तो आप कहेंगे—यह क्या? बार-बार एक ही तरह का भोजन ! आज जो कपड़े पहने वही कल पहनेंगे तो लोग कहेंगे, अरे यह क्या रोज-रोज वही कपड़े ! यानी मनुष्य का मन हर समय परिवर्तन चाहता है। नया-नया देखना, नया-नया खाना, नया-नया पहनना, नये-नये लोगों से मिलना और नई-नई बातें करना। नयापन चाहने की इसी भावना का प्रतिफल है पर्व या त्यौहार। कवि कहता है—

रोज आते हैं, नये त्यौहार जीवन में।
रोज खिलते हैं, नशीले फूल उपवन में॥

बगीचे में डाली पर नये-नये फूल, नये-नये ताजा फल लगते रहते हैं जिससे उद्यान की शोभा और आर्कषण बना रहता है। प्रकृति की तरह मनुष्य अपने जीवन में और मन में भी नवीनता चाहता है। बासी खाना, बासी विचार और बासी आचार में सुस्ती और आलस्य रहता है। नये ताजा आहार, ताजा विचार में फुर्ती और उत्साह नजर आता है। इसी आशा की प्रेरणा से जीवन में त्यौहारों का चलन हुआ है। कभी कोई मेला; कभी कोई उत्सव। इन मेले और उत्सवों के माध्यम से मनुष्य अपनी प्रसन्नता को व्यक्त करता है, अपने प्रेम, स्नेह, उल्लास, उमंग, वैभव और मान-सम्मान का भी प्रदर्शन करता है, जिससे उसके मन को बड़ा सन्तोष मिलता है, खुशी मिलती है। अहंकार की संतुष्टि और उल्लास की पुष्टि होती है।

कुछ त्यौहार बरसाती नदी के प्रवाह जैसे होते हैं। आते हैं तो खुशियाँ, धूमधाम, उल्लास और उमंग लेकर आते हैं परन्तु जाते-जाते सुस्ती, उदासी, आलस्य छोड़ जाते हैं। जैसे–होली, दशहरा, दिवाली और कुछ त्यौहार ऐसे हैं जिनके साथ एक प्रेरणा, एक भावना और आन्तरिक उल्लास की ज्योति आती है। खाने-पीने के बजाय उनमें त्याग, दान, तप और आदान-प्रदान की प्रेरणा मिलती है। पर्युषण, संवत्सरी आदि आध्यात्मिक उल्लास जगाने वाले पर्व हैं। अक्षय तृतीया का त्यौहार ऐसा ही एक त्यौहार है। पर्युषण और संवत्सरी की तरह इस पर्व के साथ खाने-पीने, नये वस्त्र पहनने का सम्बन्ध नहीं होकर दान और तप की भावना जुड़ी है। इसलिए यह एक आध्यात्मिक भावना या संस्कार जगाने वाला पर्व है। यह सांस्कृतिक त्यौहार भी है।

तृतीया अक्षय क्यों ?

पहली बात है, बहुत से सज्जन पूछते हैं इस पर्व का नाम अक्षय तृतीया या आखातीज क्यों पड़ा है? भारतीय ज्योतिष के हिसाब से तिथियाँ चन्द्रमा और नक्षत्रों की गति के अनुसार बनती हैं। इसलिए जैसे चन्द्रमा की कला घटती-बढ़ती रहती है वैसे तिथियाँ भी घटती-बढ़ती हैं। दूज, चौथ, पंचमी, चौदस, अमावस आदि सभी तिथियों में घटा-बढ़ी चलती रहती है। किन्तु आखातीज की तिथि आज तक कभी नहीं घटी। यह तिथि कभी क्षय नहीं होती। ज्योतिष के अनुसार भी वैशाख सुदी ३ की तिथि हजारों वर्ष में आज तक क्षय तिथि नहीं बनी। यह आश्चर्य इसके साथ जुड़ा है। साथ ही यह इस तिथि की विशेषता भी है। इस कारण ज्योतिष के अनुसार इसे अक्षय तिथि कहा गया है। जैसा कि कहा है–

वैशाखमासे राजेन्द्र ! शुक्लपक्षे तृतीयका।
अक्षया सा निधि प्रोक्ता कृतिका-रोहिणी युता॥

–वैशाख शुक्ल पक्ष की तृतीया अक्षय तिथि है।

गणितशास्त्री कहते हैं–गणित में ३ और ९ की दो संख्या ऐसी हैं जो कभी घटती नहीं, कम नहीं होतीं। जैसे ९ को जोड़ो तो वह हमेशा ९ ही रहता है। नौ का पहाड़ा पढ़कर देखिए ९ एकम नौ, ९ × २ = १८ इनका योग भी हुआ ९। इसी प्रकार आप जोड़ते जाइये नौ का अंक कभी क्षीण नहीं होता है। और तीन के अंक की तो इससे भी अधिक विशेषता है।

तीन का पहाड़ा लिखकर देखिये। दो बार वह बढ़कर दुगुना, तीन गुना होता है और फिर अपने मूल रूप में रहता है। फिर बढ़ता है, दुगुना,

तिगुना होता है और फिर मूल रूप में आ जाता है। किन्तु घटता नहीं। जैसे–

३ × २ = ६

३ × ३ = ९

३ × ४ = १२ १ + २ = ३

३ × ५ = १५ १ + ५ = ६

३ × ६ = १८ १ + ८ = ९

इस प्रकार आप देखेंगे कि तीन का अंक बढ़कर ऊपर जाता है और फिर अपने मूल रूप में आ जाता है। अपना मूल धन कम नहीं होने देता। यह तीन के अंक की विशेषता है।

वैदिक-परम्परा में कहा जाता है जमदग्नि के पुत्र परशुराम जी का जन्म अक्षय तृतीया के दिन हुआ इसलिए यह तिथि पवित्र तिथि मानी जाती है। कुछ लोग मानते हैं सतयुग का प्रारम्भ भी इसी दिन हुआ था। इसलिए यह युगादि तिथि है। भागवत में बताया है एक बार युधिष्ठिर ने श्रीकृष्ण से इस अक्षय तृतीया का माहात्म्य पूछा तो उन्होंने कहा–

वैशाखस्य तृतीयाश्च पूर्व विद्धां करोति यः ······

–वैशाख शुक्ल तृतीया के पूर्वाह्न में जो यज्ञ, दान, तप आदि पुण्य कार्य किये जाते हैं उनका फल अक्षय होता है।

भारत के गाँवों में आज भी यह विश्वास है कि अक्षय तृतीया का दिन विना पूछा मुहूर्त्त है। न पण्डित को पूछने की जरूरत है और न ही नक्षत्र व योग देखने की जरूरत। आज के दिन जो काम किया जाता है, वह शुभ और चिरस्थायी होता है। अक्षय होता है, इसलिए गृह-प्रवेश, विवाह, व्यापार आदि का शुभ आरम्भ आज के दिन खूब होता है।

श्रमणसंघ का प्रथम बृहद् सम्मेलन ईस्वी सन् १९५२ में अक्षय तृतीया के दिन ही सादड़ी में सम्पन्न हुआ जहाँ श्री वर्धमान श्रमणसंघ की स्थापना हुई तथा पूना सम्मेलन १९८७ में अक्षय तृतीया के दिन ही आचार्य श्री आनन्द ऋषि जी महाराज ने मुझे श्रमणसंघ के उपाचार्य का दायित्व सौंपा।

वैदिक-परम्परा में अक्षय तृतीया के साथ कोई अति महत्त्वपूर्ण पौराणिक या ऐतिहासिक घटना जुड़ी हो ऐसा कहीं पढ़ने में नहीं आया, किन्तु

जैन-परम्परा में अक्षय तृतीया के साथ एक अत्यन्त आदर्श प्रेरणादायी घटना जुड़ी है। इस कारण इस तिथि का जैनों में बहुत ही अधिक महत्त्व है और वह है भगवान आदिनाथ का पारणा। एक वर्ष के उग्र तप का आज के ही दिन श्रेयांसकुमार ने इक्षु रस का दान देकर भगवान को पारणा कराया इसलिए इस तिथि को अक्षय पुण्य प्रदान करने वाली तिथि कहा गया है।

प्राचीन साहित्य का अनुशीलन करने से पता चलता है कि अक्षय तृतीया के साथ दो महत्त्वपूर्ण तथ्य जुड़े हैं। पहला है भगवान ऋषभदेव का वर्षीतप और दूसरा श्रेयांसकुमार का दान, इस प्रकार तप और दान की दो अत्यन्त गौरवपूर्ण घटनाएँ इस तिथि से जुड़ी हैं। जैनधर्म में मोक्ष-प्राप्ति के चार उपाय या चार मार्ग बताये हैं–

दानं च शीलं च तपश्च भावो, धर्मश्चतुर्धा जिन बान्धवेन।
निरूपितो यो जगतां हिताय, स मानसे मे रमतामजस्रम्॥

–दान, शील, तप और भाव–भगवान ने धर्म साधना के ये चार मार्ग बताये हैं। इनमें दो मार्ग–पहला मार्ग दान और तीसरा मार्ग तप–इन दोनों का अद्‌भुत अद्वितीय सम्बन्ध अक्षय तृतीया से जुड़ा होने के कारण संसार में यह दिन अक्षय बन गया। अजर, अमर तथा सदा स्मरणीय दिन बन गया है।

पहला प्रसंग है तप का। भगवान ऋषभदेव ने चैत्र कृष्णा अष्टमी के दिन बेले की तपस्या के साथ दीक्षा ग्रहण की। भगवान को संसार त्याग करते देखकर उनके अनुगामी उग्रवंशी, भोगवंशी राजाओं के मन में भी प्रेरणा जागी कि जब अपने स्वामी संसार का त्यागकर तपस्या करने उद्यत हो रहे हैं तो अपने लिए भी यही श्रेयस्कर है। स्वामी का अनुगमन करना अपना कर्त्तव्य है। दूसरी बात स्वामी जिस श्रेष्ठ पथ पर बढ़ रहे हैं तो अपने लिए भी वह मार्ग सुखकारी ही होगा। यह दृढ़ विश्वास भी था। आचार्य जिनसेन के वर्णन अनुसार यही प्रतीत होता है–

गुरोर्मतमजानाना स्वामी भक्त्येव केवलम्।
यदस्मै रुचितं भर्त्रे तदस्मभ्यं विशेषतः॥

–जिनसेन महापुराण १७/२१२

इन चार हजार राजाओं में उस समय त्याग, वैराग्य व संयम साधना की कोई विशेष अभिरुचि या ज्ञान हो ऐसा प्रतीत नहीं होता, किन्तु स्वामी के प्रति भक्ति, प्रेम, दृढ़ विश्वास और समर्पण की उत्कट भावना ने उन्हें संप्रेरित किया और वे भी अपना-अपना राज्य त्यागकर उनके पीछे प्रव्रजित हो गये।

उस समय के मानवीय मन में कितनी सरलता और सहजता थी, कितनी आस्था थी कि केवल अपने राजा के प्रति अनुराग व विश्वास की भावना से कि वे जिस पथ पर बढ़ रहे हैं वह निश्चय ही कल्याणकारी पथ है, राज्यसत्ता, शरीर-सुख, परिवार की ममता आदि को त्यागकर कठोर जीवनचर्या स्वीकार कर लेना एक प्रेरणादायी घटना है, अस्तु।

प्रभु ने अपने सिर के बालों का चतुर्मुष्टि लोच कर संसार के सभी सावद्य योगों का त्याग किया–

सव्वं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि।

चतुर्मुष्टि लोच के विषय में भी एक जिज्ञासा उठती है। सामान्यतः पंचमुष्टि लोच किया जाता है। चार भागों में मस्तक के चार तरफ के बाल व पाँचवें भाग में चोटी का लुंचन। कहा गया है–भगवान जब चोटी का लुंचन करने लगे तब इन्द्र महाराज ने निवेदन किया–"प्रभो ! यह शिखा आपके मस्तक पर बहुत शोभायमान हो रही है। अतः इसका लुंचन नहीं करें।" इन्द्र की प्रार्थना मान्य कर प्रभु ने वह शिखा यों ही रहने दी। इसी कारण चित्रों में भगवान ऋषभदेव के मस्तक पर शिखर-चोटी दिखाई जाती है और उनका नाम केशी (केश वाले) या केशरिया जी प्रसिद्ध हो गया।

भगवान की तपस्या के साथ दो मुख्य बातें थीं–अखण्ड मौन व्रत तथा पूर्ण निर्जल तप। अखण्ड मौन व्रत धारण कर भगवान ने चउविहार बेला किया, उसके पश्चात् विशेष अभिग्रह ग्रहण कर भिक्षा के लिए नगर में पधारे। परन्तु उस समय तक कोई भी श्रमण नहीं हुआ था। इसलिए लोगों को श्रमणचर्या का ज्ञान भी नहीं था और न ही श्रमण को भिक्षा देने की विधि का ज्ञान था। भगवान जब पारणे के लिए अपने शिष्यों के साथ नगर में पधारते तो लोग भक्तिभाव और अहोभाव के साथ उनके दर्शन करने उमड़ पड़ते–"अहो स्वामी पधारे हैं, हमारे नाथ आ रहे हैं !" क्योंकि लोगों के मन में ऋषभदेव के प्रति एक पूज्य भावना थी कि ये हमारे शासक हैं, स्वामी हैं, प्रजा के पालक हैं। इनको धन-धान्य, राज-सुख, वैभव आदि किसी भी वस्तु की कोई कमी नहीं है। सब कुछ छोड़कर ये त्यागी, तपस्वी बने हैं। परन्तु लोगों को यह नहीं पता था कि ये भिक्षा के लिए हमारे यहाँ पधार रहे हैं और भिक्षा देनी है तो वह भिक्षा कैसी होनी चाहिए। किस प्रकार की भिक्षा भगवान लेते हैं, इनका कल्प क्या है? इसका ज्ञान किसी को नहीं था। इस कारण लोग उनके आदर-सत्कार में अनेक प्रकार के उपहार, रत्न, वस्त्र,

अलंकार, हाथी-घोड़े आदि लेकर सामने आते, मनुहार करते–प्रभु ! इस उपहार को स्वीकार कीजिए। परन्तु अपने कल्प के अनुसार शुद्ध आहार नहीं मिलने के कारण भगवान भिक्षा काल में नगर में भ्रमण करके वापस लौट जाते और पुनः आगे का तप ग्रहण कर लेते। कुछ लोग कहते हैं कि भगवान भिक्षा के लिए दिनभर घूमते रहते या वर्षभर तक घूमते रहे, परन्तु ऐसा नहीं है, वे केवल पारणे के दिन ही घूमते और वह भी सिर्फ भिक्षा के समय पर। इस प्रकार तप पर तप चलता रहा।

कुछ लोग यह भी प्रश्न करते हैं–भगवान तो उस समय भी चार ज्ञान के धारक थे उन्हें ज्ञात था कि मुझे अभी एक वर्ष तक भिक्षा नहीं मिलने वाली है, फिर भिक्षा के लिए क्यों नगर में जावें। वे क्यों नहीं एक वर्ष तक एकान्त में ध्यानस्थ होकर खड़े रहे।

प्राचीन आचार्यों के इस प्रश्न पर चिन्तन भी किया होगा परन्तु आज कोई समाधान नहीं मिलता। मात्र क्षेत्र-स्पर्शना ही इसका कारण बताया गया है। किन्तु यदि हम उनकी आदर्श जीवन-शैली पर विचार करें तो मेरे विचार में उसका समाधान है कि भगवान ऋषभदेव भविष्य को होनहार को जानते हुए केवल भवितव्यता के लिए हाथ पर हाथ धरकर यदि बैठे रहते तो आने वाले शिष्य भी यही कहते–भाई, जैसा योग है वैसा होगा। अभी प्रयत्न करने से क्या लाभ? इससे लोगों में नियतिवादी या भाग्यवादी मनोवृत्ति बढ़ती और पुरुषार्थ की अवहेलना होती। भगवान पुरुषार्थी थे। पुरुषार्थ का उपदेश देते थे और पुरुषार्थ का उपदेश देने वाला स्वयं भाग्य के भरोसे या नियति तथा होनहार के भरोसे चुपचाप बैठा रहे तो यह तो अपने ही आचरण से अपने सिद्धान्तों का मजाक हो जाता। दूसरों को पुरुषार्थ का मार्ग सिखाने के लिए भगवान स्वयं भी पुरुषार्थ करते हैं कि अपनी मर्यादा के अनुसार प्रयत्न करो। भाग्यवाद के नाम पर आलसी या पुरुषार्थहीन बनना तो कायरों का काम है। मेरा अनुमान है कि अपने अनुगामी शिष्यों को पुरुषार्थ का पाठ पढ़ाने के लिए ही भगवान पारणे के दिन स्वयं भिक्षाचरी के लिए निकलते थे। महापुरुष केवल सिद्धान्तों से ही नहीं, अपने आचरण से भी शिक्षा देते हैं। इसीलिए तो कहा जाता है–

यद्यदाचरति श्रेष्ठः लोकस्तदनुवर्तते।

–श्रेष्ठ पुरुष जैसा आचरण करते हैं, लोक उसकी नकल करते हैं। उनका अनुकरण करते हैं। अनुसरण व अनुकरण करने में भी अन्तर है।

अनुसरण उनके कहे/बताये हुए मार्ग पर चलना है और अनुकरण उनके पद-चिह्नों पर चलना, उनकी नकल करना है। महापुरुष जो कहते हैं वही करते हैं और जो दूसरों से करवाना चाहते हैं स्वयं उसका आचरण करते हैं। तो इस प्रकार अनुगामियों को पुरुषार्थ का पाठ पढ़ाने के लिए अपनी जीवनचर्या में अप्रमत्त बनकर वे भिक्षा के समय भिक्षार्थ भ्रमण करते रहें।

साथ में जो चार हजार श्रमण दीक्षित हुए थे वे इस कठोर व्रत से घबरा गये। उन्होंने भगवान से कहा–"प्रभो ! ऐसा कठोर उपवास कितने दिन करना पड़ेगा? हमें भूख-प्यास सता रही है। क्या करें?" किन्तु भगवान तो अखण्ड मौनव्रती ठहरे। वे अपने ध्यान-समाधि में ही लीन थे। नहीं बोलने से शिष्यगण भूख-प्यास से व्याकुल हो उठे।

कच्छ महाकच्छ आदि शिष्यों ने मिलकर परस्पर विचार किया–'अब हम क्या करें? भगवान तो भूख-प्यास के विजेता हैं, महाबली हैं, परन्तु हम तो इतना दुष्कर तप नहीं कर सकते? भूखे-प्यासे कितने दिन रहेंगे? यदि हम पुनः संसार में जायें और महाराज भरत का आश्रय लेवें तो हो सकता है वे हमारी हीलना करें, हमें कायर कहें और घर में जायें तो हमारे पुत्र आदि हमारा मान न करें। इसलिए यही उचित है कि अब हम वन में ही रहें। वन के कन्द-मूल-फल आदि खायें, वहीं के झरनों का जल पीयें।

पउमचरियं में आचार्य श्री विमलसूरि ने लिखा है कि जब वे श्रमण वृक्षों से फल तोड़कर खाने लगे तब आकाशवाणी हुई–"श्रमण वेष धारण कर वृक्षों से फल मत तोड़ो।" तब उन्होंने श्रमण वेष त्यागकर वल्कल, चीवर, पत्तों के वस्त्र धारण कर लिये और विभिन्न प्रकार के तापस बन गये।

आचार्य श्री हेमचन्द्रसूरि ने बताया है–

प्रावर्तन्त ततः कालाद् तापसा वनेवासिनः।
जटाधरा कन्द-फलाद्याहारा इह भूतले॥

–त्रिषष्टि. १/२/१२३

वर्तमान अवसर्पिणी में जटाधारी, कन्द-मूल खाने वाली तापस-परम्परा का प्रारम्भ इसी युग में हुआ।

भगवान ऋषभदेव अपने काल-क्रम से भिक्षा काल में नगर में भ्रमण करते किन्तु निर्दोष भिक्षा नहीं मिलने से पुनः तपोलीन हो जाते। इस प्रकार तप करते-करते १३ महीने और १० दिन व्यतीत हो गये। अन्त में वैशाख

शुक्ल तृतीया के दिन भगवान ऋषभदेव कुरुजन पद की राजधानी हस्तिनापुर पधारे। हस्तिनापुर में उस समय बाहुबली के पौत्र एवं राजा सोमप्रभ के पुत्र श्रेयांसकुमार युवराज थे।

श्रेयांसकुमार ने उसी रात एक शुभ किन्तु विचित्र स्वप्न देखा–सोने के समान दीप्ति वाला सुमेरु पर्वत श्यामवर्ण का कांतिहीन-सा हो रहा है, मैंने अमृत-कलश से उसे सींचकर पुनः दीप्तिमान बना दिया है।

उसी रात राजा सोमप्रभ ने भी एक स्वप्न देखा कि एक महापुरुष अपने शत्रुओं से घनघोर युद्ध कर रहा है। श्रेयांसकुमार ने उनको सहायता प्रदान की जिससे शत्रुओं का बल नष्ट हो गया और महापुरुष विजयी बना।

उसी रात में नगर-श्रेष्ठी सुबुद्धि को भी एक स्वप्न आया कि आकाश-मंडल में सूर्य की हजार किरणें अपने स्थान से चलित हो रही हैं, श्रेयांसकुमार ने अपने पुरुषार्थ से उन रश्मियों को पुनः सूर्य में से स्थापित कर दिया।

इस प्रकार राजा सोमप्रभ और सुबुद्धि श्रेष्ठी अपने स्वप्न-फल पर विचार करते हैं कि आज राजकुमार श्रेयांस को कोई विशिष्ट लाभ प्राप्त होगा।

प्रातःकाल श्रेयांसकुमार इस विचित्र स्वप्न के अर्थ पर विचार करता हुआ अपने महलों के गवाक्ष में बैठा है। उसी समय नगर में राजमार्ग पर प्रभु ऋषभदेव का आगमन हुआ। हजारों लोग उनके दर्शन करने तथा विविध प्रकार की भेंट सामग्री लेकर राजमार्ग पर आ गये। परन्तु प्रभु ने किसी की कुछ भी भेंट स्वीकार नहीं की। धीर गम्भीर गति से नीचे दृष्टि किये प्रभु राजा सोमप्रभ के महलों की तरफ बढ़ते-बढ़ते आ रहे हैं। हजारों लोगों की भीड़ प्रभु के पीछे-पीछे चल रही है। कोई भगवान की जय बोल रहा है तो कोई परस्पर चर्चा कर रहे हैं–अरे ! स्वामी तो कुछ बोलते नहीं, इनको क्या चाहिए ! हमारी कोई भेंट भी स्वीकार नहीं करते–इस प्रकार की चर्चाओं से कोलाहल जैसा शब्द हो रहा है।

जनता का कोलाहल, राजमार्ग पर बढ़ती भीड़ और उन सब के आगे चलते हुए भगवान आदीश्वर को देखकर श्रेयांसकुमार विचार में पड़ता है– आज क्या बात है ? यह महामानव कौन आ रहे हैं ? इस प्रकार का तपस्वी साधक तो मैंने पहले भी कहीं देखा है ? उनकी स्मृतियाँ अतीत में उतरती हैं। मन में ऊहापोह उठता है, चिन्तन की एकाग्रता बढ़ती है और

पुराने सन्त एक उदाहरण देते हैं–दो मित्र एक साथ मिलकर व्यापार करते थे। एक मित्र को कहीं बाहर जाने का अवसर आया, उसने दूसरे साथी या पार्टनर से कहा–"देख भाई, मैं बाहर जा रहा हूँ। तेरी-मेरी पार्टनरशिप है किन्तु आज से मैं पार्टनरशिप बन्द करता हूँ। अब मेरे पीछे तू जो कुछ भी करेगा उसका जिम्मेदार तू होगा। मेरा कुछ भी लेना-देना नहीं।" वह मित्र बाहर चला गया। पीछे से दूसरे मित्र को व्यापार में पाँच लाख रुपये का घाटा हो गया। छह महीने बाद दूसरा मित्र आया, उसने जब देखा कि एक मित्र ने व्यापार में पाँच लाख का घाटा उठाया है तो दूसरे को बड़ी तसल्ली हुई कि चलो मैं बच गया। यदि मैं पार्टनरशिप चालू रखता तो मुझे खामख्वाह ढाई लाख का घाटा उठाना पड़ता। तो अब सोचिए यदि पार्टनरशिप चालू रखता तो उसे ढाई लाख का घाटा भुगतना पड़ता या नहीं? वह यह तो नहीं कह सकता कि घाटा मैंने थोड़ा ही किया है? यह तूने किया है तू ही भुगत। चाहे कोई हो, परन्तु पार्टनरशिप बन्द नहीं की है तो आप लाभ-हानि में बराबर के भागीदार होते हैं।

व्रत के विषय में यही बात है। जब तक आपने संसार की भोग्य वस्तुओं से व भोग-उपभोग की इच्छाओं से अपने आप को अलग नहीं किया है, डिस्कनैक्ट नहीं किया है तब तक आप चाहे किसी वस्तु का उपयोग करें या न करें। अविरति रूप पाप आस्रव तो चालू रहेगा ही। उपभोग करेंगे तो योग आस्रव का द्वार भी खुल जायेगा। यदि उपभोग नहीं किया और त्याग भी नहीं किया तो अविरति रूप पाप तो चालू ही रहेगा। और अगर आपने उस वस्तु के सेवन का, उपभोग का, उसकी लालसा का त्याग कर दिया है तो एक प्रकार की पार्टनरशिप खत्म हो गई। फिर आप निश्चिन्त रह सकते हैं कि अब आपको न तो अविरति अव्रत रूप आस्रव का भय है और न ही उपभोग रूप पाप का ही आस्रव होगा।

भले ही आप काया से, किसी वस्तु का उपयोग नहीं करते, न ही वचन योग से उपभोग करने का आदेश देते हैं, किन्तु मन का तार जुड़ा होने से अव्यक्त अनुमोदना का पाप तो अवश्य लगता ही रहेगा।

सोचिए–आपने जन्म से आज तक शराब-माँस को छूआ तक नहीं, परस्त्री-गमन का बुरा विचार भी मन में नहीं उठा, परन्तु आज तक उनका त्याग भी नहीं किया तो माँस-मदिरा के निर्माण में जो भी जीव-हिंसा हो रही है, अव्यक्त रूप में आपकी अनुमोदना उसके साथ जुड़ी है। अनुमोदना

मतिज्ञानावरण का क्षयोपशम होने से उन्हें उसी समय जाति-स्मरण ज्ञान हो जाता है। श्रेयांसकुमार के सामने एक साथ पिछले कई जन्मों के चित्र उपस्थित होते हैं–"ओह ! मैंने भी पूर्व-जन्म में इसी प्रकार की श्रमण-दीक्षा धारण की थी। इसी प्रकार तपश्चर्या की थी।" वह ज्ञान से जान लेता है ये तो मेरे परदादा युगादिकर्ता दीर्घ तपस्वी प्रभु आदीश्वर हैं और शुद्ध भिक्षा के लिए इधर पधार रहे हैं। एक वर्ष से अधिक का समय हो गया, प्रभु एकदम निराहर-निर्जल तप किये हुए हैं।

विचारों के प्रवाह में बहता हुआ श्रेयांसकुमार महलों से नीचे उतरता है। प्रभु को वन्दना करके प्रार्थना करता है–"पधारो प्रभु ! पधारो !" भगवान भी ज्ञान-बल से देख रहे हैं। अभी-अभी राजमहलों में इक्षुरस से भरे १०८ घड़े आये हैं। शुद्ध और निर्दोष वस्तु है, भिक्षादाता भी शुद्ध है, इसकी भावना भी शुद्ध है। प्रभु ने प्रांगण में उपस्थित होकर देखा, श्रेयांसकुमार ने इक्षुरस का घड़ा उठाकर कहा–"प्रभु ! ग्रहण कीजिए। आपके योग्य निर्दोष भिक्षा है। प्रभु ने अपने दोनों हाथों की अंजली बनाई और श्रेयांसकुमार ने उत्कृष्ट भाव भक्ति के साथ इक्षुरस बहराया। प्रभु ने वर्षीतप का पारणा किया। उस समय देवों ने आकाश में देवदुंदुभि बजाई। अहोदानं ! अहोदानं ! की घोषणा की। पाँच दिव्यों की वर्षा हुई।

तो इस प्रकार यह चिरस्मरणीय घटना जुड़ी है आज के दिन के साथ। एक संवच्छर के दीर्घ तप का पारणा और शुद्ध दान। पारणा का सम्बन्ध एक ओर तप से जुड़ता है तो दूसरी ओर दान से। क्योंकि तप होगा तभी तो पारणा होगा और कोई दाता मिलेगा, शुद्ध भिक्षा दान करेगा तभी पारणा सफल होगा। तो पारणे का सम्बन्ध तप से भी है और दान से भी। पारणा मध्य में है। पारणा एक क्रिया की पूर्ति है। तप की संपूर्ति और दान की परिणति दोनों का ही सम्बन्ध पारणा से है। इसलिए महत्त्व की दो बातें हैं–तप और दान। तप और दान की इस दिव्य महिमा से आज का दिन पवित्र हुआ इस कारण अक्षय तृतीया के रूप में इस दिन की महिमा गाई जाने लगी।

वर्षीतप कैसे ?

यहाँ एक प्रश्न खड़ा होता है। भगवान ने चैत्र कृष्ण अष्टमी को दीक्षा ली और एक वर्ष बीत जाने पर वैशाख शुक्ल तीज के दिन प्रथम पारणा किया। यह समय १३ मास और १० दिन का होता है। जब १३ मास १०

दिन की तपस्या हुई तो इसे वर्षीतप क्यों कहा जाता है? वर्षीतप का अर्थ तो है, एक वर्ष का तप।

वर्षीतप को आगमों में संवच्छर तप कहा है–समवायांगसूत्र में पाठ है– "**संवच्छरेण भिक्खा लद्धा उसहेण लोगनाहेण।**"–लोकनाथ ऋषभदेव ने एक संवत्सर पश्चात् भिक्षा प्राप्त की। इसी संवच्छर तप के उल्लेख के कारण जैन-परम्परा में भगवान का तप वर्षीतप प्रसिद्ध हुआ है। प्रश्न यह है कि जब तप का काल १३ मास से अधिक है तो फिर इसे वर्षीतप क्यों कहा जाता है? इसका क्या समाधान है?

मैंने अपनी पुस्तक 'भगवान ऋषभदेव : एक परिशीलन' तथा अन्य निबन्धों में इस विषय पर आगमों के सन्दर्भों के साथ विस्तृत चर्चा की है। यहाँ पर संक्षेप में इस पर प्रकाश डालना चाहता हूँ।

आगमों में प्रायः संक्षेप शैली से वर्णन किया जाता है। किसी समय या काल आदि को बताने के लिए मोटा-मोटी वर्ष, युग, पल्योपम आदि की गिनती की जाती है। किन्तु मास, पक्ष, दिन आदि को उसी में समाविष्ट कर दिया जाता है। यह आगमों की वर्णन शैली है।

उदाहरण रूप में स्थानांगसूत्र के नवम स्थान में उल्लेख है–

उसंभेणं अरहया कोसलिएणं इमीसे ओसप्पिणीए णवहिं, सागरोवमकोडाकोडीहि विइक्कंतेहिं तित्थं पवत्तिए।

इस पाठ का सीधा शब्दार्थ करें तो होगा–कौशलिक अर्हत् ऋषभदेव ने अवसर्पिणी काल को नौ कोटाकोटि सागरोपम काल व्यतीत होने पर तीर्थ का प्रवर्तन किया।

किन्तु आगमों के विस्तृत वर्णन के अनुसार अवसर्पिणी काल के नौ कोटाकोटि सागरोपम व्यतीत होने में एक हजार तीन वर्ष आठ मास और पन्द्रह दिन कम एक लाख पूर्व का सुदीर्घ समय बाकी था, तब भगवान ने धर्मतीर्थ का प्रवर्तन किया।

दीखने में ये दोनों कथन परस्पर विरोधी लगते हैं, इसलिए आचार्यों ने आगमों की वर्णन शैली को ध्यान में रखकर इसकी संगति बैठायी है कि उक्त वर्णन समग्र शैली में है अर्थात् यह एक संक्षेप में वर्णन करने की शैली है। विस्तार से जहाँ वर्णन होता है वहाँ छोटी-छोटी बातों का उल्लेख हो

जाता है। किन्तु संक्षेप में जहाँ वर्णन होता है वहाँ मोटे रूप में ही कथन किया जाता है।

इस संक्षेप शैली का एक उदाहरण अन्य भी हमारे सामने है–

स्थानांगसूत्र स्थान ९ में उल्लेख है कि भगवान महावीर बारह वर्ष और तेरह पक्ष अर्थात् बारह वर्ष छह मास पन्द्रह दिन तक छद्मस्थ रहे। यह विस्तार शैली में वर्णन है।

आचारांगसूत्र की संक्षेप शैली में कहा गया है–"**बारस वासाइं वोसट्ठकाए।**"–बारह वर्ष तक भगवान छद्मस्थ काल में रहे। यह संक्षेप शैली का नमूना है।

इसी प्रकार भगवान का तीर्थंकर काल ३० वर्ष का बताया जाता है, किन्तु काल गणना करने पर उनके ४२ वर्ष के संयम-जीवन में से बारह मास तेरह पक्ष निकाल देने पर तीर्थंकर काल केवल २९ वर्ष ५ मास और १५ दिन का ही होता है।

तो इस प्रकार आगमों की प्रतिपादन शैली पर ध्यान देने से इस प्रश्न का समाधान मिलता है कि वहाँ संक्षेप शैली के कारण संवच्छर तप अर्थात् एक वर्ष कहा है। किन्तु विस्तार शैली से वह कुल १३ मास और १० दिन का समय होता है। दोनों ही अपनी-अपनी दृष्टि से सत्य हैं, यथार्थ हैं। हम प्रचलित भाषा में इसीलिए इसे वर्षीतप कहते हैं। व्यवहार भाषा में इसमें कोई दोष नहीं है।

भिक्षा और दान की विधि का प्रवर्तक श्रेयांसकुमार

भगवान ऋषभदेव का प्रथम पारणा होने से इस अवसर्पिणी काल में श्रमणों को भिक्षा देने की विधि का प्रथम ज्ञान देने वाला भी श्रेयांसकुमार हुआ। आचार्य श्री हेमचन्द्र ने कहा है–

राधशुक्ल तृतीयायां दानमासीत् तदक्षयम्।

वैशाख शुक्ल ३ को इस दानधर्म की प्रवृत्ति हुई। इसलिए यह तृतीया अक्षय बन गई। इस दानधर्म के प्रथम प्रवर्तक थे श्रेयांसकुमार। एक दृष्टि से देखें तो श्रेयांसकुमार का यह उपकार है कि उन्होंने जाति-स्मरण ज्ञान से श्रमणों को भिक्षा देने की जो निर्दोष विधि का ज्ञान प्राप्त किया, उससे जनता को परिचित कराया। लोगों को बताया–भगवान तो कंचन-कामिनी के त्यागी हैं, फिर तुम्हारे ये भेंट उपहार कैसे स्वीकारेंगे? उन्हें तो सिर्फ

उदरपूर्ति के लिए शुद्ध निर्दोष आहार की आवश्यकता है। तब से जनता को श्रमणों को भिक्षा देने का ज्ञान हुआ। कल्पना करो, यदि ऐसा नहीं होता तो जिस प्रकार भगवान ऋषभदेव के चार हजार श्रमण भूख-प्यास से खिन्न होकर श्रमण-पर्याय त्यागकर तापस बन गये। इसी प्रकार आगे भी इसकी संभावना बनी रहती जो श्रमण-परम्परा के विकास में अत्यधिक बाधक सिद्ध होती। यह पहला उपकार किया श्रेयांसकुमार ने।

दूसरा–दान-परम्परा का प्रवर्तन किया। संसार में दान की प्रथम परम्परा का श्रीगणेश श्रेयांसकुमार ने किया।

तप के प्रथम प्रवर्तक भगवान ऋषभदेव।
दान के प्रथम प्रवर्तक श्रेयांसकुमार थे॥

इस प्रकार अक्षय तृतीया का यह ऐतिहासिक पर्व संसार में तप की महिमा का प्रवर्तक होने के साथ ही दान-परम्परा का प्रवाह प्रवर्तित करने वाला है। तप और दान की आराधना करने की प्रेरणा देने के कारण ही यह तृतीया अक्षय तृतीया बनी है। तप और दान की आराधना करने वाला अक्षय पद प्राप्त कर सकेगा। यही इस पर्व का सन्देश है।

● ●

दान दो, मगर भावपूर्वक

कुछ लोग देते हैं, अहंकार की पूर्ति के लिए। यश, नाम और प्रसिद्धि के लिए।

कुछ देते हैं भय से, कहीं हम पर अमुक नाराज न हो जायें या उन्होंने कहा है, नहीं देंगे तो कुछ गड़बड़ कर देंगे, इस भय से।

कुछ देते हैं प्रतिफल की आशा से, एक देंगे तो दस मिलेंगे। कुछ अपना प्रभाव जमाने के लिए देते हैं, तो कुछ भावावेश में आकर दे देते हैं। इस प्रकार देने के पीछे अनेक प्रकार की भावनाएँ रहती हैं। परन्तु इस प्रकार का देना दान नहीं, यदि इसे दान कहें तो यह दान-पुण्य नहीं है।

दान-पुण्य का अर्थ है—जो निःस्वार्थ बुद्धि से दिया जाय। जिस देने में दूसरे के उपकार की भावना तो हो, साथ ही करुणा, भक्ति या उस दान से दूसरों का लाभ होने की संभावना हो तो उसमें हृदय की पवित्रता रहती है और पवित्र भाव से दिया हुआ अल्पदान भी महापुण्य होता है।

ऐसा दान दो, जिसे देकर आपके मन में प्रसन्नता जगे। आपको आह्लाद का अनुभव हो कि हाँ हमने कोई शुभ कार्य किया है। दान में वस्तु या मात्रा का महत्त्व नहीं, भाव का महत्त्व है। भाव ही दान का प्राण है, अतः जो भी दो शुभ भाव के साथ दो।

—आचार्य श्री देवेन्द्र मुनि

पर्वों की परिक्रमा

२

सांस्कृतिक एवं सामाजिक पर्व

नवीन संवत्सर : सुन्दर भविष्य निर्माण की प्रेरणा

आज चैत्र शुक्ला प्रतिपदा के प्रभात में नया विक्रमी संवत्सर आशा और उमंग का प्रकाश लेकर आपके दरवाजे पर उपस्थित हुआ है। आज का प्रातःकाल विगत का प्रत्यालोचन और भविष्य का पर्यालोचन करने का संधिकाल है। अतीत और अनागत दोनों आपके सामने खड़े हैं। अतीत विदा होता हुआ यह कह रहा है–"मैं जा रहा हूँ। इस संसार की यही रीति है। जो आता है वह जाता है, जो हँसता हुआ बहुत स्वागत और उमंगों के साथ आया था, जिसके स्वागत में आपने मिठाइयाँ बाँटी थीं, फूलों की वंदनवार टाँगी थी, नया साल मुबारक कहा था, वह आज आँसू बहाता हुआ जा रहा है। एक वर्ष की कड़वी यादें, कटु अनुभव और दुःख की दुर्गन्ध आपकी गोद में डालकर अलविदा कह रहा है–मेरे साथियो, इस प्रकार तुमको भी एक दिन जाना है और जाते समय तुम भी मेरी तरह आँसू बहाओगे, पछताओगे, हाय ! हमने कुछ नहीं किया ········· हमारा समय यूँ ही निकल गया, हाथ मलते रहोगे और दुनियाँ वाले तुम्हें अलविदा, जय राम जी की, गुडबॉय कर लेंगे।"

डाली से गिरते हुए विदा होते फूल को देखकर नई खिली कली मुस्कराने लगी, तब फूल कह उठा–"हमारी तो कट गई, हम जा रहे हैं। अब तुम अपना ख्याल करो।"

एक शायर ने कहा है–

"गुंचों के मुस्कराने पर, कहता है हँस के फूल।
अपना करो ख्याल, हमारी तो कट गई॥"

अब एक तरफ आपके सामने नया संवत्सर मुस्कराते मित्र की तरह खड़ा अभिवादन कर रहा है, वह कह रहा है–"मेरे मित्र ! जो गया उसको भूल जाओ, उस पर पछताओ मत, घबराओ मत, जाने वाले को जाने दो। मैं एक वफादार मित्र की तरह, एक आज्ञाकारी सेवक की तरह तुम्हारे सामने खड़ा हूँ। पूरा एक वर्ष का, तीन सौ पैंसठ दिन का समय तुम्हारे सामने है, ८,७६० घंटे तुम्हारे हाथ में हैं। तुम मुझे आज्ञा दो, जो करना चाहते हो, जो तुम चाहते हो, वह बताओ, मैं वही करूँगा। तुम कहोगे तो

आसमान के तारे तोड़कर ला दूँगा। तुम कहोगे तो मरुस्थल में गंगा बहा दूँगा। बस, पक्का इरादा करो, दृढ़ संकल्प करो। आओ, बढ़ो मैदान सामने है–"**यदिच्छसि तत्कुरु**"–जो चाहते हो, उसे करके दिखा दो।

तो यह नया संवत्सर आपके द्वार पर खड़ा आपको आशा और उमंगों का सब्जबाग दिखा रहा है। आप विगत को भूल जाओ और भविष्य को बनाने के लिए कमर कस लो–यह संवत्सर की संधि का समय, वर्ष-परिवर्तन का समय–आपको भूत की यादें भुलाकर भविष्य की आशाओं में झुलाना चाहता है। नये संवत्सर का यह आगमन आपको यही संदेश दे रहा है–"**कर्त्तव्यं कुरु मा गतं शुचः !**"–गये की फिकर मत करो, कर्त्तव्य को करो, भविष्य की सोचो।

"बीति ताहि बिसार दे, आगे की सुधि लेह।"

चैत्र शुक्ला प्रतिपदा का दिन विक्रमी संवत्सर का नया वर्ष, नये वर्ष का प्रथम दिन है। भारतीय ज्योतिष शास्त्र की कालगणना के अनुसार चित्रा नक्षत्र के प्रथम चरण में ब्रह्मा जी ने सृष्टि रचना प्रारम्भ की थी। ब्रह्मपुराण में लिखा है–

"चैत्रमासि जगद् ब्रह्मा ससर्ज प्रथमेऽहनि।
शुक्लपक्षे समग्रं तु तदा सूर्योदये सति॥"

हिन्दू पुराण, जो सृष्टि रचना में विश्वास रखते हैं उनकी मान्यता है कि ब्रह्मा जी ने चैत्र शुक्ला प्रतिपदा के दिन सूर्योदय के समय जगत् की रचना प्रारम्भ की थी। अवतारवादी कथाओं के अनुसार भगवान विष्णु के मत्स्यावतार का आविर्भाव भी आज के दिन हुआ था और सतयुग का प्रारम्भ भी आज ही के दिन हुआ, इसलिए आज चैत्र शुक्ला प्रतिपदा नये युग का, नये संवत्सर का प्रथम दिन माना जाता है।

जैन-ज्योतिष सृष्टि-रचना में विश्वास नहीं करता और न ही अवतारवाद में विश्वास करता है, इसलिए सृष्टि-रचना का सम्बन्ध नये संवत्सर के साथ जोड़ना जैन-परम्परा में मान्य नहीं है, किन्तु ऋतु-चक्र के अनुसार यह ऋतुओं का संधिकाल है, शीत ऋतु की समाप्ति हो रही है और बसंत ऋतु का प्रारम्भ। ऋतु-परिवर्तन और ऋतु का संधिकाल होने के कारण चैत्र शुक्ल पक्ष का विशेष ज्योतिषिक व आरोग्यकारी महत्त्व है।

एक वर्ष में छह ऋतुओं के दो ऋतु-चक्र होते हैं। एक पहला चक्र, छह महीने का, तीन ऋतुओं का होता है, जिसमें वसन्त ऋतु, ग्रीष्म ऋतु और

वर्षा ऋतु आती हैं। दूसरे चक्र में शरद ऋतु, शीत ऋतु और हेमंत ऋतु मानी गई हैं। इस प्रकार वर्ष में दो बार ऋतुओं का संधिकाल आता है—एक चैत्र शुक्ल पक्ष में तथा दूसरा आश्विन मास में।

इस मास का 'चैत्र' नाम चित्रा नक्षत्र के कारण पड़ा है। चित्रा का अर्थ है रंग-बिरंगा। विचित्र प्रकार के रंगों व आकृतियों का मिलन होने से विचित्रता पैदा होती है उसे चित्र अर्थात् आश्चर्य एवं आनन्दकारी कहा जाता है। चैत्र महीना अनेक महापुरुषों से सम्बन्धित है। चैत्रवदी चौथ भगवान पार्श्वनाथ के केवलज्ञान का पवित्र दिन है। चैत्र वदी अष्टमी को आदिदेव भगवान ऋषभदेव के जन्म-कल्याणक हैं। भगवान ऋषभदेव ने संसार को श्रम, पुरुषार्थ, व्यापार, शिक्षा, राजनीति आदि का ज्ञान देकर चैत्र वदी नवमी के दिन दीक्षा ग्रहण की थी।

पहले कर्म का उपदेश दिया, फिर कर्म की आसक्ति त्यागकर निर्लेप जीवन का आदर्श सिखाया। चैत्र शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा का नया संवत्सर प्रारम्भ होता है। इसी दिन से नवरात्र प्रारम्भ हो जाता है। हिन्दू पुराणों के अनुसार ये नव दिन नव देवियों की पूजा, आराधना, उपासना के लिए पवित्र माने जाते हैं। इन्हें बासन्ती नव रात्र कहा जाता है। चैत्र सुदी नवमी का दिन मर्यादा पुरुषोत्तम राम का जन्म-दिन है, जो राम नवमी के नाम से समूचे भारत में मनाया जाता है। चैत्र सुदी १३ भगवान महावीर का जन्म-कल्याणक है। इस दिन समूचा संसार महावीर जयन्ती के रूप में भगवान महावीर के अमर सिद्धान्तों का स्मरण करता है और फिर आती है पूर्णिमा। भारतीय संस्कृति के एक अद्वितीय आदर्श भक्त वीर हनुमान का जन्म-दिन। इस प्रकार यह चैत्र मास भगवान और भक्त दोनों के ही जन्म आदि पवित्र दिवसों से कृतार्थ हो चुका है।

दूसरा ऋतु संधिकाल आश्विन मास में आता है। आश्विन शुक्ला प्रतिपदा से नवरात्र प्रारम्भ होते हैं, जिन्हें कहीं-कहीं दुर्गा-पूजा के रूप में भी मनाया जाता है। उसे शारदीय नवरात्र कहा जाता है। जैन-परम्परा में आश्विन मास में भी शुक्ला सप्तमी से पूर्णिमा तक ओलीतप की आराधना का विधान है।

जहाँ चित्रा नक्षत्र में वर्ष का प्रारम्भ होता है वहाँ चैत्र मास की मुख्यता है और अश्विनी नक्षत्र में जहाँ वर्षारंभ होता है वहाँ आश्विन प्रतिपदा को महत्त्व दिया जाता है।

प्राचीनकाल में कौन-सा संवत्सर प्रचलित था इस विषय में अनेक प्रकार के मतभेद हैं और अनेक संवत्सरों की जानकारी मिलती है। जो भी चक्रवर्ती सम्राट् होता था या कोई विशेष पराक्रमी सम्राट् होता वह अपने देश में अपने नाम से संवत्सर चला देता था। भारत में प्रचलित प्रमुख संवत्सरों की एक जानकारी इस प्रकार है[१]–आज जो विक्रमी संवत् चल रहा है उसका प्रारम्भ आज से २५५३, वर्ष पूर्व भारतवर्ष के पराक्रमी और न्याय-नीतिनिष्ठ महाराज विक्रमादित्य ने किया था। भगवान महावीर के निर्वाण के पश्चात् जैन-परम्परा में काल गणना वीर निर्वाण संवत् से की जाती थी। महाराज विक्रमादित्य ने शकों को पराजित करके भारतवर्ष के विशाल भू-भाग पर अपना साम्राज्य स्थापित किया और उस साम्राज्य की यादगार में या सम्पूर्ण देश में एक संवत्सर की नीति से वीर निर्वाण के ४७० वर्ष पश्चात् विक्रमी संवत् का प्रारम्भ किया। तब से भारतवर्ष के अधिकांश प्रदेशों में विक्रम संवत् की मान्यता चली आ रही है। इसका प्रारम्भ चैत्र सुदी एकम से हुआ।

धर्म की प्रेरणा

महाराज विक्रमादित्य की न्यायनिष्ठा, उदारता, चतुरता, प्रजा को पुत्रवत् पालने की नीति और पराक्रमशीलता की सैकड़ों कहानियाँ भारतीय कथा साहित्य में मिलती हैं। आचार्य श्री सिद्धसेनसूरि के साथ भी विक्रमादित्य की कथा जुड़ी है, राजा ने उन्हें **'सर्वज्ञ पुत्र !'** कहकर वन्दना की थी। एक बार महाराज विक्रमादित्य ने आचार्य सिद्धसेन की वन्दना की तो उन्होंने आशीर्वाद दिया–"धर्मलाभ !"

राजा ने आश्चर्य के साथ पूछा–"महाराज ! यह क्या आशीर्वाद है आपका? हम साधु-संतों को नमस्कार करते हैं तो वे आशीर्वाद में–'आयुष्मान् भव !, पुत्रवान् भव !, ऋद्धिमान् भव !' यही आशीर्वाद देते हैं, परन्तु आपने तो बड़ा विचित्र आशीर्वाद दिया है !"

आचार्यश्री जरा मुस्कराये और बोले–"राजन् ! संसार में 'दीर्घ जीवन' का आशीर्वाद देवें तो दीर्घजीवी तो बहुत होते हैं। साँप, अजगर, कछुआ भी १००-१२५ वर्ष जीते हैं। यदि 'पुत्रवान् भव !' का आशीर्वाद दिया तो क्या दिया, सुअर, मुर्गी, कुतिया आदि की कितनी सन्तानें होती हैं, वे भी

---

१. देखें–प्रवचन के अन्त में–'भारत में प्रचलित प्रमुख संवत्।'

बहुपरिवारी हैं और 'धनवान' बनने का आशीर्वाद भी व्यर्थ है क्योंकि पापियों व अन्यायियों के पास भी अपार धन-सम्पत्ति होती है। उन्हें कौन आशीर्वाद देता है और फिर हमारे आशीर्वाद की क्या विशेषता रही? किन्तु 'धर्मलाभ' का आशीर्वाद ऐसा है, जो सिर्फ भाग्यशाली व्यक्तियों को ही दिया जाता है और धर्मलाभ प्राप्त करने वाला भाग्यशाली ही होता है।''

सम्राट् विक्रमादित्य आचार्यश्री का उत्तर सुनकर बहुत प्रसन्न हुआ।

तो सम्राट् विक्रमादित्य के जीवन पर जैनधर्म के गहरे संस्कार थे, भले ही वह सब धर्मों का आदर करता था और सब धर्माचार्यों के पास जाता था। वह समन्वय और नीतिनिष्ठ जीवन का पक्षपाती था।

यों भिन्न-भिन्न देशों में वहाँ की संस्कृति व धार्मिक धारणाओं के अनुसार नया संवत्सर या नया वर्ष मनाया जाता है। ईसाई समाज पहली जनवरी को न्यू ईयर्स डे मनाता है। फारस देश में जब सूर्य मेष राशि में प्रवेश करता है उस दिन जश्न नोरोज; नव वर्ष मेला मनाते हैं। इस प्रकार अन्य अनेक जातियों व संस्कृतियों में नया वर्ष अपनी-अपनी धारणा से मनाया जाता है।

जैन संस्कृति के अनुसार संवत्सर का आरम्भ श्रावण कृष्णा प्रतिपदा से होता है। आषाढ़ का महीना संवत्सर का अन्तिम महीना होता है। धूपकाल में उष्णता से भूमि सूख जाती है, फसलें सब पहले काट ली जाती हैं, फिर मेघ बरसते हैं, प्यासी धरती तृप्त होती है, किसान नई फसल बोने की तैयारी करता है। इस दृष्टि से श्रावणी प्रतिपदा को नव संवत्सर का आरम्भ माना जाता है। इसके ४५ दिन तक वर्षा ऋतु का समय रहता है। वर्षा के कारण हरियाली से धरती का आँगन हरा-भरा हो जाता है। इस ऋतु में ४५ दिन के पश्चात् उल्लास, उमंग का पर्व मनाया जाता है। नये शुभ संकल्पों का प्रारम्भ होता है जिसे हमारी परम्परा में संवत्सरी कहते हैं। नये संवत्सर के ४५ दिन बाद यह उल्लास पर्व मनाने के कारण इसे संवत्सरी पर्व कहा जाता है।[1] जैन साहित्य में संवत्सरी पर्व से सम्बन्धित विस्तृत वर्णन है, जिसकी चर्चा अभी यहाँ अपेक्षित नहीं है, परन्तु आज तो मैं यही बताना चाहता हूँ कि भिन्न-भिन्न संस्कृतियों में नव संवत्सर की भिन्न-भिन्न परम्पराएँ व उनके पीछे विभिन्न घटनाएँ जुड़ी हैं।

---

१. संवत्सरी के दिन शुभ संकल्प की परिपाटी पर पढ़ें, प्रवचन–'आत्मा की दीपावली है संवत्सरी।'

नव संवत्सर की प्रेरणा

नया संवत्सर हमें अतीत को भूलने की प्रेरणा देता है। जो चला गया उसका शोक मत करो, जो खो दिया सो खो दिया। यदि तुमने पिछले वर्ष को सार्थक कर लिया तो वह समय तुम्हारा हो गया, यदि सार्थक नहीं किया तो वह हाथ से निकल गया, किन्तु अब जो सामने समय आ रहा है उसे सफल बनाने के लिए तैयार हो जाओ।

भगवान महावीर ने चेतावनी दी है–

''जा जा वच्चइ रयणी न सा पडिनियत्तइ।
अहम्मं कुणमाणस्स अफला जंति राइओ॥''

जो रातें बीत जाती हैं, वे लौटकर नहीं आतीं। समय की सुई जो घूम जाती है, वह वापस मुड़कर उधर नहीं जाती। यदि उस समय को पापाचरण में, प्रमाद में, आलस्य में व्यर्थ ही खो दिया है तो वह समय व्यर्थ हो गया। अब लाख पछताने से भी वह हाथ नहीं आता।

एक मजदूर ने बड़े परिश्रम से कड़ी मेहनत करके कुछ पैसे कमाये, सोचा–'इसका अनाज खरीदकर घर ले चलूँ तो वहाँ मेरी पत्नी-बच्चे भूखे बैठे हैं और इंतजार कर रहे हैं, मेरे पेट में भी चूहे डण्ड पेल रहे हैं, सबकी भूख मिट जायेगी।' उस मजदूर ने अपनी कड़ी मेहनत की कमाई से पाँच सेर चावल खरीद लिये और पोटली सिर पर लेकर खुशी-खुशी घर की ओर चला। परन्तु उसे पता नहीं था, जिस पोटली में चावल भरा उसमें एक छोटा-सा छेद था। धीरे-धीरे उस छेद में से चावल गिरता गया। एक-एक दाना करके चावल नीचे गिरता रहा और मजदूर बेखबर घर पहुँचकर बच्चों को भरपेट भोजन कराने की खुशी में आगे चलता रहा–चलता रहा। जब अपने गाँव की सीमा में पहुँचा तो उसे ध्यान आया, पोटली बिलकुल हल्की लग रही है। देखा तो बिचारा सिर पीटने लगा–''दिनभर की खून-पसीने की कमाई का चावल एक-एक करके मिट्टी में मिलता गया। अब कैसे वह धूल में से उन चावलों को वापस बीने और कैसे इतने चावल इकट्ठे हों?''

बिचारा हताश, निराश हुआ घर पहुँचा। सभी के पेट में भूख की आग लगी थी, उसे खाली हाथ आया देखकर सभी रोने, बिलखने लग गये। मजदूर पछताता रहा, रोता रहा, मेरी दिनभर की कड़ी मेहनत अनजान, बेखबर से धूल में मिल गई।

हमारे जीवन का भी कहीं यही हाल नहीं है? वर्षभर के दिन एक-एक करके मिट्टी में मिलते चले गये हैं, हम प्रमाद में बेखबर ही बैठे रहे, आज जब संवत्सर का अन्तिम दिन सामने आया है तो हम विगत पर सोचकर हाथ मल-मलकर पछताते जायें–"हाय ! हमने जीवन का एक अमूल्य वर्ष, ३६० दिन, ८,७६० घंटे व्यर्थ ही खो दिये।"

चावल के दानों की तरह हमारे जीवन के अनमोल घंटे प्रहर, दिन, सप्ताह, पक्ष, मास और वर्ष चुके जा रहे हैं और हमें खबर ही नहीं। उदय होता प्रत्येक सूर्य सायंकाल में हमारे जीवन का एक दिन चुराकर ले जाता है–"**आयुषः खण्डमादाय रविरस्तं गमिष्यति।**"–आयुष्य का एक खण्ड सूर्य के साथ लुट जाता है।

किन्तु इसी के साथ नया संवत्सर भी आपके सामने आकर खड़ा है, जीवन के दरवाजे पर दस्तक देकर आपको पुकार रहा है–मित्र ! यदि पिछला वर्ष खो दिया तो अब उदास मत बैठ, हताश मत हो, निराश मत हो। नया जीवन, नया वर्ष तेरे सामने खड़ा है। नया संकल्प ले, नया उत्साह भर और अब आने वाले कल को अपनी झोली में सँभालकर रख ले। अब तेरे ये चावल के दाने धूल में नहीं मिलें इसके लिए सावधान हो जा और–

"धम्मं च कुणमाणस्स सफला होंति राइओ।"

–अगर तू धर्म-आराधना के लिए तैयार होता है, सत्कार्य का संकल्प लेता है, आने वाले वर्ष को अपना बनाना जानता है, तो बना ले, आने वाला कल तेरा होगा, तू जो चाहे वह बन सकेगा।

आज नव वर्ष के अवसर पर कोई न कोई शुभ संकल्प मन में लीजिए। सामान्य व्यक्ति केवल इच्छा करता है, कामना करता है, परन्तु कामना में जब तक हृदय की उमंग, खतरे उठाने का साहस और श्रम की निष्ठा नहीं जागेगी तब तक वह कामना संकल्प नहीं बन सकती। संकल्प ऊर्जा का अन्तःप्रवाही महास्रोत है। उसमें बल होता है। एक लक्ष्यबद्धता होती है और निछावर होने की ललक होती है। इसलिए आज के दिन "**तन्मे मनः शिवं संकल्पमस्तु।**"–मन में कोई न कोई शुभ संकल्प लीजिए और उसे पूर्ण करने के लिए वर्ष के प्रत्येक दिन को अपना पड़ाव मान लेवें। यही मेरा आज के लिए शुभ सन्देश है।

भारत में प्रचलित प्रमुख संवत्

भारत एक ऐसा विशाल देश है जिसमें गंगा, यमुना, सरस्वती, ब्रह्मपुत्र, व्यास, नर्मदा, ताप्ती आदि अनेकों महानदियों की तरह ही अनेक प्रकार के धर्म, सम्प्रदाय, संस्कृतियाँ और भाषाएँ विद्यमान हैं। जो अनेकता में एकता, व्यापकता, विराटता का सन्देश लिए हुए हैं। इस बहुरंगे, बहुभाषी, विविध संस्कृति-प्रधान देश में लगभग ३५ प्रकार के संवत् प्रचलित हैं। जैसे इलाही सन्, यहूदी सन्, मौर्य संवत्, कलचुरि संवत्, चालुक्य विक्रम संवत्, बांगला सन् आदि। अधिकांश संवत् क्षेत्रीय पराक्रमी राजाओं के काल विशेष से सम्बन्धित रहे हैं तो कुछ संवत् भारतीय धर्म-संस्कृति के आधार पर व्यापक रूप में प्रचलित हैं।

दो प्रकार के वर्ष

सौर वर्ष–संसार में ज्योतिषशास्त्र के अनुसार वर्ष की गणना दो प्रकार से की जाती है। अधिकांश देशों में सौर वर्ष ही माना जाता है। इसमें १२ महीने होते हैं तथा एक वर्ष ३६५ दिन १५ घड़ी ३१ पल और ३० विपल का माना जाता है।

चान्द्र वर्ष–दो चाँद पक्षों (कृष्ण पक्ष एवं शुक्ल पक्ष) का एक चान्द्र मास होता है। उत्तर भारत में कृष्ण पक्ष की एकम से तथा दक्षिण भारत में शुक्ल पक्ष की एकम से मास गणना की जाती है। १२ चान्द्र मास का एक चान्द्र वर्ष होता है जिसमें ३५४ दिन २२ घड़ी १ पल और २४ विपल होते हैं। विक्रम् संवत् में चान्द्र वर्ष के अनुसार ३५५ दिन होते हैं।

(१) **कलियुग संवत्**–इसे महाभारत या युधिष्ठिर संवत् भी कहा जाता है। प्राचीन ज्योतिष ग्रन्थों में तथा प्राक्तन शिलालेखों में इसका उपयोग होता रहा है। ईस्वी पूर्व ३१०२ से इसका काल माना जाता है। अर्थात् आज के ईस्वी सन् १९९७ में ३१०२ जोड़ने पर ५०९९ वर्ष पूर्व इसका आरम्भ हुआ ऐसा कहा जाता है। वि. सं. में ३०४४ तथा शक संवत् में ३१७९ जोड़ने पर कलियुग संवत् आता है।

(२) **वीर निर्वाण संवत्**–जैनधर्म के अन्तिम चौबीसवें तीर्थंकर भगवान महावीर स्वामी का पावापुरी में कार्तिक वदी १५ को निर्वाण हुआ। इस निर्वाण वर्ष कार्तिक शुक्ला १ से वीर निर्वाण संवत् की गणना की जाती है। ई. पू. ५२७ और विक्रम पूर्व ४७० वीर निर्वाण संवत् का आरम्भ हुआ। आज वी. नि. संवत् २५२४ चालू है।

(३) **विक्रम संवत्**–मालवपति राजा विक्रमादित्य ने आक्रामक शकों को परास्त कर अपना नाम लगाकर संवत्सर का प्रवर्तन किया। विक्रमादित्य की नीति, न्याय और विद्वत्ता के सन्दर्भ में विक्रम संवत् भारतीय संस्कृति का प्रतीक मान लिया गया है। इसका आरम्भ ई. पू. ७५ वर्ष से माना जाता है। भारत एवं नेपाल में यह संवत् अधिक प्रचलित तथा लोकप्रिय है। उत्तर भारत में इसका आरम्भ चैत्र शुक्ला १ से तथा दक्षिण भारत के अनेक राज्यों में कार्तिक शुक्ला १ से नया संवत्सर प्रारम्भ होता है। आज वि. सं. २०५५ प्रचलित है।

(४) **शक संवत्**–इतिहासकारों का अनुमान है कि दक्षिण के प्रतिष्ठानपुर के राजा शालिवाहन ने इस संवत् का प्रचलन किया। कुछ विद्वान् इसे विदेशियों द्वारा प्रचलित संवत् भी मानते हैं। वराहमिहिर कृत 'पंच सिद्धान्तिका' में भी इसका सबसे पहला उल्लेख मिलता है। दक्षिण भारत में यह अत्यन्त लोकप्रिय है। नेपाल में भी इसका प्रचलन है। विक्रम संवत् के १३५ वर्ष बाद ईस्वी सन् ७९ में इसका प्रचलन हुआ। आज १९१९ शक संवत् है।

(५) **हिजरी सन्**–इस्लाम के प्रवर्त्तक हजरत मुहम्मद साहब के मक्का से मदीना प्रस्थान की स्मृति में इस सन् का प्रारम्भ माना जाता है। १५ जुलाई ६२२ ई. सन् इसका आरम्भ समय माना जाता है। यह सन् चान्द्र वर्ष के आधार पर चलता है। इसकी तारीख एक शाम से दूसरी शाम तक चलती है। चाँद देखकर इसका आरम्भ किया जाता है। ज्योतिष के अनुसार सौर मास की तुलना में चान्द्र मास १० दिन से कुछ कम होता है।

(६) **ईस्वी सन्**–ईसा मसीह के जन्म वर्ष से इसका आरम्भ माना जाता है। कहा जाता है–वर्तमान ईस्वी सन् की छठी शती से इसका अधिक प्रचार हुआ और लगभग ४०० वर्ष में (ईस्वी सन् १००० में) पूरे यूरोप में इसका प्रचलन मान्य हो गया। आधुनिक यूरोपीय साम्राज्यवाद के प्रभाव से समूचे विश्व में इसको मान्यता मिल गई। ईस्वी सन् सौर वर्ष के आधार पर चलता है जिसका आरम्भ १ जनवरी से होता है। रात के १२ बजे से अगली रात १२ बजे तक २४ घण्टे का दिन (तारीख) मानी जाती है। इसे खिस्ताब्द भी कहा जाता है। ईस्वी सन् में ५७ वर्ष जोड़ने से वि. सं. निकल आता है। ईस्वी सन् १९९८ प्रारम्भ हो चुका है।

● ●

उठो, जागो, श्रेष्ठता का वरण करो !

मनुष्य नवीनता-प्रेमी है। सुबह उठते ही नया सूरज देखकर आनन्दित होता है। नये खिले फूल और नयी ताजी हवा से मन प्रसन्न हो उठता है। आज नया वर्ष प्रारम्भ हो रहा है। बेकार हुए पुराने कैलेण्डर हट गये हैं। नये कैलेण्डर आ गये हैं। उनमें आपका कल झाँक रहा है। मित्र, स्वजन, परिचित और परस्पर व्यापारिक सम्बन्ध रखने वाले बन्धु एक-दूसरे को नये वर्ष की बधाइयाँ दे रहे हैं। नूतन वर्ष अभिनन्दन के शानदार कार्ड और बहुमूल्य तोहफों का आदान-प्रदान हो रहा है। नव वर्ष की शुभ कामनाएँ दी जा रही हैं, ली जा रही हैं। यह सब किसलिए? एक प्रश्न है !

चिन्तन करें तो समाधान का उत्तर मिलता है–इसके पीछे प्रकृति का एक सनातन सत्य छिपा हुआ है, जो समय बीत गया वह हाथ से निकल गया। उसके विषय में कुछ सोचना-विचारना व्यर्थ है। जो अतीत व्यतीत बन गया, उसका गीत गाना कोई अर्थ नहीं रखता। किन्तु जो सामने आ रहा है वह आपके हाथ में है। आप उसका चाहे जैसा निर्माण कर सकते हैं। कहते हैं–आपका आज ही कल का भाग्य-विधाता है। इसलिए लोग बीते वर्ष का अभिनन्दन या अफसोस नहीं करके नये आने वाले वर्ष का अभिनन्दन करते हैं। उसकी शुभ कामनाएँ करते हैं कि इस नव वर्ष को आप अपने पुरुषार्थ, अपनी प्रतिभा और अपनी उदात्त संकल्पशीलता के बल पर सुन्दर से सुन्दर, महत्त्वपूर्ण बना सकते हैं। जीवन का स्वर्णिम वर्ष बना सकते हैं। सुन्दर राष्ट्र के निर्माण की ईंट बना सकते हैं। आज जिसके लिए हम बीज बोते हैं, वह फसल कल काटी जायेगी। भविष्य के मन्दिर की नींव आज ही रखी जायेगी इसलिए आज हमारा है, भविष्य का निर्माण हमारे हाथ में है।

कवि कहता है–

"जिसे हम चाहते हैं आज, संभव है कि कल होगा।
यदि संकल्प सच्चा है, तो निश्चय ही सफल होगा॥"

इसलिए जो कल के लिए चाहते हो, वह आज ही कर लो–

"जो भी करना है वह कर गुजरो, ये दिल की बातें हैं।
सोचने वाले हमेशा, सोचते ही रह जाते हैं॥"

आज जो बधाइयाँ, शुभ कामनाएँ दी जा रही हैं वह मामूली चीज नहीं हैं। वह आपके भविष्य का निर्माण करने में नींव का काम कर सकती हैं। सज्जनों की शुभ कामनाएँ किसी ऋषि के वरदान से कम नहीं होतीं। शुभ कामनाएँ शुभ वायुमण्डल का निर्माण करती हैं, शुभ प्रेरणाएँ जगाती हैं और नई ऊर्जा प्रदान करती हैं। ये शुभ कामनाएँ आपको सावधान करती हैं कि आपका आने वाला कल मंगलमय हो, इसलिए आप आज ही तत्पर होकर अपने भविष्य का चिन्तन करें और नये कार्यक्रम, नई योजनाएँ ऐसी बनाएँ जो आपके जीवन के न केवल भौतिक विकास में, अपितु आध्यात्मिक विकास में, आत्म-अभ्युदय में भी सहायक बनें। स्तम्भ बनकर आपके जीवन महल को सहारा देवें और परिवार, समाज, राष्ट्र एवं समस्त विश्व के कल्याण में योगदान दे सकें।

उपनिषद् के ऋषियों ने एक जीवन-सन्देश दिया है–

"उत्तिष्ठत जाग्रत ! प्राप्य वरान्निबोधत !"

–उठो, जागो। जो श्रेष्ठ एवं वरेण्य है, जो आदर्श तुम्हें पुकार रहा है, उसे स्वीकार करो और उस पर चल पड़ो।

"जो चलता है, वह मंजिल तक पहुँच जाता है।
सूरज जब निकलता है, अँधेरा खुद भाग जाता है॥"

भगवान महावीर कहते हैं–

"उट्ठिए ! नो पमायए ...... खणं जाणाहि पंडिए।"

–उठो, प्रमाद मत करो। समय का मूल्य समझो। समय ही सबसे बड़ा धन है। जीवन में ज्ञान और कर्म का संगम करो। यही बात योगेश्वर श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं–**"तत्र श्रीविजयो भूतिः।"**–जहाँ ज्ञानरूपी कृष्ण और कर्मरूपी अर्जुन खड़े हैं वहीं श्री–लक्ष्मी विजय और ऐश्वर्य है। अजगर की तरह आलस्य में डूबे रहने वाले जीवन को यूँ ही खो देते हैं। जो उत्साही हैं, कर्मशील हैं, जाग्रत हैं वे जीवन की थोड़ी-सी पलों में ही वह कर देते हैं जो युग-युग का इतिहास बन जाता है।

"किसी की चार दिन की जिन्दगी, सौ काम करती है।
किसी की सौ बरस की जिन्दगी, से कुछ नहीं होता॥"

भगवान महावीर से पूछा गया–"जीवन-संग्राम में विजय किसको मिलती है?"

भगवान उत्तर देते हैं–

"सवीरिए परायिणइ अवीरिए पराइज्जइ।"

–जो वीर्यवान है, उत्साहवान है। जिसके भीतर साहस, उत्साह, पराक्रम और पुरुषार्थ की ऊर्जा है। जिसके मन में शुभ संकल्प हिलोरें ले रहे हैं, वही संसार में विजयश्री का वरण करता है। वीर्यहीन, आलसी, उत्साहहीन कदम-कदम पर हार का मुँह देखता है।

गाँधी जी कितने दुबले-पतले थे। किसी पहलवान के हाथ का धक्का खा जाते तो शायद जमीन पर गिर पड़ते, परन्तु उनके भीतर आत्म-बल, सत्यनिष्ठा और आत्म-विश्वास कितना गजब का था। डेढ़ सौ वर्षों से भारत पर शासन करने वाली प्रचंड विदेशी सत्ता को उन्होंने सिर्फ अपने विचारों से हिला दिया, सत्ता छोड़ने पर मजबूर किया और गुलामी की जंजीरों में जकड़े हिन्दुस्तान को आजादी दिलाई।

मैंने एक बार पढ़ा था–हेनरी हेरिसन ब्राउन नामक मनोविज्ञानी ने मनुष्य को संसार में सफल होने के दो संकेत बताये हैं–

पहला है–मैं कर सकता हूँ–आई कैन। कोई भी कठिन से कठिन काम आये तो अपनी आत्म-शक्ति को प्रचण्ड बनाकर सोचो–मेरे लिए कुछ भी असम्भव नहीं है। मैं सब कुछ कर सकता हूँ। मैं अनन्त शक्ति-सम्पन्न हूँ।

दूसरा सूत्र है–मैं नहीं कर सकता–आई कान्ट। कभी यह मत सोचो, मैं यह नहीं कर सकता, इसमें आपके आत्म-विश्वास की कमजोरी और निराशा झलकती है।

पहला मिस्टर कैन–हर रूप में अपनी आत्म-शक्तियों को प्रबल-प्रचण्ड बनाये रखता है।

दूसरा मिस्टर कान्ट–हमेशा ही निराशा और विश्वास में जकड़ा रहता है।

भगवान महावीर की भाषा में पहला वीर्यवान है। दूसरा निर्वीर्य है। वीर्यवान व्यक्ति संसार में विजयी बनता है। सफलता उसके चरण चूमती है।

वीर्यहीन व्यक्ति हर क्षेत्र में पिछड़ता है। इसलिए नये वर्ष के नव-प्रभात में संकल्प करो–मुझे महान् बनना है, संसार में वह करना है जिससे लाखों-करोड़ों का भला हो और इसी संकल्प को दृढ़ करते हुए आज नव वर्ष का स्वागत करो और स्वयं ज्योतिर्मय बनो।

जलता हुआ दीप दूसरे दीपों को जला सकता है। बुझा हुआ दीप अँधेरे में ही पड़ा रहता है। इसलिए प्रज्वलित दीपक बनो।

इसलिए इस संसार में ज्योति बनकर जीओ, जो दूसरों को प्रकाश दे। चिनगारी बनकर जीओ, ताकि अँधेरे को रोशनी में बदल सको। कोयला बनकर मत जीओ, जो पड़ा-पड़ा सुलगता रहे, धुआँ उगलता रहे।

जिन्दगी बहुत मूल्यवान है। इसका एक-एक पल इतना महत्त्वपूर्ण है कि आप इन पलों में शताब्दियों का इतिहास रच सकते हो, युग की धारा बदल सकते हो, इस प्रवाह को मोड़ सकते हो। बस, आवश्यकता है उत्साह की, उल्लास की और जीवन में कुछ न कुछ नव-निर्माण करने के शुभ संकल्प की। जिन्दगी का अर्थ है उत्साह और साहस।

"जिन्दगी जिन्दादिली का नाम है।
मुर्दा-दिल क्या खाक जिया करते हैं॥"

इसलिए आज नव वर्ष के नव सूर्योदय की साक्षी में आपको अपने कर्त्तव्य का स्मरण कर संकल्प लेना है। जीवन का उद्देश्य निश्चित कर उस दिशा में कदम बढ़ाना है। संघर्ष भी आयेंगे, संकट भी आयेंगे। असफलताएँ भी मिलेंगी। लोगों की आलोचना व चर्चाएँ भी होंगी परन्तु लक्ष्य की तरफ बढ़ने वाले इन सब की उपेक्षा करके इन संघर्षों के तूफानों से टक्कर लेकर बढ़ते ही जाते हैं।

एक शायर कहता है–

"जहाजों को डुबा दे जो, उसे तूफान कहते हैं।
जो तूफानों से टक्कर ले, उसे इन्सान कहते हैं॥"

आपको तूफानों से टक्कर लेना है और कर्त्तव्य की नाव को किनारे तक पहुँचाना है।

जीवन के महत्त्वपूर्ण सन्देशों में यूँ तो अनेकों बातें कही जा सकती हैं। सचाई, नैतिक मूल्यों के प्रति निष्ठा, कर्त्तव्य-पालन आदि। किन्तु विस्तृत चर्चा न करके मैं केवल वर्तमान पर ही आपका ध्यान केन्द्रित करना चाहता हूँ।

आज वर्तमान में देश की जो भयावह स्थिति है वह आपके सामने है। मुझे तो ऐसा लग रहा है, आज देश में विद्वेष की राजनीति चल रही है। कोई किसी को अछूत कहता है तो कोई किसी को नपुंसक। गुण्डा-गुण्डी की असभ्य भाषा चल रही है। सद्भाव की तो बात ही क्या, दुर्भाव की नीति खुल्लमखुल्ला खेल रही है। ताश के पत्तों की तरह एक सरकार गिर रही है, दूसरी अधर में लटकी चरमराती सरकार बन रही है। न कहीं नैतिक मूल्य है, न ही सिद्धान्त और न ही कोई नीति। आत्म-सम्मान खोकर सभी सत्ता का खेल खेल रहे हैं। राजनीति दिशाहीन हो गई। नैतिक मूल्यों का विध्वंस हो रहा है। मनुष्य धन और सत्ता के पीछे पागलों की तरह दौड़ रहा है। धन की तृष्णा कभी शान्त नहीं होती। अपार धन पाकर भी मनुष्य का मन भूखा, आकुल और दरिद्र बना रहता है। सत्ता की प्यास कभी बुझती नहीं, सत्ता की कुर्सी पर बैठकर उसे कभी छोड़ना नहीं चाहता। अपना सब कुछ दाँव पर लगाकर भी कुर्सी का दावा नहीं छोड़ना चाहता। महत्त्वहीन व्यक्तित्व महत्त्वाकांक्षा की दौड़ में इसके घोड़े बने हुए हैं। इस प्रकार सत्ता और धन का जो महाभारत आज मच रहा है वैसा पहले कभी नहीं हुआ होगा। इस महाभारत में दुर्योधन भी है, दुःशासन भी है, धृतराष्ट्र और शकुनि भी है तो भीष्म और अर्जुन भी है। परन्तु धर्मराज युधिष्ठिर कहीं दिखाई नहीं देता और न ही महाभारत के महानायक श्रीकृष्ण कहीं दिखाई देते हैं। श्रीकृष्ण यानी विवेक और नीति। इन दुर्योधनों, दुःशासनों की चाल को मात देने वाला और भीम की मनमानी पर अंकुश लगाने वाला श्रीकृष्ण ! उसके बिना यह महाभारत देश को सर्वनाश के गर्त्त में धकेल रहा है। आज असीमित धनाकांक्षा, भोगलिप्सा और स्वार्थवादी मनोवृत्ति के कारण मनुष्य-मनुष्य के प्रति संवेदना-शून्य बन गया है, भावनाहीन बन गया है। दूसरों के सुख-दुःख से, पतन-उत्थान से उसे कोई सरोकार नहीं है। मनुष्य जितना स्वार्थी आज बन रहा है, शायद पौराणिक जमाने का राक्षस भी इतना स्वार्थी और क्रूर नहीं हुआ होगा। आज का नेता अभिनेता की भाँति तरह-तरह के चरित्र जीता है, नेता से सृजेता और प्रणेता का गुण नष्ट हो रहा है और शेष रह गया है–क्रेता ! वोटों को खरीदकर सत्ता लेना चाहता है। आज की सरकार स्थायित्वविहीन है और आज का मानव संवेदनाहीन है। क्रूरता, निर्दयता, लोलुपता के कारण मानव एक हृदयहीन पशु क्या, पशु से भी बदतर बन गया है। जनता कहती है–सरकारी महकमे से ही भ्रष्टाचार की वैतरणी निकलती है तो सरकार के

प्रतिनिधि प्रधानमंत्री कहते हैं–जनता को भ्रष्टाचार मिटाने के लिए कटिबद्ध होना है। भ्रष्टाचार का दानव कहाँ नहीं छिपा है? आज ईश्वर की तरह घट-घट व्यापी बन गया है। भ्रष्टाचार, घोटाला, बेईमानी, अपराध आदमी की हैसियत की पहचान बन रहा है। ऐसे समय में देश का भविष्य क्या होगा, आने वाला कल कैसा होगा, कौन इस देश की डूबती नैया को पार लगायेगा, कुछ नहीं कहा जा सकता।

इन विकट स्थितियों में आज नये वर्ष का सबेरा आपके दरवाजे पर दस्तक दे रहा है। लोग शुभ कामनाएँ भेज रहे हैं। परन्तु आज 'शुभ' कहाँ रहा? शुभ समाप्त हो गया है और कामनाएँ रह गई हैं सुरसा के मुँह की तरह विकराल रूप में फैली हुई। सत्ता का भत्ता पाने, धन की तिजोरियाँ भरने, अपराध, हत्याएँ बढ़ती जा रही हैं। जो राजनीति और सत्ता कभी अपराधों पर नियंत्रण करने के लिए आई थी। वह आज स्वयं अपराधियों की शरण-स्थली बन गई। उनके हाथ की कठपुतली बन गई हैं। जिसके पास जितने आतंकी, गुण्डे हैं, वह सत्ता की भागीदारी में, साझेदारी में उतना ही अग्रणी हैं।

अभी कुछ दिन पहले एक पत्रकार ने आज की राजनीति पर व्यंग्य लिखा था–"देश और ट्रेन में क्या अन्तर है?" उसी ने उत्तर दिया–"ट्रेन कभी लापरवाही से नहीं चलायी जा सकती, ट्रेन कभी बिना पटरी के नहीं चल सकती, किन्तु देश .....? आज इसको चलाने की परवाह किसे है? इसके संचालन में कितनी लापरवाहियाँ बरती जा रही हैं। फिर भी खुशकिस्मती देखिए कि चल रहा है। न्याय, नीति, चरित्र और आदर्शों की पटरी से उतरकर भी देश की ट्रेन चलती जा रही है, फकाफक। पता नहीं कहाँ, कब और क्या हो जाये .. । और आज का नायक देश चलाने के लायक है या नहीं, इसकी किसे परवाह है, किसे चिन्ता है?"

एक बड़ी विचित्र बात है–इंजीनियर, वकील, डॉक्टर या कम्पाउण्डर बनने के लिए भी ट्रेनिंग या प्रशिक्षण की जरूरत रहती है। इनके लिए पाठ्यक्रम हैं, प्रशिक्षण केन्द्र हैं किन्तु इतना बड़ा देश चलाने के लिए राजनेता को, कुर्सी पर बैठने वाले को किसी अध्ययन, अनुभव, प्रशिक्षण व योग्यता की कोई जरूरत नहीं, केवल वायदे करने, कायदे तोड़ने और झूठे सपने दिखाकर जाति, सम्प्रदाय के नाम पर वोट बटोरने वाला नेता बन सकता है। क्या ९८ करोड़ की आबादी वाले इस महान् प्रजातंत्र का

यह मजाक नहीं है? ऐसे समय में आपका कर्त्तव्य है, जीवन में आशावादी बनकर, मानवतावादी बनकर जीयें। देश के उज्ज्वल भविष्य के प्रति आशा और आस्था जगाएँ, संकल्प और पुरुषार्थ जगाएँ। केवल अपने लिए ही नहीं जीयें, अपने लिए तो पशु भी जीता है, किन्तु दूसरों के लिए भी जीयें। अपने स्वार्थ को परमार्थ में बदलें। अगर समाज और राष्ट्र सुखी रहेगा तो मनुष्य भी सुखी रहेगा। मनुष्य राष्ट्र के मन्दिर की एक ईंट है। यदि पूरा मन्दिर सुरक्षित रहेगा तो ईंट स्वयं ही सुरक्षित रहेगी। मन्दिर ढह जायेगा तो ईंट का क्या होगा? इसलिए अपना दृष्टिकोण व्यापक बनायें, उदार बनायें और अपने चश्मे से समूची मानव-जाति को देखें। मानवता के कल्याण के लिए दृढ़ संकल्पशील बनें। जहाँ अभावों का अँधेरा है, अज्ञान की काली रातें गुजर रही हैं और अनीति के राक्षस नृत्य कर रहे हैं, वहाँ नैतिक मूल्यों के नये सूरज की सुनहली किरणों का प्रकाश पहुँचे; सुख, समृद्धि, ज्ञान और सदाचार का उजाला फैले तो आपकी शुभ कामनाएँ सार्थक होंगी, सदिच्छाओं का गुलाबी रंग चमेकगा। अवश्य चमकेगा।

● ●

भगीरथ बनकर धरती का ताप मिटाना है

सृष्टि में 'काल' का बड़ा महत्त्व है। सर्दी-गर्मी, धूप-वर्षा, जन्म-मरण, नया-पुराना और बचपन-जवानी सभी कुछ काल के ही कारण हैं। काल का गुण है–वर्तना। "**वत्तणा लक्खणो कालो।**"–(उत्तराध्ययन)

नई वस्तु को पुरानी करना। पदार्थ के पर्यायों को पलटते रहना, बच्चे को जवान और जवान को बूढ़े के रूप में बदलना, खिले फूलों को मुर्झाना और मुर्झाये फूलों को फिर खिला देना काल का ही खेल है। सर्दी के बाद गर्मी और गर्मी के बाद वर्षा की झड़ी लगाना काल का ही करिश्मा है, उलटफेर करते रहना काल का काम है; काल का गुण प्रभाव या लक्षण है। इसीलिए अथर्ववेद में कहा है–

"कालो ह सर्वस्येश्वरः।"

–काल ही समग्र विश्व का ईश्वर है, संचालक है। सृष्टि-चक्र का घूमते रहना ही काल-चक्र है।

"कालः सृजति भूतानि, कालः संहरते प्रजाः।
कालः सुप्तेषु जागर्ति, कालो हि दुरतिक्रमः॥"

–महाभारत आदिपर्व

–काल ही प्राणियों को उत्पन्न करता है, काल ही उनका संहार करता है। सारी दुनियाँ सो जाती है परन्तु काल सदा जागता रहता है। समग्र सृष्टि जब विश्राम करती है तब भी काल का रथ चलता ही रहता है, चलता ही रहता है। जैसे जीवित प्राणी की हृदय की गति एक सेकण्ड भर के लिए भी बन्द नहीं रहती वैसे ही काल की गति कभी रुकती नहीं। काल का पहिया घूमता ही रहता है।

सृष्टि के इस काल-चक्र में एक वर्ष में छह ऋतुएँ होती हैं और एक ऋतु के दो-दो महीने होते हैं। वसन्त ऋतु ऋतुओं का राजा कहलाती है, चैत्र और वैशाख वसन्त ऋतु हैं और उसके बाद आती है ग्रीष्म ऋतु।

ज्येष्ठ-आषाढ़ दो महीने ग्रीष्म के। स्वास्थ्य व आरोग्य की दृष्टि से वसन्त ऋतु उत्साह की ऋतु है, जोश एवं जवानी की ऋतु है और ग्रीष्म ऋतु आलस्य की ऋतु है। यों समझो, वसन्त जवानी है तो ग्रीष्म बुढ़ापा है। गर्मी में प्यास, आलस, पसीना, तपन अधिक रहती है। भूख, उत्साह आदि में कमी आती है। ग्रीष्म ऋतु में पहला ज्येष्ठ मास सबसे प्रचण्ड आतप, झुलसाने वाली गर्म हवाएँ, लू, चिलचिलाती धूप आदि का महीना है। बारह महीने में यह महीना सबसे प्रचण्ड है। इसलिए इसका नाम ही है ज्येष्ठ। ज्येष्ठ अर्थात् बड़ा। जेठ के दिन और माघ की रात बड़ी होती हैं। जेठ महीना जितना अधिक तपता है, श्रावण उतना ही अच्छा बरसता है। कहावत है–"जेठ तपै सावण बरसे।" जेठ की इस चिलचिलाती, झुलसाती गर्मी में शान्ति का इच्छुक मानव कभी छाया की खोज करता है, कभी शीतल हवा की और कभी शीतल जल की। गर्मी में ठण्डक और तरी का आनन्द लेने के लिए लोग पहाड़ों पर, हिल स्टेशनों पर जाते हैं। सरोवरों, झीलों व नदियों के किनारे घूमते हैं। गर्मी में शीतलता की खोज की इस मानवीय वृत्ति को वैदिक महर्षियों ने एक सुन्दर पौराणिक रूपक के माध्यम से प्रस्तुत किया है कि राजा सगर के पौत्र भगीरथ ने जीवनभर तपस्या करके देवलोक की महानदी गंगा को प्रसन्न किया और उसे धरती पर अवतरित होकर भूमण्डल का ताप-संताप हरने का वरदान माँगा। भगीरथ की कठोर तपस्या से गंगा प्रसन्न हुई और तेज धाराओं के साथ धरती पर अवतरित हुई। पुराणों के अनुसार जिस दिन गंगा धरती पर अवतरित हुई वह पवित्र दिन था हस्त नक्षत्र बुधवार **ज्येष्ठ सुदी दशमी का**। भयंकर ताप, धूप और उष्णता से जलती इस धरा पर गंगा का शीतल प्रवाह गिरा तो धरती की प्यास शान्त हो गई। उष्णता शीतलता में बदल गई। सूखी-प्यासी धरती फिर से हरी-भरी हो गई। मनुष्य के लिए सुख-शान्ति, शीतलता का आनन्दमय वातावरण निर्मित हुआ। चारों तरफ खुशियाँ छा गईं।

भले ही पुराण कथा में गंगा अवतरण को एक सुन्दर रोचक रूपक के माध्यम से बताया है, परन्तु इसमें निहित आदर्श तो स्पष्ट है कि जिस प्रकार एक व्यक्ति जीवनभर घोर तप, कठोर परिश्रमपूर्वक अपने महान् उद्देश्य में जुटा रहा और हिमालय की शृंखलाओं व घाटियों में फँसे हुए उस गंगा-प्रवाह को, उस जल-स्रोत को समतल भूमि पर ले आया। उसने केवल अपने पूर्वजों को तारने के लिए ही यह कार्य नहीं किया, किन्तु

समूचे संसार के लाभ के लिए उसका यह लोक-सेवा का महान् कार्य था। इसीलिए भगीरथ भारतीय संस्कृति का एक श्रेष्ठ लोक-सेवक, लोक-कल्याण की कामना रखने वाला महाप्राण व्यक्तित्व माना जाता है। भगीरथ का त्याग, तप, लोक-सेवा की भावना और कठोर सतत अध्यवसाय मनुष्य जाति के लिए भी प्रेरणाओं का प्रकाश-पुँज है। मनस्वी पुरुष असाध्य कार्य को भी साध्य बना लेता है।

सामान्य रूप में जल का प्रवाह धरती के नीचे प्रवाहित रहता है और पृथ्वी को खोदकर नीचे से ऊपर की ओर लाया जाता है, किन्तु गंगा का प्रवाह हिमालय की ऊँची-ऊँची घाटियों से धरती पर उतारा गया है। जो यह सूचित करता है–पवित्र वस्तु हमेशा ऊर्ध्व भावों में ही रहती है और पवित्र वस्तु को प्राप्त करने के लिए कठोर तप की, लक्ष्यबद्धता की, अडिग संकल्प-शक्ति की जरूरत होती है।

भगीरथ और जन्हुकुमार

अयोध्या का सूर्यवंशी राजा था भगीरथ। यह सगर राजा का पौत्र तथा अंशुमान का पुत्र था। कहा जाता है सगर राजा ने शताश्वमेधी यज्ञ की कामना से यज्ञ-अश्व को छोड़ा। इन्द्र ने इस अश्व को पकड़कर पाताललोक में कपिल मुनि के पास ले जाकर बाँध दिया। यज्ञाश्व को ढूँढ़ते हुए सगर राजा के साठ हजार पुत्र कपिल मुनि के पास पहुँचे और यज्ञ के अश्व को छुड़वाने के लिए ऋषि के सामने कोलाहल करके उनकी साधना में विघ्न डालने लगे। समझाने पर भी सगर-पुत्र नहीं समझे तो कपिल ऋषि ने क्रुद्ध होकर शाप दिया जिसके प्रभाव से वे वहीं भस्म हो गये। सगर राजा विचलित हो गया। पुत्र-शोक में वह पागल-सा हो गया। तब उसके पौत्र भगीरथ ने प्रण किया–'मैं हिमालय पर जाकर तपस्या करके गंगा देवी को प्रसन्न करूँगा। गंगा को धरती पर उतारकर उसके शीतल जल से इस जाज्वल्यमान अग्नि को शान्त कर अपने पिता व चाचा, ताऊ आदि को शाप-मुक्त करूँगा।' भगीरथ की घोर तपस्या और अडिग संकल्प को देखकर गंगा देवी उस पर प्रसन्न हुई और पृथ्वी पर उतरी। वह स्वर्ग से हिमालय की घाटियों पर और वहाँ से पृथ्वी पर बहने लगी। गंगा की शीतल धाराओं से सगर-पुत्रों की अग्नि शान्त हुई। गंगा का धरा पर अवतरण ज्येष्ठ सुदी १० को हुआ। इसलिए यह ज्येष्ठ सुदी १० 'गंगा दशहरा' के नाम से प्रसिद्ध हुई। गंगा की सहस्र-सहस्र शीतल धाराओं से उन साठ हजार सगर-पुत्रों की

चिताग्नि शान्त हुई, धरती का ताप शान्त हुआ। भगीरथ की तपस्या के प्रभाव से गंगा धरती पर उतरी इसलिए गंगा को भागीरथी भी कहा जाता है।

यह पौराणिक रूपक है। पौराणिक कथाओं में अलंकारिक प्रयोग होते हैं। शब्दों का अर्थ नहीं करके भावों को पकड़ा जाता है।

इसी प्रकार की एक अनुश्रुति जैन साहित्य त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र में भी है। यद्यपि जैन साहित्य में गंगा एक शाश्वतकालीन महानदी है। इसके प्रवाह में सैकड़ों अन्य नदियाँ मिलती हैं। औषधियों व खनिज रसायनों के मिश्रण से इसका जल अत्यन्त आरोग्यवर्धक और शीतलतादायी माना जाता है। उक्त ग्रन्थों के अनुसार दूसरे चक्रवर्ती सगर भगवान अजितनाथ के शासनकाल में हुए। ये तीर्थंकर अजितनाथ के छोटे भाई थे। इनके सहस्रांशु जन्हुकुमार आदि साठ हजार पुत्र थे। एक बार चक्रवर्ती के सेनापतिरत्न दण्डरत्न आदि लेकर ये पुत्र-भ्रमण करते हुए हिमवंत पर्वत पर आये। वहाँ का अत्यन्त रमणीय और मनोहारी वातावरण देखकर सोचने लगे–'यहाँ इतने सुन्दर पर्वतों के उद्यान आदि की सुरक्षा का कोई प्रबन्ध नहीं?' उनकी सुरक्षा के लिए सगर-पुत्रों ने विचार किया–'हिमवंत पर्वत के चारों तरफ एक विशाल खाई खोद दें और उसे जल से भर दें, ताकि कोई सामान्य व्यक्ति सुरम्य स्थानों को किसी प्रकार की क्षति नहीं पहुँचा सके।' साठ हजार पुत्रों ने मिलकर एक लम्बी-चौड़ी विशाल खाई खोद डाली। यह खाई नीचे पातालवासी भवनपतियों व नागकुमारों के भवनों तक चली गई। फिर जन्हुकुमार ने दण्डरत्न के प्रहार से गंगा महानदी के तट को खोदकर गंगा का प्रवाह इस खाई में प्रवाहित कर डाला। गंगा का प्रवाह इतना तीव्र, वेगवान था कि इस खाई में भरा पानी भवनपतियों के भवनों में घुस गया। नागकुमार देव घबराये। तब नागकुमारों का इन्द्र आया और उसने सगर-पुत्रों को इस काम के लिए रोका। परन्तु कुतूहली सगर-पुत्र नहीं रुके। उन्हें तो और मजा आया। भवनपतियों का कोलाहल और भवनों में घुसा पानी देखकर के हँसने लगे। तब नागेन्द्र ने क्रोध में भरकर तीव्र विष ज्वालाएँ फेंकी और साठ हजार सगर-पुत्र वहीं पर भस्म हो गये।

जन्हुकुमार ने गंगा की धारा को खाई में प्रवाहित किया इस कारण इसका एक नाम 'जान्हवी' प्रसिद्ध हो गया। गंगा को जान्हवी भी कहा जाता है। जन्हुकमार के पुत्र का नाम भगीरथ था।

वैदिक एवं जैन परम्परा के इन अलंकारिक वर्णनों में काफी समानता है। दोनों ही जगह सगर राजा को सूर्यवंशी बताया है, उसके पुत्र वहाँ पर पाताललोकवासी कपिल ऋषि के शाप से भस्म होते हैं तो जैन ग्रन्थों के अनुसार नागकुमार के द्वारा भस्मसात् किये जाते हैं। वहाँ पर भगीरथ कठोर तप करके गंगा को धरती पर लाता है। यहाँ जन्हुकुमार गंगा महानदी की धारा को प्रवाहित करता है। और जन्हुकुमार के पुत्र का नाम भगीरथ है। गंगा को भगीरथी भी कहते हैं, जान्हवी भी कहते हैं। इस प्रकार वर्णन की समानता के साथ दोनों कथानकों की अन्तःप्रेरणा भी लगभग समान है। पहली बात–मनुष्य कुतूहल या स्वार्थ के वश होकर जब दूसरों को पीड़ा पहुँचाता है, उनकी साधना में विक्षेप पैदा करता है तो इसका घातक परिणाम उसे भुगतना ही पड़ता है। बुराई लौटकर हजार गुनी होकर करने वाले के सिर पर बिजली की तरह गिरती है।

दूसरी बात–किसी भी महान् कार्य को सम्पन्न करने के लिए कठोर साधना, तप और प्रखर संकल्प बल होना चाहिए। संकल्पबली मनुष्य असंभव और दुस्संभव को भी संभव बना देता है।

तीसरी बात–भगीरथ की तरह परोपकार के लिए जीवन को समर्पित करना ही जीवन की सार्थकता है। भले ही उसके प्रारम्भ में अपने सम्बन्धियों को ताप-मुक्त करने की भावना रही है, किन्तु अन्त में उसका उद्देश्य भी विराट् हो गया–क्षुद्र स्वार्थ को त्यागकर विराट् बनो। उपनिषद् का वचन है–"**यो वै भूमा तत्सुखम्।**"–जहाँ विराटता है, व्यापकता है, वहीं आनन्द है, सुख है।

इस प्रकार गंगा की उत्पत्ति, अवतरण या प्रवाहित होने की यह घटना हमें याद दिलाती है कि हमें भी इस संसार में भगीरथ बनना है। पाप, दुराचार, भ्रष्टाचार, अत्याचार के संताप से तप्त इस भूमि पर नैतिकता, धार्मिकता, सत्य और सदाचारिता की गंगा को प्रवाहित करना है।

गंगा का यह अवतरण ज्येष्ठ सुदी दशमी को ही क्यों हुआ? ग्रीष्म ऋतु में ही गंगा धरती पर क्यों उतरी?

इस प्रश्न पर विचार करने से एक लोक-मंगलकारी उद्देश्य स्पष्ट होता है कि हेमन्त ऋतु में वैसे ही धरती का वातावरण शान्त–शीतल रहता है। ऐसी शीत ऋतु में गंगा का यह शीतल प्रवाह यदि धरती पर उतर आता तो शायद पृथ्वी उस शीतल धारा को सहन ही नहीं कर पाती। लोग पहले ही

सर्दी से ठिठुरते रहते हैं और फिर गंगा का शीतल जल-प्रवाह आ जाता तो कितनी भयंकर सर्दी छा जाती? सब कुछ सर्दी से बर्फ-सा जम जाता और अगर वर्षा ऋतु में गंगा धरती पर उतरती तो इस ऋतु में तो यूँ ही बादल अपनी हजार-हजार धाराओं से जल बरसाते हैं, नदी-नाले उफन पड़ते हैं, चारों ओर जल ही जल दिखाई देता है। पृथ्वी की जल-शोषण की क्षमता भी मंद हो जाती है और पानी बाढ़ के रूप में विनाश-लीला मचाने लगता है– ऐसी ऋतु में यदि गंगा भी पृथ्वी पर उतर आती तो कोढ़ में खाज वाली बात हो जाती। इस कारण गंगा-अवतरण के लिए न तो हेमन्त ऋतु अनुकूल थी और न ही वर्षा ऋतु। दोनों ही ऋतुएँ प्रतिकूल थीं। ग्रीष्म ऋतु का ज्येष्ठ मास ही ऐसा अनुकूल अवसर था जब चारों तरफ पृथ्वी पर पानी-पानी की पुकार मची थी, धरती प्यासी थी। पशु, पक्षी, मानव सभी उष्णता से व्याकुल और परेशान थे, ऐसे अवसर पर गंगा का प्रवाह उन्हें शीतलता और शान्तिदायी लगा। ताप से संतापित भूमण्डल को शीतलता प्रदान करने वाला सिद्ध हुआ।

संसार का नियम यही है कि जब, जिस वस्तु की आवश्यकता हो, उसी समय यदि वह मिलती है तो उसका महत्त्व होता है, उसकी कीमत होती है।

"वक्त पर कतरा है काफी, अब्र खुश अंजाम का।
जबकि खेती जल गई, बरसा तो फिर क्या काम का ?"

तुलसीदास जी ने भी यही कहा है–

"का वर्षा जब कृषि सुखानी ?"

–खेती सूख जाने पर वर्षा की क्या जरूरत है? पानी-पानी करते श्रीकृष्ण के प्राण निकल गये, फिर पानी लेकर आये बलभद्र जी, तो उस पानी का क्या महत्त्व रहा?

तो ज्येष्ठ सुदी दशमी को धरती पर गंगा अवतरण का पौराणिक रूपक जहाँ इस तिथि का, इस ऋतु का महत्त्व बताता है, वहाँ मनुष्य के कठोर तप और संकल्प बल की विजय का डंका भी बजाता है कि संकल्प बली मनुष्य संसार में क्या नहीं कर सकता?

ज्येष्ठ सुदी दशमी का यही पवित्र दिन गुरुदेव उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी की दीक्षा जयन्ती का है।

भारतीय संस्कृति में चार चीजें बहुत पूज्य मानी गयी हैं–गंगा, गाय, गायत्री और गीता।

भारतीय लोक-मानस में इनके प्रति अगाध श्रद्धा और पूज्य भावना है। गंगा को तो पतित पावनी मानते हैं। उसका जल जल नहीं, अमृत कहलाता है और सचमुच किसी समय में वह अमृत जैसा था। आज भी जहाँ गंगोत्री की धारा निकलती है, उस स्रोत का जल अत्यधिक शुद्ध और शरीर के लिए रसायन तुल्य है। वर्षभर वह बोतल में बन्द रहे तब भी दूषित नहीं होता, उसमें कीड़े नहीं पड़ते। जबकि दूसरे पानी में कुछ ही दिन पड़ा रहने पर सड़ाँध पैदा हो जाती है। यह इस भूमि में छुपे रसायनों, उस पर्वतमाला पर उगी जीवनदायिनी वनस्पतियों और वातावरण का प्रभाव है।

गंगा की तरह गायत्री भी हिन्दू संस्कृति की अध्यात्म चेतना का केन्द्र है। जैन-परम्परा में जो महत्त्व नमोकार महामंत्र का है, वही महत्त्व वैदिक-परम्परा में गायत्री मंत्र का है। इसमें २४ अक्षर हैं और कहते हैं, २४ अक्षरों में २४ महाशक्तियों का निवास है। गंगा का शीतल जल-प्रवाह और गायत्री का पावन ज्ञान-प्रवाह इसी ज्येष्ठ सुदी दशमी के दिन धरती पर प्रवाहित हुआ, इसलिए यह दशमी गंगा दशहरा और गायत्री जयन्ती के रूप में बड़ी श्रद्धा के साथ मनाई जाती है।

प्रसंगवश बता दूँ–पूज्य गुरुदेव का जन्म ब्राह्मण-कुल में हुआ था और वे बचपन से ही गायत्री मंत्र का पाठ करते थे। गायत्री मंत्र के प्रति उनके हृदय में बहुत श्रद्धा व आदरभाव था। कभी-कभी गुरुदेव अपने जन्म-दिवस के प्रसंग पर गायत्री मंत्र का शुद्ध सस्वर उच्चारण करते और उसकी अध्यात्मपरक व्याख्या करते, तो सुनकर सामान्य श्रोता ही नहीं, बड़े-बड़े ब्राह्मण विद्वान् भी वाह ! वाह ! कह उठते। मुझे स्मरण है गुरुदेव ने एक बार गायत्री मंत्र के प्रथम तीन अक्षरों 'ॐ भूः भुवः स्वः' पर एक घण्टा तक प्रवचन किया और इन अक्षरों में छिपी अध्यात्म प्रेरणा को बड़े ही सुन्दर दार्शनिक रूप में प्रस्तुत किया था। गुरुदेव कहते थे–इन तीन अक्षरों में तीनों लोक व्याप्त हैं, भूः–अधोलोक, भुवः–मनुष्यलोक और स्वः–स्वर्ग–ऊर्ध्वलोक। इन तीनों लोकों में 'ॐ' महाशक्ति व्याप्त है। ॐ का उच्चारण करने पर तीनों ही लोकों को ध्वनि तरंगों से व्याप्त कर दिया जाता है। इन तीनों शब्दों का आध्यात्मिक अर्थ है भूः–शरीर, भवः–मन और स्वः–आत्मा। ॐ का उच्चारण करने पर शरीर, मन और आत्मा तीनों में परस्पर एक ताल लय का समन्वय होता है। ये हमारे भीतर विद्यमान तीनों लोक हैं

जो ॐ की ध्वनि से गुंजित होते हैं, शुद्ध होते हैं, ऊर्जा सम्पन्न हो जाते हैं। शरीर, मन, प्राण-आत्मा इन सब को शक्ति प्रदान करता है ॐ का उच्चारण।

गुरुदेवश्री का यह भी अनुभव था कि जिस प्रकार नमोकार महामंत्र आध्यात्मिक शक्तियों का आह्वान करता है। परम शुद्ध चैतन्य व ज्ञान-चारित्र की शक्तियों का स्मरण कर अन्तःकरण को शुद्ध व बलवान बनाता है, उसी प्रकार गायत्री मंत्र ब्रह्माण्ड में व्याप्त भौतिक शक्तियों का, प्राण ऊर्जा का आह्वान कर शरीर को शक्ति, तेज, ओज प्रदान करता है। गायत्री मंत्र में मुख्य रूप में सविता—सूर्यदेव की उपासना की जाती है और वह समस्त ऊर्जा का महास्रोत है। प्राणायाम द्वारा इस महाऊर्जा का आकर्षण करने पर शरीर के आरोग्य पर चमत्कारी प्रभाव पड़ता है।

तो इस प्रकार गुरुदेवश्री गायत्री मंत्र की अध्यात्मपरक सुन्दर विवेचना करते थे। आज उनकी पावन दीक्षा तिथि पर हमें गंगा—गायत्री का स्मरण होता है तो साथ ही उनकी पतित-पावनी आर्हती दीक्षा-तिथि का स्मरण भी होता है। गंगा का प्रवाह धरती को पावन करता है, गायत्री का ज्ञान-प्रवाह मानव-जीवन को शक्ति प्रदान करता है। उसी प्रकार व्रत-गंगा का यह महाप्रवाह जीवन को संयम-सदाचार की शीतलता, प्रफुल्लता और स्वर्गीय सुन्दरता प्रदान करता है।

भारतीय संस्कृति में दीक्षा का अर्थ है—परावर्तन, सर्जन, विसर्जन। दीक्षा के अनेक रूप हैं—संस्कार-दीक्षा। वैदिक-परम्परा के अनुसार सोलह प्रकार के संस्कार करना भी दीक्षा है। इसे संस्कार-दीक्षा कहते हैं। एक है ज्ञान-दीक्षा। शिष्य गुरुकुल में जाकर गुरु से विद्याध्ययन करता है। अपने अन्तर् जीवन के अंधकार में ज्ञान का प्रकाश प्रवाहित होता है। ज्ञान-दीक्षा जीवन में प्रकाश का परावर्तन है। गुरु का ज्ञान शिष्य के भीतर संक्रमित होता है।

एक है व्रत-दीक्षा। जीवन को उदात्त लोक-मंगल उद्देश्य हेतु, आत्मा के व लोक के कल्याण हेतु, स्वयं को संयम, ध्यान, उपासना के मार्ग पर समर्पित कर देना, जीवन में असद्‌गुणों का विसर्जन और सद्‌गुणों का सर्जन करना—यह है व्रत दीक्षा।

पूज्य गुरुदेव उपाध्यायश्री की संस्कार दीक्षा तो बचपन में ही हो गई थी। वे जन्मना द्विज थे। द्विज का अर्थ है संस्कारों का पुनर्जन्म। इसके बाद व्रत-दीक्षा धारण की। महास्थविर गुरुदेव श्री ताराचन्द जी महाराज के कर-कमलों से वि. सं. १९८१ के जालौर नगर में व्रत-दीक्षा धारण की। आज का ही यह पवित्र दिन था। इस दिन भी उनका एक जन्म हुआ व्रती के रूप में, त्यागी के रूप में।

आज है गंगा दशहरा, गंगा जयन्ती, गायत्री जयन्ती और आज ही है महाव्रत गंगा को जीवन की धरा पर उतारने वाले भगीरथ गुरुदेव श्री पुष्कर मुनि जी की दीक्षा जयन्ती। कोटि कोटि नमन !

● ●

रक्षा-बन्धन : रक्षा के लिए बँध जाएँ

जम्बू स्वामी के अन्तर् मानस में एक प्रश्न कचोट रहा था कि तीर्थंकर भगवान केवलज्ञान और केवलदर्शन को पाने के पश्चात् एक स्थान पर अवस्थित क्यों नहीं होते? वे एक स्थान से दूसरे स्थान पर परिभ्रमण कर उपदेश क्यों प्रदान करते हैं, इसका क्या रहस्य है? जम्बू स्वामी ने गणधर सुधर्मा के सामने यह जिज्ञासा प्रस्तुत की। गणधर सुधर्मा ने जिज्ञासा का समाधान करते हुए कहा–"वत्स ! तीर्थंकर सभी जीवों की रक्षा के लिए, दया के लिए, जन-जन के कल्याण के लिए यह पावन उपदेश प्रदान करते हैं।

"सव्व जग जीव-रक्खण-दयट्ठयाए भगवया पावयणं सुकहियं।"

भगवान महावीर ही नहीं सभी तीर्थंकरों की वाणी का प्रवाह उनके करुणा द्रवित अन्तःकरण से समस्त जगत् के जीवों की रक्षा के लिए ही प्रवाहित होता है। इसका स्पष्ट घोष है–जीव-रक्षा, जीव-दया ही जैनधर्म का मूल है। दया धर्म का मूल है–यह उक्ति प्रत्येक धर्म-परम्परा के साथ जुड़ती है। योगीश्वर श्रीकृष्ण भी कहते हैं–

"परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥"

–मैं सज्जनों की रक्षा के लिए और दुष्कर्मों का विनाश करने के लिए ही जन्म धारण करता हूँ।

रक्षक को विराट् बनना है

रक्षा का अर्थ है प्रेम, दया, सहयोग और सहानुभूति। रक्षा जीवन में मधुरता का संचार करती है, भाईचारे की भव्य भावना को उजागर करती है। रक्षा की भव्य भावना से उत्प्रेरित होकर ही मर्यादा पुरुषोत्तम राम ने धनुष उठाया था और कर्मयोगी श्रीकृष्ण ने सुदर्शन-चक्र धारा था। बड़े-बड़े वीरों ने रक्षा की भावना से ही तलवारें ग्रहण की थीं। रक्षा के लिए ही ये

सभी साधन निर्मित हुए हैं। रक्षा शब्द में जीवन की शक्ति है, प्राण है, आत्मा का निज गुण है, मानव-हृदय की अद्‌भुत कोमलता है, मानव के अन्तर् मानस से प्रवाहित होने वाला एक ऐसा निर्मल-निर्झर है जो पाप, ताप और संताप से मुक्त करता है। 'रक्षा' के भीतर मानवीय सुख-दुःख की सहानुभूति, संवेदना और उत्सर्ग की भावना छिपी है। दूसरों के दुःखों से द्रवित होकर उनकी रक्षा के लिए अपने सुखों का बलिदान करना और कष्टों को स्वीकारना यह रक्षा के साथ जुड़ा है। विराट् विश्व में जितना भी दुःख और दैन्य है उसको नष्ट करने की क्षमता रक्षा शब्द में रही हुई है। रक्षा मानव मन की पवित्रता का पावन प्रतीक है। लगता है कि जैसे नक्षत्र-मण्डल सूर्य और चन्द्र के चारों ओर परिक्रमा करते हैं वैसे ही जितने भी धर्म और दर्शन हैं, रक्षा को केन्द्र-बिन्दु बनाकर ही आगे बढ़ते रहे हैं। बड़ा अद्‌भुत शब्द है रक्षा।

आज रक्षा-बन्धन है, वैदिक-परम्परा के महर्षियों ने चार वर्णों की स्थापना की है–ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। उन्होंने चार वर्णों के लिए चार प्रकार के त्यौहार भी स्थापित किये। ब्राह्मणों के लिए रक्षा-बन्धन, क्षत्रियों के लिए विजयादशमी, वैश्यों के लिए दीपावली और शूद्रों के लिए होलिका। इस महापर्व का सम्बन्ध मुख्य रूप से ब्राह्मणों के साथ है। यह पर्व कब प्रारंभ हुआ इस सम्बन्ध में वैदिक और जैन साहित्य में जो प्रसंग आए हैं वे बहुत कुछ परस्पर समानता लिए हुए हैं। जैन साहित्य में प्रचलित कथा इस प्रकार है–

महापद्म नामक चक्रवर्ती सम्राट् था। नमुचि नामक उनका मंत्री था। नमुचि ने कुछ ऐसा महत्वपूर्ण कार्य किया जिससे चक्रवर्ती सम्राट् उस पर प्रसन्न हो गए। नमुचि के अन्तर् मानस में जैन श्रमणों के प्रति स्वाभाविक रूप से घृणा थी, क्योंकि जैन श्रमणों ने अकाट्य तर्कों के द्वारा उसे वाद-विवाद में पराजित कर दिया था, वह इसका बदला लेना चाहता था। सुनहरा अवसर देखकर नमुचि नामक मंत्री ने सात दिन के लिए महापद्म से साम्राज्य का वर प्राप्त कर लिया। सत्ता के नशे में उसने अन्याय, अत्याचार करना भी प्रारंभ किया। उसने कहा संतों से कि "हमारे राज्य में रहने का कर दें और कर न देने पर प्राण-दण्ड की घोषणा की और सातवें दिन तक छह खण्ड का विराट् राज्य छोड़कर अन्यत्र जाने के लिए भी उसने कहा।" जब यह सूचना सुमेरु पर्वत पर ध्यानस्थ एक जंघाचारण मुनि के द्वारा विष्णु मुनि को मिली जो वहाँ पर ध्यान-मुद्रा में अवस्थित थे। वे शीघ्र ही विद्याबल से वहाँ पर

पहुँचे और उसे कहा कि "संत का जीवन सम्राट् से भी बढ़कर है, चक्रवर्ती सम्राट् भी उनके चरणों में झुकता है। संत किसी भी शासन में गुलाम बनकर नहीं रहता, वह तो धर्म चक्रवर्ती तीर्थंकर के शासन में रहता है, तुम संतों को न सताओ यही तुम्हारे लिए श्रेयस्कर है।" पर दुराग्रही नमुचि नहीं माना तब विष्णुकुमार मुनि ने अपने लिए केवल तीन पैर रखने के लिए जगह माँगी। नमुचि ने कहा–"तुम महापद्म चक्रवर्ती के भाई हो इसलिए मैं तुम्हें तीन पैर रखने की जगह देता हूँ। "विष्णु मुनि ने अपने कद को इतना विराट् बनाया कि दो पैर से ही समूचे मानव क्षेत्र को नाप लिया और जब तीसरे पैर को रखने के लिए भूमि माँगी तो नमुचि का मस्तिष्क चकरा गया। वह चरणों में गिर पड़ा। अपने अपराधों की क्षमा माँगने लगा। जैन श्रमणसंघ की रक्षा करने के कारण, उसी दिन से रक्षा पर्व विश्रुत हुआ।

मुनि विष्णुकुमार की यह कथा थोड़े-बहुत अन्तर के साथ श्वेताम्बर-दिगम्बर आम्नाय में प्रचलित है। माना जाता है श्रावण शुक्ला १५ के दिन यह घटना घटी। इसलिए रक्षा-बंधन के रूप में यह पर्व मनाया जाने लगा।

यह घटना कई तथ्यों पर प्रकाश डालती है। पहली बात–दुष्ट, दुर्बुद्धि और क्षुद्र प्रकृति के लोगों के हाथ में सत्ता आती है तो वे सत्ता को जन-कल्याण के लिए नहीं, किन्तु अपने स्वार्थ व अहंकार की पूर्ति के लिए ही हथियार के रूप में इस्तेमाल करते हैं। **"प्रभुता, पाय काहि मद नाही।"** –प्रभुता या सत्ता मिलने पर किसे अहंकार नहीं होता, यह तो ठीक है, परन्तु वे अहंकारी सत्ता मद में अंधे हुए जनता का शोषण, उत्पीड़न और अन्याय करते समय यह भूल जाते हैं कि अन्याय, अत्याचार करने वाले कभी फलते-फूलते नहीं। अब तक का इतिहास देख लो, बड़े से बड़ा अत्याचारी अन्त में पछताता, आँसू बहाता मरा है। यही स्थिति नमुचि की हुई, जिसने सज्जनों को उत्पीड़ित किया, साधुओं को कष्ट दिया तो अन्त में उसी की दुर्गति हुई।

दूसरी बात है–विष्णुकुमार मुनि की; संघ-रक्षा के लिए अपनी ध्यान-साधना को गौण करके दुष्टों को शिक्षा देने के लिए उपस्थित हुए। लोग कहते हैं–जैनों की अहिंसा ने राष्ट्र को कायर बना दिया, उनके लिए यह एक उदाहरण है कि अहिंसक कभी कायर नहीं होता। समय आने पर वह हिंसा को, अन्याय को ललकारता भी है। एक इतना महान् तपस्वी और ध्यान-साधना के सर्वोच्च शिखर पर पहुँचा संत भी अपनी साधना-आराधना को छोड़कर संघ-रक्षा के लिए कटिबद्ध हो जाता है और अपनी शक्ति का

प्रयोग करके दुष्टों को सन्मार्ग पर लाता है। अन्याय, अत्याचार करना जितना पाप है; अन्याय, अत्याचार के सामने घुटने टेकना और उसे बर्दाश्त करना भी कम पाप नहीं है। इसलिए अहिंसा अन्याय का प्रतिकार करती हैं अन्याय के सामने झुकती नहीं है। चेटक राजा जैसे व्रतधारी श्रावक भी अन्याय का जवाब देने के लिए युद्ध करते हैं और ऐसा घोर युद्ध करते हैं जिसमें लाखों सैनिकों का रक्त बहता है। फर्क सिर्फ यह है कि हिंसक व दुराचारी जहाँ अपने स्वार्थ व अहंकार-पूर्ति के लिए युद्ध करते हैं, वासना के दास बनकर वे नर-संहार करते हैं वहाँ अहिंसक केवल अन्याय का प्रतिकार करने व न्याय तथा धर्म-रक्षा के लिए ही शस्त्र उठाता है। जैनधर्म के सभी तीर्थंकर क्षत्रिय हुए हैं इसका रहस्य क्या है? यही कि "**जे कम्मे सूरा ते धम्मे सूरा।**"-जो कर्मवीर होता है वही धर्मवीर हो सकता है, जिसके रक्त में वीरता के संस्कार हैं, वह हर क्षेत्र में वीरता दिखायेगा। कायर कर्म के क्षेत्र में पीछे रहेगा तो धर्म-क्षेत्र में भी पीछे रहेगा। मुनि विष्णुकुमार द्वारा संघ-रक्षा का यह कार्य धर्म-रक्षा के लिए वीरता और पराक्रम दिखाने की प्रेरणा देता है। धर्म व अहिंसा के नाम पर बुज़दिली दिखाना धर्म का मजाक है, धर्म का अपमान है और इससे धर्म की हानि होती है। आज के समय में अहिंसा-प्रेमियों के लिए यह एक प्रेरणा है कि अन्याय के सामने झुको मत, बल्कि अपनी शक्ति से अन्यायी को झुका लो।

वैदिक वाङ्मय में भी इसी तरह की कथा प्राप्त होती है, नाम समान है। वैदिक साहित्य में मंत्री नमुचि के स्थान पर असुरराज बलि है, वह एक विराट् यज्ञ कर रहा था, विष्णु ने देखा-इस यज्ञ से असुरराज शक्ति-संपन्न बनकर देवताओं को उत्पीड़ित करेगा, अहंकार में दीप्त होकर मनमानी करेगा, अतः इन्द्र और देवों की रक्षा के लिए विष्णु ने वामन का अवतार धारण किया और बलि से तीन डग भूमि की माँग की। बलि द्वारा दान का संकल्प करने पर वामन ने इतना विराट् रूप बनाया कि तीन पैर में तीनों लोक नाप लिये और बलि को पाताललोक पहुँचा दिया। तब से रक्षा-बन्धन प्रारंभ हुआ।

हम गहराई से चिन्तन करते हैं तो दोनों ही कथाओं में विष्णु रक्षक है और दोनों ही कथाओं में बलि और नमुचि अन्याय करने वाले हैं। रक्षा करने के लिए विष्णु बनना होगा, विष्णु का अर्थ है व्यापक, जो विराट् रूप धारण कर सके और संतप्त प्राणियों की रक्षा कर सके। यदि चिन्तन में बौनापन रहा तो रक्षा नहीं हो सकेगी, विचारों की विराटता ही जीवन के

लिए वरदान है, जब तक विचार विराट् नहीं बनते तब तक प्रान्तवाद, भाषावाद, जातिवाद पनपता है। एक पाश्चात्य चिकित्सक ने राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी से कहा था कि "मुझे चिन्ता है कि भारत में मानवों का तन छोटा हो रहा है।" राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी ने कहा–"मानवों का कद छोटा हो रहा है इसकी मुझे कोई चिन्ता नहीं है, मुझे तो चिन्ता इस बात की है कि मानवों का मन छोटा हो रहा है।" मर्यादा पुरुषोत्तम राम का कद छोटा था, रावण का कद बहुत विराट् था पर राम का मन विराट् था तो रावण का तन विराट् था किन्तु मन लघु था। जब मानव का मन विराट् होता है तो वह रक्षा के लिए आगे बढ़ता है। विष्णु के रूप में मन की, विचारों की उदारता और विराटता की यह प्रेरणा है।

इतिहास के पृष्ठ साक्ष्य हैं रक्षा के लिए महाराणी कर्मावती ने एक रक्षा-सूत्र हुमायूँ के पास भेजा था उस समय हुमायूँ अपने युद्ध में विजयपताका फहराने ही वाला था उसी समय रानी कर्मावती का वह रक्षा-सूत्र उसके हाथों में लगा और वह उस विजयपताका को फहराने की भावना को छोड़कर अपनी सेना के साथ राजस्थान की ओर चल पड़ा और जी-जान से युद्ध में लग गया। एक मुसलमान भाई से ही युद्ध में भिड़ गया। एक निर्जीव धागे में कितनी शक्ति है, जिस शक्ति के कारण ही गुजरात के बादशाह बहादुरशाह को हुमायूँ ने पराजित किया था और कर्मावती की रक्षा की थी।

बहनों के सन्मान की रक्षा कीजिए

रक्षा-बंधन से संबंधित अन्य अनेक प्रसंग हैं पर समयाभाव के कारण हम उन सब की चर्चाएँ यहाँ पर नहीं कर रहे हैं। आज राष्ट्र में हजारों बहनें हैं जिनका जीवन असुरक्षित है, उनकी इज्जत के साथ खिलवाड़ किया जा रहा है। रक्षा-बन्धन का पर्व यह पावन प्रेरणा दे रहा है कि हम उनकी रक्षा करें। आज संसार में नारी असुरक्षित है। नारी को एक विज्ञापन की बाजारू वस्तु बनाकर पुरुष उससे अनाप-शनाप धन-दौलत इकट्ठी कर लेना चाहता है। पुरुष की एक दुर्बलता समझिए या उसकी संस्कारों की हीनता समझिए कि वह नारी को सौन्दर्य का प्रतीक मान बैठा है, जबकि वास्तविकता इससे विपरीत है। नारी से बढ़कर पुरुष-देह सुन्दर होती है। मानवों में भी और पशु-पक्षियों में भी आप मोर और मोरनी का जोड़ा देखिए। मोर ज्यादा सुन्दर लगता है। सिंह-सिंहनी, गाय-बैल, ऊँट, कुत्ता, नाग, बत्तख आदि पशु-पक्षी जोड़ों के शरीर की तरफ देखें तो स्पष्ट

होगा कि पुरुष-शरीर की बनावट अधिक सुगठित है, बलिष्ठ है, सुन्दर है, बनिस्पत स्त्री-देह के। किन्तु मानव की दृष्टि में विकार है, वासना के संस्कार हैं, नारी के प्रति भोग्य वस्तु की कल्पना है इसलिए उसे नारी सुन्दर प्रतीत होती है और वह विज्ञापन के रूप में नारी-देह को अश्लील बनाकर आकर्षक बनाकर, एक भोग्य वस्तु के रूप में प्रस्तुत करता है।

नारी-देह का व्यापार सिर्फ वेश्यावृत्ति के रूप में ही नहीं किन्तु विज्ञापनों के माध्यम से भी आज खुल्लमखुल्ला हो रहा है। नारी के अंगों का उत्तेजक रूप से प्रदर्शन करके उत्पादनों का व्यापार बढ़ाना चाहते हैं और इसके लिए नारी को हथियार के रूप में इस्तेमाल कर रहे हैं। इसका दुष्परिणाम दर्शकों के मन-मस्तिष्क पर क्या होता है यह आज नारी के साथ होने वाले अत्याचारों, बलात्कारों की रोमहर्षक घटनाओं से स्पष्ट हो रहा है। अखबारों में पढ़ते हैं, एक बाप ने अपनी युवा कुँवारी कन्या के साथ मुँह काला कर लिया, छोटा भाई अपनी भाभी को लेकर भाग गया। एक नन्हीं बोध बालिका के साथ दुष्टों ने कुकर्म किया—यह आज के वातावरण का प्रभाव है, जो गंदे विज्ञापन, सिनेमाओं के अश्लील दृश्य और अश्लील गानों का असर है।

एक बात, विज्ञापन कम्पनियों से

रक्षा-बन्धन का दिन बहनों के सन्मान की रक्षा का दिन है इसलिए मैं आज उन विज्ञापन कम्पनियों से कहना चाहता हूँ, जो अपना माल बेचने के लिए नारी की शारीरिक सुन्दरता का अवांछनीय उपयोग कर रहे हैं। वे अपने विष बुझे तीर तरकस में बन्द रखें। इन उत्तेजनात्मक तीरों से राष्ट्र की धर्म-प्रधान संस्कृति को, नीति सदाचार की इस जीर्ण-शीर्ण काया को और अधिक घायल न करें। फिल्म वाले, इस दिशा में बहुत आगे बढ़ चुके हैं। बन्दर के हाथ में तलवार लगने पर जिस कुचेष्टा की आशंका रहती है वैसे ही दुश्चेष्टाएँ आज के सिनेमाओं द्वारा की जा रही हैं। आग लगा देना सरल है, किन्तु बुझाना कठिन है। मनुष्य की पशु वृत्तियों को, उसकी हैवानियत को, यौन उद्वेगों और काम-विकारों को भड़का देना सरल है, परन्तु उसका परिणाम क्या होगा? सर्वनाश ! उस सर्वनाश से मानव जाति की रक्षा करना कठिन है। नासमझ युवक-युवतियाँ, कोमल मन किशोर-किशोरियाँ सिनेमा के दृश्यों से, उन संवादों और गानों से किस प्रकार पथ-भ्रष्ट होकर विनाश की ओर जा रहे हैं। परिवार किस प्रकार तबाह हो

रहे हैं–इस पर भी नजर डालें। धन कमाने के लिए राष्ट्र की हजारों वर्ष पुरानी संस्कृति और धार्मिक संपदा को नष्ट करना, मानवीय चरित्र को आग लगा देना कोई समझदारी नहीं है। यदि विज्ञापन, सिनेमा, कला और आधुनिकता के नाम पर नारी की शालीनता, पवित्रता, उत्कृष्टता को इसीप्रकार नष्ट किया जाता रहा तो फिर इस धरती की रक्षा कौन करेगा? यह रक्षा-बन्धन का पवित्र पर्व किस काम का?

नारी और पालतू पशु में क्या अन्तर रहा है ?

आजकल के समाजशास्त्री जो अपने को क्रान्तिकारी कहने में गर्व अनुभव करते हैं वे उस प्राचीन समाज-व्यवस्था को गालियाँ दे रहे हैं जिसमें नारी को एक गुलाम की तरह रखा जाता था, पालतू पशु की भाँति मालिक उसका मनमाना उपयोग करता और मुनाफा कमाता था। परन्तु जरा देखें, इतनी क्रान्तियों के बाद भी नारी की इस वस्तुस्थिति में क्या अन्तर आया है? पालतू पशु–बैल, घोड़े, गधे अपने मालिकों के लिए श्रम करते हैं। गाय, भैंस, बकरी को मालिक के लिए अपने बच्चों को भूखा रखकर दूध देना पड़ता है। भेड़ों की ऊन बेचकर गड़रिया पैसा कमाता है। कुत्ता रोटी के बदले मालिक की रखवाली करता है किन्तु वे तो बुद्धिहीन हैं, विवश हैं, अपना पेट भरने के लिए यह सब करने पर मजबूर हैं। किन्तु नारी के सामने ऐसी कौन-सी मजबूरी है? वह पढ़ी-लिखी है, बुद्धिमान् है, विवेकशील है और सब कुछ कर सकती है फिर कौन-सी विवशता है कि उसे भी इन पालतू पशुओं की तरह पैसा देने वालों के इशारों पर अपनी लाज बेचनी पड़ रही है। शरीर को निर्वस्त्र करके नाचना पड़ रहा है और अनेक प्रकार की कामुक उत्तेजनात्मक अशोभनीय चेष्टाएँ करके दर्शकों का मनोरंजन करना पड़ता है। क्या यह पुरानी दास-प्रथा की ही एक आधुनिक आवृत्ति नहीं है जिसमें दास-दासी हाट, बाजारों में खरीदे जाते थे और उनके शरीर पर मालिक का अधिकार रहता था। आज भी कलाकार ऊँचे-ऊँचे दामों पर खरीदे जाते हैं, लाखों, करोड़ों की बोली लगाकर सिनेमा वाले, विज्ञापन कंपनियाँ उनको खरीद लेती हैं और उनसे वह सब प्रदर्शन कराना चाहते हैं जिसके लिए शायद उनकी आत्मा कभी स्वीकृति नहीं देगी, किन्तु केवल पैसे के लिए? पैसा लेकर वे अपनी इज्जत, प्रतिष्ठा, सन्मान सब कुछ न्योछावर कर डालते हैं। मनोरंजन के नाम पर, कला के नाम पर। और उसका बुरा परिणाम भुगतना पड़ रहा है

आज के समाज को, राष्ट्र को भावी पीढ़ी को और खासकर उस नारी जाति को जिसकी एक बहन अपने तीरों से पुरुषों को घायल करती है और वे घायल पुरुष भेड़िए किसी भी नारी की इज्जत पर टूट पड़ते हैं। हत्या, चोरी, बलात्कार के जितने दाँव-पेच सिनेमा द्वारा सिखाये जाते हैं क्या उनके दुष्परिणाम समाज को नहीं भुगतने पड़ रहे हैं?

सुनने में आज यह बात अटपटी लग सकती है कि पुरानी दास-प्रथा आज रूपान्तरित होकर जस की जस चल रही है परन्तु वास्तविकता पर गहराई से विचार करें तो प्रतीत होगा कि आज उससे भी विकृत है। रुपये पैसे के लिए नारी का शील, सन्मान-प्रतिष्ठा दाँव पर लगा हुआ है। इसकी रक्षा करने का दायित्व किस पर है? यह प्रश्न अभी भी अनुत्तरित है।

रक्षा-बन्धन के पवित्र दिन पर नारी मात्र को बहन मानकर उसकी अस्मिता की, उसकी पवित्रता की रक्षा करने का एक दृढ़ संकल्प सभी भाइयों को लेना चाहिए।

आज समाज की भांति व्यक्ति के आध्यात्मिक जगत आत्मा में भी अनेक दुर्गुण क्रोध, मान, माया, लोभ आदि बलि की तरह उन सद्गुणों को नष्ट करने पर तुले हुए हैं, हम विष्णु बनकर उन दुर्गुणों को नष्ट करने का प्रयत्न करें, तभी रक्षा-बन्धन पर्व मनाना सार्थक हो सकेगा।

पारिवारिक, सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन में जो संघर्ष हैं उन संघर्षों को समाप्त करने के लिए तथा सुख और शान्ति से राष्ट्र को आगे बढ़ाने के लिए हमें पर्व के अन्तर् हृदय को समझना होगा, जो पर्व की आत्मा है, हम उसे समझकर आगे बढ़ेंगे तो ही सुख और शान्ति का साम्राज्य स्थापित कर सकेंगे, धागा तो धागा ही रहता है, उस सामान्य धागे का कोई महत्त्व नहीं है, राखी के रूप में जब वह धागा बँधता है तो वह धागा नहीं रहता अपितु स्नेह-सूत्र बन जाता है। जिसने आपके हाथों में राखी बाँधी है, उसके जीवन का दायित्व आप पर है, केवल चन्द चाँदी के टुकड़े देकर आप चाहें कि मैं उस उत्तरदायित्व से मुक्त हो जाऊँगा नहीं हो सकते। जो उच्च दायित्व आपने ग्रहण किया है उसे ईमानदारी के साथ निभायेंगे तभी रक्षा-सूत्र की सार्थकता है, यही है इस पर्व की आत्मा। हम दुःखियों के दुःख-दर्द में सहयोगी बनें, तभी विश्व में सुख और शान्ति का सागर ठाटें मारने लगेगा। प्राणी मात्र की रक्षा के लिए दृढ़ संकल्प करें, रक्षा के लिए बँध जाएँ।

● ●

श्राद्ध : क्या, क्यों, कैसे ?

क्या ब्राह्मण कोई पोस्टमैन है ?

एक सज्जन प्रतिदिन ९ बजे प्रवचन के लिए आते हैं और बड़े ही भावपूर्वक प्रवचन सुनते रहते हैं। एकदिन प्रवचन में दिखाई नहीं दिये, दोपहर के बाद आये तो मैंने पूछा–"लालाजी, क्या बात हुई? आज कथा में नहीं दिखायी दिये?"

बोले–"हाँ महाराज जी, ऐसे ही आज हमारे यहाँ श्राद्ध था।"

मैंने हँसकर पूछ लिया–"तब तो ब्राह्मणों को खूब माल खिलाया होगा?"

लालाजी हँसने लगे–"गुरुजी ११ ब्राह्मणों को देशी घी का हलुवा-पूरी खिलाई। बादाम-पिस्ते की खीर भरपेट खिलाई। बढ़िया कपड़ा और हरेक को १०१ रुपया दक्षिणा दी। ब्राह्मणों की आत्मा प्रसन्न हो गई।"

लालाजी बहुत सीधे और सरल स्वभावी थे। उनके संस्कारों में अभी भी यह बात जमी हुई थी कि श्राद्ध पक्ष में ब्राह्मणों को भोजन कराने से वह हमारे माता-पिता आदि पितरों तक पहुँच जाता है और ब्राह्मण को दिया दान मृतात्माओं की आत्मा को शान्ति पहुँचाता है।

लालाजी ने मुझसे पूछा–"गुरुजी ! क्या श्राद्ध करने से पितरों की आत्मा को शान्ति मिलती है?"

मैंने उनसे पूछा–"क्या आपका विश्वास है कि आपके पूज्य पिता-माता की आत्मा पितृलोक में घूम रही होगी? परन्तु वह तो यहाँ से लाखों कोस दूर होगा। ऊपर अन्तरिक्ष में है तो ब्राह्मण को भोजन, वस्त्र, रुपया देने से उन तक कैसे पहुँचेगा? ब्राह्मण कोई ऐसा लेटरबॉक्स तो नहीं है जिसमें पत्र डाल दिया तो वह अपने पते पर धीरे-धीरे पहुँच जायेगा? उस सूक्ष्म लोक में ये स्थूल वस्तुएँ कैसे पहुँच सकती हैं? यह तो केवल मन का विश्वास और मन को समझाने की बात है कि हमने अपने पूर्वजों को याद कर लिया।

उनको स्मरण कर लिया और ब्राह्मण को अन्न-धन देकर उनको प्रसन्न कर लिया। वास्तव में यदि आपके पूर्वज जहाँ कहीं भी हैं वे आपकी भावना को, श्रद्धा को, सद्भावना को यदि पकड़ रहे हैं, ग्रहण कर रहे हैं तो आपकी श्रद्धा से भले ही खुश हों, आपकी भावना का तार उनके भावों के तार से जुड़ा होगा तो उन्हें भले ही प्रसन्नता होगी, परन्तु ब्राह्मण के मन में तो उनके प्रति न कोई आदर है, न कोई भाव है। वह उन्हें जानता-पहचानता भी नहीं, वह कैसे आपकी सूक्ष्म भावना और आपकी श्रद्धा को उन तक पहुँचायेगा? ब्राह्मण ऐसा कोई पोस्टमैन नहीं है जो आपका दिया दान उन तक पहुँचा देवे, यह तो केवल एक अंध-विश्वास या सामाजिक रीति-रिवाज है।''

लालाजी को बात समझ में आई होगी या नहीं, परन्तु मेरे अन्तर् मन में इस प्रश्न पर चिन्तन चलता रहा। मैं गहरे विचार में उतरा। वास्तव में श्राद्ध की परम्परा क्या है? क्यों है? इसके पीछे क्या उद्देश्य रहा होगा और इसके सामाजिक व धार्मिक लाभ क्या हो सकते हैं? इससे हानियाँ क्या हुई हैं? आदि अनेक प्रश्न मेरे मन में उठते रहे।

श्राद्ध आज एक भावनाशून्य कर्मकाण्ड बन गया है जिसके साथ गहरा अंध-विश्वास और लोकरूढ़ि का अंधकार छाया हुआ है। वास्तव में अपने उपकारी व पूज्य पूर्वजों के प्रति कृतज्ञता, प्रेम व आदर प्रकट करने का यह प्रसंग लोक-कल्याणकारी रूप में मनाया जाना चाहिए। त्याग, सेवा, दान, परोपकार और सत्कर्म के रूप में हम अपने पूर्वजों को जो श्रद्धा-तर्पण देंगे वही उनका सच्चा श्राद्ध होगा . . . . आज उसी विषय पर मैं एक चर्चा करना चाहता हूँ।

तीन देव

भारतीय संस्कृति की हिन्दू विचारधारा में तीन देव माने गये हैं–ब्रह्मा, विष्णु और महेश। और कहा गया है उन देवों के नर-देहधारी तीन रूप इस धरती पर विचर रहे हैं। ब्रह्मा का प्रतीक है माता, विष्णु का प्रतीक है पिता और शंकर का प्रतीक है गुरु–''**माता ब्रह्मा पिता विष्णुः गुरुदेवो महेश्वरः।**''

संसार में ये तीनों मनुष्य के प्रत्यक्ष उपकारी हैं। इसलिए इन्हें उन देवों के रूप में मानकर माता, पिता व गुरुजनों की पूजा करनी चाहिए। माता-पिता-गुरुओं की पूजा ब्रह्मा-विष्णु-महेश रूप तीनों की पूजा मानी गई है। यह हमारे हिन्दू पुराणों की धारणा है।

जैन शास्त्रों में भी भगवान महावीर ने कहा है–"मनुष्य अपने जीवन में इन तीनों के उपकार से कभी ऋण-मुक्त नहीं हो सकता। माता, पिता और गुरु (धर्म का ज्ञान देने वाले) मनुष्य के महान् उपकारी हैं। इनके प्रति सदा कृतज्ञ, विनम्र और सेवा-परायण रहना उसका कर्त्तव्य है, उसका धर्म है। उनके उपकारों से वह कभी मुक्त नहीं हो सकता।

मनुष्य भावनाशील प्राणी है। जीवन में जो कुछ करता है, वह केवल व्यापार या फायदे के लिए ही नहीं करता। किन्तु कुछ काम ऐसे भी करता है जिनमें उसकी श्रद्धा, भावना, संवेदना और पारस्परिक कृतज्ञता व प्रेम का तार जुड़ा होता है। यदि केवल प्रतिदान की भावना या व्यापारिक हानि-लाभ के गणित से सोचें तो बूढ़े माता-पिता को कौन रोटी खिलायेगा? कौन उनकी सेवा करेगा? उससे क्या लाभ मिलने वाला है? छोटे बालकों का भरण-पोषण, पढ़ाई, विवाह आदि में क्यों इतना खर्चा करेगा? क्यों समाज् के दीन, गरीब, अपंग, असहाय, बीमार और वृद्ध लोगों की सहायता करेगा? क्यों आपदग्रस्त लोगों की मदद करेगा? इससे प्रत्यक्ष में कोई फायदा नहीं दिखाई देता। और फायदे के सिद्धान्त से सोचने वाला किसी की मदद कर ही नहीं सकता। सेवा व्यापार नहीं है, धर्म है। सेवा में प्रत्यक्ष लाभ दिखाई नहीं देने पर भी अप्रत्यक्ष लाभ बहुत है। और वह इतना है कि उसकी कोई कीमत नहीं आँकी जा सकती। खेत में पड़ा एक दाना हजार दानों के रूप में प्रकट हो सकता है। सहायता, सेवा और परोपकार करने से मन को जो प्रसन्नता मिलती है, आत्मा को जो तृप्ति मिलती है उसकी तुलना में संसार का समूचा धन भी तुच्छ है। इस अभौतिक तृप्ति के लिए अथवा इस मानसिक प्रसन्नता के लिए वह अपने खून-पसीने की गाढ़ी कमाई को भी पानी की तरह बहा देता है। वह प्रत्यक्ष लाभ की जगह अप्रत्यक्ष मन के संतोष व हृदय की खुशी को महत्त्व देता है और इसी भावना का एक सही या गलत रूप है श्राद्ध।

श्रद्धा और श्राद्ध

अपने बुजुर्गों के लिए, उपकारी या सत्पुरुषों के लिए हमारे मन में जो श्रद्धा है, आदर है, प्रेम है, सन्मान और सद्‌भावना है उसको हम श्रद्धा कहते हैं। श्रद्धा की अभिव्यक्ति उनकी स्तुति करके, सेवा करके, गुणगान और आदर-सन्मान करके की जाती है। जो सशरीर विद्यमान हैं उनकी सेवा, परिचर्या और अभिवादन करके भी श्रद्धा प्रकट की जाती है, किन्तु

जो दिवंगत हो गये हैं उनके प्रति श्रद्धा प्रकट करने का उपाय है उनकी स्तुति करना; उनके गुणों का स्मरण करना और जो सत्कर्म उन्होंने किये, जो सद्मार्ग उन्होंने बताया उसका अनुसरण करना। अथवा दीन-दुःखी असहायों की सेवा, सहायता, मूक पशु-पक्षी प्राणियों की सेवा करना, यही वास्तव में उनके प्रति श्रद्धा प्रकट करने का एक मार्ग है, उपाय है। श्रद्धापूर्वक किया गया यह कृत्य श्राद्ध है।

जैन श्रावक को 'श्राद्ध' कहा जाता है अर्थात् देव-गुरु-धर्म के प्रति जिसकी श्रद्धा है वह व्यक्ति श्राद्ध है। देव-गुरु-तुल्य माता-पिता के प्रति कृतज्ञता की भावना रखना, उनको नमस्कार करना, उनकी चरण-रज मस्तक पर चढ़ाना, उनकी सेवा करना, उनके सुख के लिए अपने शरीर-सुखों की परवाह नहीं करना। यह सब श्रद्धा का रूप है। श्रीकृष्ण जैसे पुरुषोत्तम के विषय में भी जैन सूत्रों में कहा गया है–वे प्रतिदिन माता देवकी की चरण-वन्दना करने के लिए उसके महलों में जाते थे। भगवान महावीर गृहस्थावास में थे तब माता-पिता को, बड़े भाई को नमस्कार करते, उनकी चरण-वन्दना करते, उनका सम्मान-सत्कार करते। तो यह तो मानव संस्कृति का एक प्राकृतिक नियम है कि मनुष्य अपने माता, पिता व गुरुओं के प्रति श्रद्धाशील और समर्पणशील होता है। इसका किसी भी धर्म-परम्परा में कोई विरोध या आपत्ति नहीं है।

यों देखें तो भारतीय संस्कृति में कृतज्ञ होने के संस्कार जन्मघुंटी में ही मिलते हैं। स्वाभाविक रूप में मनुष्य अपने प्रत्यक्ष या परोक्ष उपकारी के प्रति भावनाशील और कृतज्ञ रहता है। इसी कृतज्ञ भावना का एक रूप है कि मनुष्य सूर्य, चन्द्र, समुद्र, नदी, तालाब, पृथ्वी आदि को उपकारी मानकर उन्हें नमस्कार करता है। क्योंकि वे ऊर्जा देते हैं, प्रकाश देते हैं, जीवन देते हैं। बड़, पीपल, आँवला, तुलसी आदि वृक्षों को क्यों नमस्कार करता है मनुष्य? क्योंकि बड़, पीपल सामान्य वृक्ष से १,००० गुनी अधिक प्राणवायु–ऑक्सीजन देते हैं। आँवला–विटामिन सी जैसी जीवनी शक्ति का अपार स्रोत है तो तुलसी रोग-निवारणी परम औषधि है। गाय को माता क्यों मानता है? क्योंकि वह माता के समान ही मधुर-हितकारी दूध देती है। जिससे छोटे से छोटे बालक व वृद्ध, रोगी व दुर्बल सबको शक्ति–पुष्टि मिलती है। तो जगत् में परस्परोपग्रह का एक नियम स्वाभाविक रूप में व्याप्त है। यह नियम सिखाना नहीं पड़ता, सहज ही प्रकट होता है। जिस

कारण मानव सहज ही कृतज्ञ, भावुक मन होकर उनको नमस्कार करता है, उनकी पूजा करता है। पूर्वजों के प्रति भी इसी प्रकार की कृतज्ञ भावना श्राद्ध कर्म के पीछे रहती है।

पूर्वजों की स्मृति में जो स्मारक, चैत्य, स्तूप–मकबरे–छतरी बनाये जाते हैं, वह भी तो एक प्रकार का श्राद्ध ही है, ताजमहल क्या है? एक पति द्वारा पत्नी की स्मृति में बनाया गया एक कलात्मक श्राद्ध !

जीवित माता-पिता के उपकारों के प्रति जिस प्रकार मनुष्य कृतज्ञ होता है, वैसे दिवंगत या स्वर्गवासी माता-पिता के उपकारों का स्मरण करे, उनके प्रति विनयशील रहे और उनके नाम व कीर्ति को चिरस्थायी रखने के लिए धन व्यय करे तो इसमें भी किसी को कोई आपत्ति नहीं। सिद्धान्त रूप में जैनधर्म इस बात से सहमत है कि मनुष्य अपने उपकारीजनों का स्मरण, उनके प्रति सन्मान, गुणानुवाद और गुणोत्कीर्तन करे तो यह एक प्रकार की प्रमोदभावना है। इससे अपने गुणों का विकास होता है। स्थानांगसूत्र में बताया है–उपकारीजनों के प्रति कृतज्ञभावना रखना, गुणीजनों का गुणानुवाद करना मनुष्य का कर्त्तव्य है, धर्म है और इससे आत्म-गुणों का प्रकाश बढ़ता है।

हम महापुरुषों की जयन्तियाँ मनाते हैं। स्मृति-सभा करते हैं। उनके जीवन-चरित्र, जीवन-ग्रन्थ प्रकाशित करते हैं। यह सब इसी प्रमोदभावना का रूप है। किन्तु उनकी आत्मा को शान्ति पहुँचाने व तृप्ति पहुँचाने के लिए ब्राह्मणों को भोजन कराने की जो परम्परा है, वह पुनर्जन्म या कर्मफल सिद्धान्त के विपरीत है। व्यावहारिक दृष्टि से भी यह तर्कसंगत नहीं लगती। यदि किसी ब्राह्मण को भोजन कराने से उनकी आत्मा शान्त होती है तो एक भूखे भिखारी को भोजन कराने से भी होनी चाहिए, फिर केवल ब्राह्मण ही क्यों?

सुख-दु:ख देने वाला कौन है?

स्वार्थी लोग कहते हैं यदि माता-पिता का श्राद्ध नहीं किया, उन्हें पिण्डदान या जल-तर्पण नहीं दिया तो उनकी आत्मा भटकती रहेगी, उन्हें सद्‌गति नहीं मिलेगी। परन्तु क्या कभी आपने सोचा है कि इतिहास में इतने महापुरुष हुए हैं, योगीश्वर श्रीकृष्ण, भगवान महावीर, तथागत बुद्ध, शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, तुलसीदास जी, सूरदास जी, स्वामी विवेकानन्द, रामकृष्ण परमहंस, महात्मा गाँधी आदि क्या कोई इनका श्राद्ध करता है?

क्या बिना श्राद्ध किये इनकी आत्मा दुर्गति में भटक रही हैं? उनकी वहाँ दुर्दशा हो रही है? ऐसा तो नहीं है।

परलोक में सुख-दुःख पाना अपने किये हुए कर्मों का फल है। गीता में योगीश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं–

''पार्थ ! नैवेहनामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
नहि कल्याणकृत् कश्चिद् दुर्गतिं तात ! गच्छति॥''

–गीता ६/४०

–हे अर्जुन ! किसी भी मनुष्य का कोई शुभ कर्म कभी नष्ट नहीं होता और जिसने शुभ कर्म किया है वह परलोक में कभी कष्ट नहीं पाता। शुभ कर्म के अनुसार अच्छी गति पाता है।

यही बात भगवान महावीर ने कही है–

''कत्तारमेव अणुजाइ कम्मं।''

–जिसने जैसा कर्म किया है, परलोक में वह वैसा ही फल पाता है।

परलोक में आत्मा के साथ केवल अपने किये हुए शुभ-अशुभ कर्म ही जाते हैं। बाकी शरीर, धन, परिजन, भोग-सामग्री सब कुछ यहीं रह जाते हैं। तो शास्त्रों के इस ज्ञान अनुसार यह निश्चित है कि किसी मृत आत्मा के नाम पर उसके लिए किसी को भोजन आदि कराना और यह मानना कि इससे मृत आत्मा तृप्त हो जायेगी अन्ध-विश्वास के सिवाय और कुछ नहीं है।

ये भी तो श्राद्ध ही हैं

रही बात पूर्वजों की स्मृति को चिरस्थायी रखने की। उनके नाम पर कुछ दान-पुण्य, लोक-कल्याणकारी कार्य करने की, तो यह तो संसार में सदा से ही रीति चली आ रही है कि मनुष्य अपनी कोमल भावनावश, अपने उपकारी व प्रियजनों के लिए कुछ न कुछ करता ही रहता है। मिस्र के पिरामिड क्या हैं? अपने प्रियजनों व राजाओं की स्मृति में बने हुए स्मारक हैं, जिन्हें आप एक प्रकार का श्राद्ध कह सकते हैं।

केवल भारत में ही नहीं, संसार में सभी देशों और राष्ट्रों में यह परम्परा रही है कि मनुष्य अपने पूर्वजों की यादगार को चिरस्थायी बनाने के लिए, उनकी यशःकीर्ति का विस्तार करने या उनकी स्मृति के उपलक्ष्य में स्मारक, कब्र, मकबरा, छतरी, चैत्य, स्तूप आदि बनाता रहा है। जैन सूत्रों में प्राचीन स्तूपों–चैत्यों का वर्णन आता है जो दिवंगत व्यक्तियों की

यादगार में उनके पुत्र आदि द्वारा बनाये जाते थे। वे भी एक प्रकार के श्रद्धा के प्रतीक 'श्राद्ध' ही तो हैं। पूर्वजों के नाम पर नगर, धर्मशाला, चिकित्सालय, गौशाला, धर्मस्थान, मन्दिर, तालाब, कुआँ, विद्यालय आदि बनते रहे हैं और इस बहाने मानव न केवल अपनी श्रद्धा व समर्पण भावना की तृप्ति करता रहा है अपितु अपने समाज, राष्ट्र, स्वजाति-बन्धुओं, पशु-पक्षी व प्राणियों की सेवा भी करता रहा है। भारत में तो इसके पीछे एक धार्मिक विश्वास भी है, एक संस्कार भी है, लम्बा इतिहास और संस्कृति है, परन्तु जिन देशों में किसी प्रकार का धार्मिक विश्वास नहीं है, ऐसी कोई श्राद्ध-संस्कृति नहीं है, वहाँ भी अपने मृत पूर्वज या माता-पिता की याद में करोड़ों रुपयों की निधि, ट्रस्ट, फण्ड और फाउण्डेशन बनाये जाते हैं, जिनसे सैकड़ों-हजारों लोगों को जीवनदान मिलता है, विद्यादान मिलता है, चिकित्सा-सेवाएँ मिलती हैं, अपंगों–अपाहिजों को जीना सुलभ होता है और विज्ञान एवं राष्ट्र की उन्नति में सहयोग मिलता है। यह परम्परा मनुष्य जाति की प्राकृतिक आत्म-प्रसन्नता का रूप है जिसे आचार्य श्री उमास्वाति की भाषा में **'परस्परोपग्रहो जीवानां'** का स्वाभाविक सिद्धान्त कह सकते हैं। यह परस्पर उपकारभावना व कृतज्ञता और मानव जाति के प्रति बंधुता का प्रदर्शन है। एक प्रकार से ये स्मारक और स्मृति संस्थान, ट्रस्ट भी अपने पूर्वजों का श्राद्ध ही है। श्रद्धा का प्रतिरूप है और ऐसा श्राद्ध मानव जाति के कल्याण का प्रतीक होता है। हम पूर्वजों के निर्वाण दिवस पर उनकी जयन्ती मनाते हैं। उनके स्मृति दिवस पर लोक-सेवा तथा जन-कल्याण के कार्य करते हैं। यह भी तो एक प्रकार का श्राद्ध है। श्रद्धा की अभिव्यक्ति है और ऐसी श्रद्धा अभिव्यक्ति या श्राद्ध कोई बुरा नहीं है। गुरु-ऋण व पितृ-ऋण से उऋण होने का एक उपक्रम है, यह मानवता का कल्याणकारी रूप है।

प्रश्न यह है कि फिर आश्विन मास के कृष्ण पक्ष को ही श्राद्ध पक्ष क्यों कहा जाता है और इन दिनों में ब्राह्मण-भोज कराकर पितृ-तर्पण क्यों किया जाता है?

इसके पीछे एक तो यह भावना हो सकती है कि मनुष्य वर्ष में एक बार इन दिनों में अपने पूर्वजों का स्मरण कर लेवे। उनके गुणों का, उनके उपकारों का स्मरण कर उनके प्रति कृतज्ञता व विनम्रता का भाव प्रकट करे।

कृष्ण पक्ष के ये १५ दिन वर्षा ऋतु के बाद आते हैं। वर्षा ऋतु की शिथिलता और मौसम की उष्णता के कारण मनुष्य के शरीर में आलस्य,

जड़ता और आराम करने की इच्छा उत्पन्न होती है। इस कारण वह अन्य कार्यों में इतना सक्रिय नहीं रहता। तो घर बैठे बैठे-ठाले पूर्वजों की याद ही कर लेवे।

किन्तु जहाँ तक ब्राह्मण-भोज व ब्राह्मणों को अन्न, वस्त्र, धन आदि देने का विधान है वह तो एक प्रकार का अंध-विश्वास, रूढ़ि या एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था का सूचक है जिसके मातहत गरीब जरूरतमंद ब्राह्मण की इसी बहाने कुछ सेवा-सहायता हो जाये। इस सामाजिक व्यवस्था को धार्मिक रूप दे दिया गया है। जिस कारण अंध-विश्वास पनपते गये। वास्तव में तो ब्राह्मण को धन लेना सर्वथा वर्जनीय है। मनुस्मृति आदि में कहा गया है कि जो ब्राह्मण दान में धन, भूमि, गो आदि ग्रहण करता है वह ब्राह्मण धर्म से च्युत हो जाता है।

धर्मराज और श्रीकृष्ण रो पड़े

महाभारत में एक कथा आती है। एक बार धर्मराज युधिष्ठिर ने एक ब्राह्मण को दान लेने के लिए प्रार्थना की। ब्राह्मण ने मना कर दिया–"मैं दान नहीं लेता।" परन्तु धर्मराज ने बहुत आग्रह और अनुनय-विनय करके उसे राजी कर लिया कि कुछ न कुछ तो दान ले ही लो। ब्राह्मण एक बार दान लेने को तैयार हो गया, परन्तु थोड़ी देर बाद फिर उसका मन बदल गया, वह मना करने लगा। और जब धर्मराज ने बहुत आग्रह किया तो वह रोने लग गया। ब्राह्मण को रोते देखकर धर्मराज भी रोने लग गये। श्रीकृष्ण महाराज भी वहाँ उपस्थित थे। इन दोनों को रोते देखकर श्रीकृष्ण जी भी रोने लग गये। यह कुतूहल देखकर भीमसेन चकरा गये। उन्होंने पूछा–"महाराज ! यह क्या लीला है? आप तीनों एक-दूसरे को देखकर रो क्यों रहे हैं?" श्रीकृष्ण महाराज ने समाधान दिया–"यह ब्राह्मण तो इसलिए रो रहा है कि यह राज-धन ग्रहण करना मेरे आध्यात्मिक लक्ष्य के प्रतिकूल है। मुझे राजा के आग्रह के कारण अपने आदर्शों से नीचे गिरना पड़ रहा है।"

"युधिष्ठिर क्यों रोये?" यह पूछने पर श्रीकृष्ण ने उत्तर दिया–"युधिष्ठिर को रोना इसलिए आया कि क्या मेरा धन इतना निकृष्ट है कि जिसे एक ब्राह्मण ग्रहण करना भी अधर्म समझता है?" "और आप किसलिए रोये?"–भीमसेन ने पूछा। श्रीकृष्ण ने कहा–"मुझे इसलिए रोना आ गया कि आज जिस ब्राह्मण जाति में इतना आत्म-ज्ञान है, अध्यात्म का गौरव है और त्याग की ऊँची भावना है। धर्मराज के आग्रह करने पर भी

वह धन ग्रहण करना अधर्म मानता है, वही ब्राह्मण आगे चलकर दान-दक्षिणा लेने के लिए दौड़ेंगे, जजमानों के चक्कर काटेंगे और राजसी दान भी क्या तामसी दान भी नहीं छोड़ेंगे और न ही अपने मान-अपमान का ध्यान रखेंगे–बस यही सोचकर मुझे भी रोना आ गया।''

तो श्राद्ध के नाम पर जिस ब्राह्मण को आप भोजन कराते हैं उस ब्राह्मण के विषय में तो कहा गया है उन्हें त्यागी, निर्लोभी और पराये अन्न-धन का स्पर्श भी नहीं करना चाहिए। वही सच्चा ब्राह्मण होता है और ऐसा ब्राह्मण किसी को मिलना ही दुर्लभ है।

स्वार्थ के सिद्धान्त

ब्राह्मण को खिलाना–दान देना आज एक लोकरूढ़ि बन गई है और इसके पीछे केवल अंध-विश्वास तथा स्वार्थ-परस्त भावनाएँ काम कर रही हैं। स्वार्थ के कारण शास्त्र के अर्थ मनमाने ढंग से बदल लिये जाते हैं।

पुराने सन्त एक लोक कथा कहते हैं कि एक समृद्ध जाट चौधरी था। जाट भाई खेत पर गया हुआ था। जाटनी घर पर खाना बना रही थी। तभी एक ब्राह्मण आ गया। उसने देखा, भीतर रसोई से हलवे की सौंधी-सौंधी सुगन्ध आ रही है। ब्राह्मण के मुँह में पानी छूटा। जाटनी से पूछा–''अरी भागवान् ! आज क्या बना रही है?''

जाटनी ने कहा–''पण्डित जी ! आज तो सराध है न, तो हलवा बना रही हूँ। पितरों को हलवा खिला दूँगी।''

ब्राह्मण बोला–''सराध है तो ब्राह्मण को निमंत्रण दिया या नहीं?''

भोली जाटनी ने कहा–''ब्राह्मण को तो नहीं बुलाया।''

ब्राह्मण ने कहा–''ब्राह्मण को खिलाये बिना सराध कैसे होगा?''

जाटनी ने कहा–''तो कोई बात नहीं, तुम्हीं खा लेना।''

ब्राह्मण यही तो चाहता था, बोला–''ठीक है, तू तैयारी कर, मैं अभी नहा-धोकर, पूजा-पाठ करके आता हूँ।'' ब्राह्मण चला गया। जाटनी के घर में एक सुथार (खाती) काम कर रहा था। उसने देखा यह ब्राह्मण तो बड़ा चालाक है। हलवे पर हाथ साफ कर डालेगा। दिनभर बैठा खटखट तो मैं कर रहा हूँ और माल ब्राह्मण उड़ायेगा। मौका देखकर खाती जाटनी के पास आया और बोला–''अरी भागवान् ! क्या कर रही हो आज?''

जाटनी ने उत्तर दिया–"भाई सराध है न, सो ब्राह्मण देवता को खाना खिला दूँगी। कहते हैं ब्राह्मण को जिमाने से सब पितरों का पेट भर जाता है।" खाती हँसकर बोला–"यह तो ठीक है परन्तु तुमने वह कहावत भी सुनी होगी न।"

जाटनी–"कौन-सी कहावत ?"

खाती बोला–"*सो पूजा एक पाती।*

सो ब्राह्मण एक खाती।"

–सौ ब्राह्मण को जिमाने का जितना पुण्य होता है, एक खाती को जिमाने में उतना ही पुण्य होता है। अब देख ले जैसे तेरी मर्जी . . . .

कुछ सोचकर जाटनी बोली–"यह बात है? फिर तो ब्राह्मण कौन-सा मेरा सगा लगता है। तुझे ही खिला दूँगी न। जा; जल्दी से नहा-धोकर आ जा। मैं हलवा तैयार करती हूँ।" खाती खुश हुआ और नहाने के लिए घर चला गया। इतने में ही पड़ौस का किसना तेली आ गया। पूछा–"अरी भागवंती ! आज तो बड़ी मीठी-मीठी देशी घी की सुगन्ध आ रही है। क्या माल बना रही है ?"

जाटनी ने ब्राह्मण और खाती की बात बताकर कहा–"बीरा, खाती को खिलाने से सौ ब्राह्मण जिमाने का पुण्य होता है तो खाती को ही खिलाकर सराध करूँगी।" तेली भी बड़ा चालाक था, बोला–"खाती की बात तो ठीक है, पर वह आधा पाठ तो बता गया आगे का कुछ नहीं बताया ?"

जाटनी ने पूछा–"क्या रह गया ?"

तेली बोला–शास्त्र में तो इस तरह लिखा है–

"*सो पूजा एक पाती, सो ब्राह्मण एक खाती*
सो डलिया एक ढेली, सो खाती एक तेली।"

–सौ खाती जितना पुण्य तो एक तेली को जिमाने से ही होता है, अब जैसी तेरी मर्जी हो, कर ले।

भोली जाटनी बोली–"यह बात है? खाती बड़ा चालाक निकला, आधी बात तो बता गया आधी छोड़ दी। खैर अब खाती को नहीं, तुझे ही सराध खिलाऊँगी, जा जल्दी से ही नहा-धोकर आ जा।"

तेली खुश हुआ। उछलता-उछलता घर गया। तभी पीछे से चौधरी आ गया। उसने देखा–आज तो घर में माल बन रहा है। पूछा तो जाटनी ने बताया–"सराध जिमाऊँगी। अपना पड़ौसी किसना तेली यह कह गया है सो उसी एक को खिलाकर हजार ब्राह्मण जिमाने का पुण्य कमा लूँगी।"

चौधरी मन ही मन पत्नी के भोलेपन पर हँसा और उन दोनों की चालाकी पर गुस्सा भी आया। बोला–वे दोनों ही तुझे मूर्ख बना गये, सो आधी अधूरी बात कह गये। पूरी बात तो यों है–

"सो पूजा एक पाती, सो ब्राह्मण एक खाती
सो डलिया एक ढेली, सो खाती एक तेली।
सो पीढ़ा एक खाट, सो तेली एक जाट।"

चौधरायन बोली–"यह बात है? फिर तो घर का माल घर में ही रहेगा। चलो तुम नहा-धोकर तैयार हो जाओ, मैं हलवा-पूरी परोसकर लाती हूँ।" चौधरी बड़ा चतुर था, सोचा देर हुई तो वे लोग आ धमकेंगे। बोला–"जाट तो सदा पवित्र ही होता है, उसका क्या नहाना-धोना, चल ला परोस।"

तो इस प्रकार स्वार्थ के सिद्धान्त बनते-बदलते रहते हैं। ब्राह्मण से खाती और खाती से तेली ने अपने मतलब का सिद्धान्त बना लिया।

साथ जाता है केवल अपना कर्म

प्राचीन मिस्र में अंध-विश्वास था जो बहुत सीमा तक आज भी प्रचलित हैं कि आदमी मरता है तो उसकी आत्मा अपनी भोग सामग्रियों में अटकी रहती है। इसलिए अगले जन्म में उसके साथ भेजने के लिए उसकी कब्र में उसका प्रिय सामान साथ रख देना चाहिए। मिस्र के बादशाह या किसी बड़े अमीर की मृत्यु होती तो उसके शव के साथ ही कब्र में बादशाह के पहनने का कीमती कपड़ा आभूषण, शराब, शस्त्र आदि सामान भी रख दिया जाता था ताकि उसे अगले जन्म में ये चीजें मिल जायें। इस प्रकार के अंध-विश्वास या रूढ़ियाँ या तो स्वार्थी लोगों ने प्रचलित कीं या मनुष्य के अज्ञान और भोगआकांक्षा का परिणाम हैं। वास्तव में शरीर का नाश होने पर आत्मा जब परलोक को जाती है तो उसके साथ केवल उसके किये शुभ-अशुभ कर्म ही जाते हैं। धन-सम्पत्ति, भोग-सामग्री सब कुछ यहीं रह जाती है। यही सिद्धान्त श्राद्ध कर्म के विषय में है कि किसी को खिलाया या दिया हुआ सब उसी के पास रहता है जिसको दिया जाता है। मृत आत्मा का उससे कोई सम्बन्ध नहीं है।

मृत आत्मा के प्रति संवेदना या उसकी स्मृति में शान्ति-पाठ, पूजा, हवन करके उसे शान्ति पहुँचाने की भावना या अवधारणा भी युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि जो चला गया है उसको शान्ति तो उसके अपने कर्मानुसार ही मिलेगी। आपके चाहने न चाहने या करने न करने का कोई अन्तर नहीं पड़ता, इसलिए मृतात्मा की शान्ति के लिए अमुक आयोजन करना यह शब्दावली ही जैनदर्शन की धारणा के प्रतिकूल है।

हम मृत आत्मा के प्रति अगर सन्मान, श्रद्धा, प्रेम और आदरभाव रखते हैं तो सर्वप्रथम उनके गुणों का स्मरण करना चाहिए। फिर उनके बताये हुए सन्मार्ग का अनुसरण करना चाहिए। उनकी स्मृति को प्रेरणाप्रद और चिरस्थायी रूप देने के लिए ऐसे कार्य करने चाहिए जिससे अपना आत्म-कल्याण भी हो और लोक-कल्याण भी हो। पूर्वजों व उपकारियों के प्रति यही हमारी सच्ची श्रद्धांजलि या श्राद्ध कर्म होगा कि हम उनकी स्मृति में लोक-कल्याणकारी, सेवाभावी संस्थान, ज्ञान-प्रसार के कार्यक्रम और जीवन में शान्ति व स्फूर्ति देने वाले रचनात्मक काम करें।

● ●

विजय दशमी : दशों की विजय का प्रतीक

भारतीय संस्कृति एक प्रकार से पर्व व त्यौहारों की संस्कृति मानी जाती है। प्राचीन समाज-व्यवस्था में चार वर्ण थे–ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। इन चारों वर्णों के कार्य, उल्लास और आयोजनों को ध्यान में रखकर त्यौहारों व उत्सवों का भी वर्गीकरण कर दिया गया। जैसे रक्षाबंधन ब्राह्मणों का त्यौहार बताया गया है, विजय दशमी क्षत्रियों का, दीपावली वैश्यों का और होली शूद्रों का। यद्यपि त्यौहारों को सभी वर्ण मिलकर मनाते हैं। इन उत्सवों पर सर्वत्र उल्लास, हलचल और धूमधाम रहती है। त्यौहार पूरे समाज के उल्लास का प्रतीक होता है।

विजय मुहूर्त्त : सर्व कार्य साधक

यद्यपि पर्वों व त्यौहारों का केवल सामाजिक महत्त्व ही नहीं है। इनके साथ मनुष्य के आध्यात्मिक, आन्तरिक तथा व्यक्तिगत जीवन की चेतना भी जुड़ी हुई है। प्रत्येक पर्व के साथ कुछ ऊँचे आध्यात्मिक आदर्श, उच्च संकल्प और पवित्र कार्यों की भावना भी जुड़ी रहती है, जिस कारण पर्वों का सम्बन्ध समाज एवं धर्म के साथ जुड़ जाता है और पर्व सामाजिक उल्लास के साथ ही मनुष्य की आध्यात्मिक चेतना को जगाने के प्रतीक बन जाते हैं।

आज विजय दशमी का पर्व है। आश्विन शुक्ल दशमी का दिन भारतीय समाज में विजय दशमी या विजय पर्व अथवा दशहरा, दुर्गा-पूजा आदि नामों से प्रसिद्ध है। ज्योतिषशास्त्र के अनुसार शरद् ऋतु के इस सुहावने वातावरण में दशों दिशाएँ खुल जाती हैं। वर्षा ऋतु के कारण जो आवागमन रुक गये थे, वातावरण की नमी के कारण स्वास्थ्य में शिथिलता व जड़ता आ रही थी वह इस मौसम में स्वयं ही दूर हो जाती है। यह शरद् ऋतु रोग निवारक तथा आरोग्यवर्धक ऋतु मानी जाती है। धूप खिलने से प्रकृति की दिशाएँ भी खुल जाती हैं और शरीर के भीतर के दिगुचक्र भी खुल जाने से इस ऋतु में रोगी भी अपने आप नीरोगता व स्वस्थता का अनुभव करने लगते हैं।

दूसरी बात ज्योतिषशास्त्र के अनुसार आसोज सुदि दशमी के दिन अंतरिक्ष में चन्द्र व नक्षत्र आदि का ऐसा योग मिलता है कि इस दिन का विजय मुहूर्त्त वर्ष में सर्वश्रेष्ठ मुहूर्त्त माना जाता है। यह सहज सिद्ध मुहूर्त्त है। इसलिए इस शुभ दिन में प्राचीन समय से ही प्रत्येक वर्ग अपने-अपने इच्छित शुभ कार्य आरम्भ करते हैं। व्यापारी व्यापार, उद्योग का शुभारंभ करता है। किसान खेत में बीज बोने का मुहूर्त्त करता है। नये कार्य आज के दिन आरम्भ किये जाते हैं। यद्यपि आज विज्ञान के युग में आवागमन एवं सुरक्षा, सैनिक-व्यवस्था व युद्ध आदि के सभी पुराने तरीके व सिद्धान्त बदल गये हैं। हवाई जहाज, कम्प्यूटर, अणुअस्त्र व मिसाइलों ने संसार की कायापलट कर दी है, फिर भी प्राचीन समाज-व्यवस्था के जो अच्छे सिद्धान्त थे और उनके आदर्श प्रतीक थे उनकी उपयोगिता आज भी कम नहीं है।

प्राचीनकाल में वर्षा ऋतु समाप्त होने पर क्षत्रिय वर्ग अपने अस्त्र-शस्त्रों की देखभाल करते थे ढाल, तलवार आदि पर धार–चमक आदि करके उन्हें तैयार करते थे। और घोड़े, हाथी, रथ आदि की पूजा करके विजयोल्लास मनाते थे। युद्ध के लिए आज ही के शुभ मुहूर्त्त में प्रस्थान किया जाता था। क्षत्रियों के लिए विजय दशमी का त्यौहार सबसे बड़ा त्यौहार माना जाता है। मैसूर में तो आज भी मैसूर के महाराजा की सवारी निकलती है और राजमहलों व नगर में दीपावली जैसी रोशनी की जाती है।

क्या दशमी को रावण का वध हुआ था ?

प्राचीन धारणा के अनुसार आज ही के दिन महाराज रामचन्द्र जी ने रावण का वध करके लंका विजय की थी। यद्यपि यह धारणा न तो इतिहास-सम्मत है और न ही वाल्मीकि रामायण एवं तुलसीदास जी के रामचरितमानस के अनुसार सिद्ध होती है। क्योंकि वहाँ बताया गया है श्री रामचन्द्र जी ने वर्षा ऋतु के चार महीने पंपापुर में ही निवास किया। शरद् ऋतु आरम्भ हो जाने पर हनुमान जी को सीता जी का पता लगाने के लिए भेजा था। तो फिर दशहरे के दिन रावण-वध किस प्रकार सम्भव है? क्योंकि प्राचीन युद्ध नीति के अनुसार वर्षा ऋतु में युद्ध भी बन्द रहते थे। अनेक इतिहासकारों ने खोज करके रावण-वध की ही कुछ तिथियाँ खोजी हैं। कइयों ने फाल्गुन शुक्ल एकादशी बताई है तो कइयों ने वैशाख कृष्ण चतुर्दशी मानी है। अस्तु, हमें इतिहास व लोक मान्यता के साथ कुछ भी छेड़छाड़ नहीं करनी है। जो मान्यता, धारणा व रूढ़ि चली आ रही है उसके

पीछे रहा हुआ प्रतीकार्थ समझ लेंगे तो विवाद का कोई कारण ही नहीं रह सकता। हिन्दू धर्म के भविष्योत्तर पुराण में लिखा है कि प्राचीनकाल में क्षत्रिय राजा युद्ध के लिए प्रस्थान करने से पूर्व विजय दशमी के दिन शत्रु का एक पुतला बनाकर बाण से उसका हृदय बींध देते थे। इससे यह मान लिया जाता था कि हमने अपने शत्रु का नाश कर दिया। यह एक प्रकार से आत्म-विश्वास जगाने का साधन अथवा एक विजय सकुन के रूप में यह प्रथा प्रचलित थी कि शत्रु का पुतला बनाकर उसका सिर छेद देना, हृदय बींध देना। आज भी जनता विरोध प्रकट करने के लिए नेताओं के पुतले फूँकती है तो पुतला जलाने की प्रथा ही सम्भव है धीरे-धीरे कालान्तर में रावण-वध का रूप ले चुकी हो और विशालकाय शत्रु के पुतले को रावण मानकर इसका सम्बन्ध रामलीला से भी जोड़ दिया गया हो। कुछ भी हो, विजय दशमी के दिन रावण या शत्रु के पुतले का बध एक प्रकार से अपनी विजय का प्रतीक अथवा विजय का विश्वास पैदा करने का साधन था और अन्याय, अत्याचार, असत्य पर न्याय, सदाचार व सत्य की विजय का प्रतीक मानकर इसे पर्व का रूप दे दिया गया।

विजय दशमी का ऐतिहासिक आदर्श

कहा जाता है इस आश्विन मास की दशमी के दिन महाभारत का युद्ध आरम्भ हुआ था। यह युद्ध भी दुर्योधन के अन्याय, अनीति व दुराचार के विरुद्ध न्याय, नीति एवं सदाचार के अभियान के रूप में ही माना जाता है। इस प्रकार यदि रामायण एवं महाभारत काल के दोनों सन्दर्भों पर विचार करें तो विजय दशमी का पर्व न्याय-नीति एवं सदाचार-सत्य की विजय का प्रतीक पर्व माना जाता है।

एक बात स्पष्ट है कि विजय दशमी का महत्त्व अधिकतर हिन्दू पुराणों में ही मिलता है। जैन संस्कृति में इस सम्बन्ध में कोई विशेष उल्लेख नहीं है। कारण जैन संस्कृति मूलतः अहिंसा और संयम-प्रधान रही है। निवृत्ति-प्रधान संस्कृति में प्रवृत्ति-प्रधान पर्वों का विशेष महत्त्व नहीं होता। इस कारण विजय दशमी के पर्व का इतिहास और लोक कथाएँ, किंवदन्तियाँ हिन्दू पुराणों में ही अधिक मिलती हैं।

दुर्गा द्वारा असुर विनाश—आत्मा के दिव्य गुणों की विजय

हिन्दू पुराणों में एक कथा आती है कि प्राचीनकाल में देवों व दानवों, सुर व असुरों में परस्पर बार-बार युद्ध होता रहता था। देवासुर-संग्राम की

कुछ चर्चा भगवतीसूत्र में भी आती है। किन्तु वहाँ पर इन्द्रदेव मध्यस्थता करता है। हिन्दू पुराणों में इन्द्र देवताओं का पक्ष लेता है। अस्तु, पुराणों में बताया है–असुरों के साथ जब भी देवताओं का युद्ध होता तो देवता हार जाते, असुर जीत जाते।

इसका एक कारण था सभी देवगण एकजुट नहीं हो पाते थे, जबकि असुर एक साथ मिल जाते थे। दूसरी बात देवगण सुखप्रिय ज्यादा थे जबकि असुरगण कष्ट-सहिष्णु। इस कारण बार-बार असुरों से मात खा जाते थे। देवगण अपनी पराजय से खिन्न होकर प्रजापति ब्रह्मा के पास गये। अपनी हार का कारण पूछने पर प्रजापति ने कहा–"देवत्व कभी नहीं हारता, किन्तु हारती है विशृंखलता। तुम सब देवगण शक्ति-सम्पन्न तो हो, परन्तु परस्पर संगठित नहीं हो। फूट या विशृंखलता ही तुम्हारी हार का कारण है। अगर असुरों को जीतना है तो संगठित बनो। एक संघीय घनीभूत शक्ति बनो, तभी तुम शक्ति-सम्पन्न राक्षसों पर विजय प्राप्त कर सकते हो।" देवताओं ने प्रजापति से प्रार्थना की–"आप हमारी शक्ति को संगठित कीजिये।" प्रजापति ने सभी देवताओं की थोड़ी-थोड़ी शक्ति ली। सब दिव्य शक्तियों को केन्द्रित करके फिर उसे अभिमंत्रित किया तो वह दुर्गा के रूप में प्रकट हुई।

हिन्दू पुराणों में दुर्गा के अवतरण की यह कहानी मिलती है।

दुर्ग का अर्थ है किला। एक संगठित और केन्द्रित शक्ति। उस केन्द्रित शक्ति का रूप है दुर्गा। फिर दुर्गा पराक्रम एवं साहस के प्रतीक सिंह पर आरूढ़ होती है। अर्थात् दिव्य शक्तियाँ संगठित होकर साहस और पुरुषार्थ पराक्रम के बल पर असुरों (बुराइयों) पर विजय प्राप्त कर लेती हैं। दुर्गा की अष्ट भुजाएँ आत्मा के आठ दिव्य गुणों की प्रतीक हैं। प्रत्येक आत्मा के भीतर आठ स्वाभाविक गुण विद्यमान होते हैं। ज्ञान, दर्शन, आनन्द, अनन्त शक्ति, अनन्त सुख आदि। ये आठ गुण जब आत्मारूप दुर्गा में भुजा के रूप में प्रकट होकर शक्ति का स्फोट करते हैं तो उसकी शक्ति संसार में अजेय हो जाती है। स्मृति एवं पुराणकारों ने दुर्गा की आठ भुजाओं को आठ बलों के रूप में भी गिना है। जैसे–विद्या बल, शरीर बल, बुद्धि बल, धन बल, मित्र बल, मनोबल, शस्त्र बल और धर्म बल। ये आठ बल संगठित होकर किसी भी दुर्जेय शत्रु को जीतने में समर्थ हो जाते हैं। दुर्गा अवतरण संगठन एवं पराक्रम का प्रतीक है।

दुर्गा ने सिंह पर बैठकर अपने त्रिशूल से सबसे बड़े तीन दैत्यों का संहार किया। उनके नाम थे—**महिषासुर**, **मधुकैटभ** और **शुंभ-निशुंभ**। इन तीनों का संहार करते ही असुरों का विनाश हो गया। असुरों की सेना हार गई। तो यह दैत्य विजय का दिन आज ही का दिन था। इसलिए यह विजय दशमी के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

अब इस पौराणिक कथा को आध्यात्मिक प्रतीक के रूप में समझें तो इसका स्पष्ट अर्थ है—देवता, आत्मा की दिव्य शक्ति का प्रतीक है। आत्मा की दिव्य शक्तियाँ अर्थात् आत्मा के सत्य, शील आदि सद्‌गुण जब संगठित और एकीकृत हो जाते हैं तो वे दुर्गा के रूप में एक अजेय शक्ति बन जाते हैं। आत्मा जब तक प्रमाद व आलस्य से ग्रस्त रहता है, वह विकार रूप असुरों से हारता है। किंतु प्रमाद त्यागकर तप और साधना में लीन होता है तो उसकी शक्ति का स्फोर होता है। आत्मा की यह अजेय शक्ति सबसे पहले **महिषासुर** का विनाश करती है। महिष का अर्थ है भैंसा। भैंसा आलस्य का प्रतीक है। आलस्य अर्थात् प्रमाद। प्रमाद या आलस्य आत्मा का सबसे बड़ा शत्रु है—"**आलस्यो हि मनुष्याणां शरीरस्थो महारिपुः।**"—आलस्य शरीर के भीतर छुपा हुआ सबसे बड़ा शत्रु है। बुद्ध ने कहा है—"**पमादो मच्चुनो पदं।**"—प्रमादमृत्यु का स्थान है।

भगवान महावीर कहते हैं—"**दुक्खं केण कडे ? जीवेण कडे पमादेण।**" संसार में जितने भी दुःख हैं वे सब जीव-आत्मा प्रमाद के वश होकर करता है। जिस प्रकार राक्षस शुभ गुणरूप देवताओं का नाश करता है उसी प्रकार प्रमाद, शील, सन्तोष, संयम और साधना का नाश करने वाला दुष्ट राक्षस है। इस प्रमाद रूप महिषासुर का नाश करने वाली दिव्य आत्मा है दुर्गा।

दुर्गा ने जिस दूसरे असुर का नाश किया उसका नाम है **मधुकैटभ**। मधु नाम है—मद का और कैटभ का अर्थ है—कैतव—कपट। माया-दंभ ! मधुकैटभ—असुर मद और कपट, अहंकार और दंभ का प्रतीक है। आत्मारूप दुर्गा दर्प और दंभ नामक असुरों का नाश करके विजयी बनता है।

मधुकैटभ का एक पुराणकार ने अर्थ किया है—असंयम। असंयम वह राक्षस है, जो आत्मा को पतित कर आत्म-गुणों का नाश करता है।

अष्टभुजा दुर्गा ने जिस तीसरे राक्षस का संहार किया उसका नाम है **शुंभ-निशुंभ। यह मोह** का प्रतीक है। मोह आत्मा का सबसे प्रबल शत्रु है। भगवान महावीर कहते हैं—"**मोहो हओ जस्स न किंचणाइ।**"—जिसने मोहरूपी

शत्रु का नाश कर दिया उसका संसार में दूसरा कोई शत्रु नहीं है। मोह को जीतने वाला अजातशत्रु संसार का पिता तुल्य परम वत्सल पुरुष होता है। उसे बीतराग कहते हैं। हिन्दू पुराणों में दुर्गा को माता माना है। माता परम वत्सला होती है। वह जीव मात्र का कल्याण करने वाली है। तो इस रूप में दुर्गा द्वारा शुंभ-निशुंभ का संहार करने का प्रतीक अर्थ है–आत्मा के केन्द्रीकृत दिव्य गुणों की शक्ति द्वारा मोहरूपी राक्षस पर विजय प्राप्त करना।

इस प्रकार अष्टभुजा दुर्गा आत्मा के आठ गुणों को प्रतीक मानकर तीन दुष्ट राक्षसों को–आलस्य, मद और मोह का प्रतीक मानने से आज के विजय पर्व का अर्थ होता है–आत्मा द्वारा अशुभ शक्तियों पर विजय प्राप्त करना।

प्रतीकों का रहस्य समझें !

इस बात पर गौर कीजिए कि पुराणों के आख्यान और लोक-श्रुतियाँ अलंकारिक भाषा में होती हैं। उनके कुछ प्रतीक–गुप्त अर्थ होते हैं। यदि उनके शब्दों को पकड़कर ही आप अर्थ करेंगे तो संभव है आप उनके वास्तविक अर्थ को नहीं समझ सकेंगे और इधर-उधर गलत विचारों के चक्र में पड़ जायेंगे। बहुत से ऐसे शब्द हैं जिनके अर्थ प्रतीकों से ही समझे जाते है। जैसे उपनिषद् में 'हंस' शब्द का प्रयोग हुआ। हंस से वहाँ प्राणों का अर्थ लेने पर ही श्लोक का सही अर्थ समझ में आता है। एक आख्यान है–**दो चूहे डोरी को कुतर रहे हैं**–इसका अर्थ है–दिन-रातरूपी चूहे जीवनरूपी डोर को काट रहे हैं। तो धर्मशास्त्रों, पुराणों व अन्य ग्रन्थों में इस प्रकार की अलंकारिक व प्रतीकात्मक भाषा का बहुत प्रयोग होता रहा है। यह भाषा बड़ी मजेदार लगती है और इससे बुद्धि का व्यायाम भी हो जाता है।

मैं कह रहा था विजय दशमी के साथ जो भी प्राचीन लोक श्रुतियाँ, आख्यान व पौराणिक घटनाएँ हैं उनको यदि हम शब्दरूप में पकड़कर चलेंगे तो बड़ी भूल हो जायेगी। उनके प्रतीकों में छिपे अर्थ पर विचार करेंगे तो सही अर्थ समझ सकेंगे और उन कथाओं के मूल में रहा विशेष उद्देश्य भी ग्रहण कर लेंगे। लौकिकता से उठकर अलौकिकता का अनुभव कर सकेंगे।

दशहरा–दश को जीतो

विजय पर्व को हम आत्म-विजय के पर्व के रूप में ग्रहण करके इस पर चिन्तन करें। विजय दशमी को दशहरा कहते हैं। दशहरा अर्थात् दश को

हरने वाला, दश का नाश करने वाला। सामान्य भाषा में दशकन्धर नाम रावण का है और रावण का नाश करने की कथा के साथ इसका सम्बन्ध जुड़ता है। परन्तु राम-रावण युद्ध को अगर आप आध्यात्मिक अर्थ में लेंगे तो राम न्याय-नीति और सदाचार का प्रतीक होगा, रावण अन्याय, अनीति, दुराचार, अहंकार का प्रतीक है। यद्यपि बल, बुद्धि, वैभव में रावण राम से कम नहीं था, रावण का वैभव कितना विशाल था, सोने की ईंटों से जिसके भवन बने हुए थे, समुद्र की खाई जिसके नगर की रक्षा करती थी, जिसके दश सिर अर्थात् दस बुद्धिमानों की बुद्धि उसके पास थी, बीस भुजाएँ अर्थात् दस बलवानों, महायोद्धाओं का बल उसकी भुजाओं में था। वरुणदेव जैसा विज्ञान का निष्णात उसके यहाँ पानी भरता था, पवनदेव जैसा शक्तिशाली उसको हवा करता था–यह सब रावण के वैभव के प्रतीक हैं और ऐसा बलवान रावण अनीति और अहंकार के कारण भीतर से एकदम खोखला हो गया। उसकी राक्षसों की महाबली सेना, साधारण रीछ और बंदरों की सेना से भी हार गई। रावण जैसा विद्वान्, बुद्धिमान् और बलवान राम के एक बाण से धराशायी हो गया। यह सब बड़ी गूढ़ पहेलियाँ हैं। मतलब इसका यह है कि व्यक्ति चाहे जितना बलवान क्यों न हो, चाहे जितना बड़ा सत्ताधीश और धनाधीश क्यों न हो, चरित्रहीन और अनीतिमान होने से सामान्य व्यक्ति के सामने भी हार खा जाता है। राम एक चरित्रवान, नीतिमान, सदाचारी, मर्यादा-पालक शक्ति का प्रतीक है। संसार में सदा ही यह खेल चलता रहा है। जब-जब भी अनीति, अन्याय शक्ति के रूप में उभरकर समाज को उत्पीड़ित और प्रताड़ित करते हैं तो न्याय और सदाचार की शक्ति उसका नाश करके अन्याय पर न्याय की विजय-ध्वजा फहराती है।

इस प्रकार राम-रावण का युद्ध अधर्म और धर्म का युद्ध बन जाता है, दुराचार और सदाचार का युद्ध बन जाता है।

उत्तराध्ययनसूत्र में एक प्रसंग आता है–केशीकुमार श्रमण गणधर गौतम से पूछते हैं–"आप इन अपार अजेय शत्रुओं के बीच अकेले शान्ति से कैसे रह रहे हैं?"

गौतम एक प्रतीकात्मक उत्तर देते हैं–

"एगे जिए जिया पंच पंच जिए जिया दस।
दसहा उ जिणित्ताणं सव्व सत्तु जिणामहे॥"

–मैं पहले एक को जीतता हूँ। एक को जीतने पर पाँच अपने आप जीत लिए जाते हैं। और पाँच पर विजय होने से दशों को जीत लेता हूँ। दशों को जीत लिया तो बस सब शत्रु अपने आप मेरे वश में हो जाते हैं।

केशीकुमार पूछते हैं–"यह आपने क्या पहेली बता दी? एक कौन है, पाँच कौन हैं और दश कौन हैं, जो आपके शत्रु हैं?"

गौतम कहते हैं–"एक है–मन। मन सबसे बड़ा शत्रु है। मैं मन को सबसे पहले जीतता हूँ। मन को जीतते ही पाँचों इन्द्रियाँ मेरे वश में आ जाती हैं। पाँच शत्रु वश में हो गये तो फिर क्रोध, मान, माया, लोभ और मोह–ये भी पाँचों वश में हो जाते हैं। इस तरह एक को जीत लेने से दश को जीत लेता हूँ और दश को जीत लिया तो बस सब शत्रुओं को जीत लिया।"

इस रूपक को आप राम-रावण पर भी घटित कर सकते हैं। राम हैं गौतम, गौतम पहले एक मनरूपी रावण को जीतता है उसको जीतते ही उसकी पाँच महाशक्तियाँ–महाविद्याएँ पराजित हो जाती हैं। और ये पाँचों महाविद्याएँ–शक्तियाँ पराजित होते ही उसके दश मस्तक कटकर गिर जाते हैं। दशों का नाश होने पर सब शत्रु अपने आप भाग जाते हैं।

इस प्रकार आज विजय दशमी पर्व को आप आत्म-विजय के सन्दर्भ में देखें, साथ ही जिस प्रकार प्रजापति ने देवताओं की शक्तियों को केन्द्रित करके दुर्गा महाशक्ति का निर्माण किया, उसी प्रकार हम अपने दिव्य गुणों से साहस, संकल्प, सत्य, संयम, सदाचार, सन्तोष आदि गुणों को केन्द्रित करके ज्ञान चेतना और ध्यान चेतना के रूप में दुर्गा शक्ति को प्रकट करें ताकि मोह, मूढ़ता, मद, आलस्यरूपी राक्षसों का नाश करके हम संसार में सर्वश्रेष्ठ आत्म-विजय के भागी बन सकें।

● ●

धन के स्वामी बनो, दास नहीं

पर्व उस समाज की सभ्यता, संस्कृति, रुचि और इतिहास का प्रतीक होता है। वह अध्यात्म एवं समाज चेतना का अन्त:प्रवाही स्रोत है। पर्वों के पीछे समाज के आदर्श कहीं प्रतीक कल्पना के रूप में और कहीं इतिहास के घटनाक्रम के रूप में जुड़े रहते हैं।

पर्व मनोवैज्ञानिक रूप में समाज का दर्पण होता है। हमारे प्राचीन समाज संस्थापकों ने, इतिहास निर्माताओं ने तथा समाज के सुचारु संचालन के लिए आदर्श व रीति-रिवाज बनाने वालों ने पर्वों के रूप में जो परम्पराएँ, रीति-रिवाज, खान-पान, व्यवहार के आदर्श स्थापित किये हैं, उनके पीछे मानव समाज के चतुर्मुखी विकास की परिकल्पना रही है। पर्वों की प्रेरणा में सबसे मुख्य बात है **सामूहिक भावना** की। सबके साथ मिलकर आमोदमय वातावरण में पर्व मनाये जाते हैं। केवल देव-देवी की पूजा, मेले-ठेले और प्रसाद व मिठाइयाँ खाना मात्र पर्वों का उद्देश्य नहीं है।

पर्वों के लिए भारत के राष्ट्रीय जागरण के मुख्य सूत्रधार लोकमान्य तिलक ने एक विचारोत्तेजक प्रेरणा सूत्र दिया है–

''ग्रामे-ग्रामे सभा कार्या, ग्रामे-ग्रामे कथा शुभा।
पाठशाला मल्लशाला, प्रति पर्व महोत्सव:॥''

–पर्वों के दिन गाँव-गाँव में सभा की जाये, प्रवचन आदि द्वारा पर्वों की प्रेरकता पर प्रकाश डाला जाय। पाठशालाएँ और व्यायामशालाएँ स्थापित की जायें जिससे जनता का अज्ञान एवं बीमारियाँ दूर हों इस प्रकार पर्व को सामूहिक रूप प्रदान करें।

यद्यपि पर्वों की परम्परा के साथ धीरे-धीरे रूढ़ियाँ व गलत व्यवहार भी स्थापित हो गये। वर्तमान जीवन में जिनकी कोई उपयोगिता नहीं है। कुछ स्वार्थी तत्त्वों ने उनके साथ अपने व्यक्तिगत हित, स्वार्थ तथा रूढ़ मान्यताओं को भी इस प्रकार गड्ड-मड्ड कर दिया है कि समूचे पर्व का रूप ही विकृत हो गया है। ऐसा होता है–गंगोत्री की धारा से बहने वाली गंगा की निर्मल धारा में जंगलों का कूड़ा-कचरा, नगरों की गंदगी आदि भी

मिलती रहती है। नदी का निर्मल जल गंदा होता रहता है। किन्तु पीने के लिए उस पानी को उपयोग करने वाले उसे शुद्ध निर्मल कीटाणुरहित करने की प्रक्रिया अपनाकर उस मलिन, दूषित जल को भी संस्कारित कर पीने योग्य बना लेते हैं। परम्परा और पर्वों की धारा भी इसी प्रकार अनेक रूढ़ियों, स्वार्थी धारणाओं, अंध-विश्वासों आदि से दूषित होती आई है, किन्तु विवेकशील विचारक उनका कूड़ा-कचरा छाँटकर उनको सुधारकर समाज के विकास व उल्लास सूचक रीति-रिवाजों से सत्प्रेरणा ग्रहण करते रहते हैं। पर्वों को सामूहिक विचार जागृति तथा सामुदायिक उल्लास के रूप में मनाने से समाज की नई पीढ़ी को भी अपनी संस्कृति का ज्ञान होता है और कर्त्तव्य की प्रेरणा मिलती है।

आज हमारे सामने कार्तिक मास के पाँच पर्वों की चर्चा चल रही है। यह भी एक संयोग कि इस मास में एक साथ लगातार पाँच दिन तक पाँच पर्व तिथियाँ जुड़ गई है।

इन पर्वों में जहाँ आमोद-प्रमोद, उल्लास का वातावरण रहा है, वहीं मानव की कुछ विशेष भावनाएँ, कल्पना, आकांक्षाएँ, इच्छाएँ भी जुड़ी हैं। सुख व आरोग्य की कामना, वैभव-प्राप्ति की अभिलाषा और उसके साथ पारिवारिक, सामाजिक वातावरण में स्वच्छता, सुन्दरता, नयापन और अभिनव आकर्षण पैदा करने की स्वाभाविक उत्कंठा भी झलक रही है; इसलिए तो मैं मानता हूँ पर्व के रूप में मानव मन की अनेक गुप्त-सुप्त इच्छाएँ, आकांक्षाएँ, अपेक्षाएँ अभिव्यक्त होती हैं। जिन भावों को वह वाणी द्वारा व्यक्त नहीं कर पाता, उनको प्रकट कर देती है उसकी गतिविधि, तैयारियाँ और उसकी साज-सज्जा।

कार्तिक वदि तेरस से अमावस (दीपावली) तक निरन्तर तीन विशेष पर्व मनाये जाते हैं, उसी प्रकार कार्तिक शुक्ल प्रतिपदा तथा द्वितीया को भी विशेष प्रकार के कुछ उत्सव व समारोह आयोजित होते हैं। इन पर्वों को मैं पंचपर्व कहता हूँ। मानव जीवन के साथ तथा समाज एवं राष्ट्रीय धारा के साथ इनके सम्बन्ध व प्रभाव पर विचार करना है। सर्वप्रथम आज धन-तेरस के प्रसंग पर चर्चा करूँगा।

धन-तेरस का अर्थ

यों तो प्रत्येक पक्ष में तीज और तेरस का दिन शुभ माना जाता है। कहावत है—बिन पूछा मुहुरत भला, या तेरस या तीज। किन्तु कार्तिक मास

के कृष्ण पक्ष की तेरस बड़ी शुभ और लाभकारी मानी जाती है। पता नहीं इसे धन-तेरस नाम देने के पीछे क्या कल्पना रही होगी। मेरे विचार में इसका सम्बन्ध दीपावली पर लक्ष्मी पूजन करने से पूर्व धन देवता की पूजा-अर्चना करके उसे प्रसन्न करने से हो सकता है।

भारत में हिन्दू समाज में कार्तिक कृष्ण तेरस को सूर्यास्त के पश्चात् लक्ष्मी पूजन होता है और घर के द्वार पर यम का एक दिया जलाया जाता है। पुराणों की मान्यता ऐसी है कि पितृपक्ष में पितृगण अपने परिवारजनों को देखने के लिए अदृश्य रूप में भूलोक में आते हैं। वे सबको देखकर इस दिन वापस अपने पितृलोक को लौट जाते हैं। इसलिए इस दिन एक दीया जलाकर पितृगण को विदा दी जाती है। यह एक रूढ़ लोकमान्यता है।

लेखा-जोखा : धन का और मन का

व्यापारी इस दिन धन प्रदात्री लक्ष्मी की पूजा का उत्सव प्रारम्भ करते हैं, नये-पुराने कर्ज व लेन-देन का लेखा-जोखा तैयार करते हैं। पुराना कर्जा बराबर करने का प्रयास भी करते हैं ताकि दीपावली के पहले सभी पुराने खाते बराबर हो जायें और दीपावली से नया खाता चालू हो।

लोग इस दिन नई वस्तु, वस्त्र, धातु के बर्तन आदि खरीदते हैं। इस प्रकार धन-तेरस का एक महत्त्व है धन की प्राप्ति के लिए सावधान होकर कार्य करना। हिसाब-किताब बराबर करने का अर्थ है–अतीत का अवलोकन करना। अतीत यानी बीता हुआ कल, हमारी कार्यशैली की सच्ची तस्वीर है। हमने किसके साथ कैसा व्यवहार किया, किसको दिया, किससे लिया इन सब का लेखा-जोखा करके तलपट मिलाया जाता है कि इस वर्ष हम नफे में रहे या घाटा खाया? व्यापारिक दृष्टि से तथा अर्थशास्त्र के नियमानुसार यह आय-व्यय विवरण बनाना व्यापार की रीढ़ है। नीतिवाक्यामृत में आचार्य श्री सोमदेवसूरि लिखते हैं–"**आयमनालोच्य व्ययमानो वैश्रवणोऽपि श्रमणायते।**"–यदि कोई आय का विचार किये बिना ही केवल व्यय करता चला जायेगा तो एक दिन ऐसा आयेगा कि धन के देवता वैश्रवण को भी श्रमण (भिखारी) बन जाना पड़ेगा।

संत तुलसीदास जी ने कहा है–

"तुलसी सो समरथ सुमति, सुकृति साधु सुजान।
जो विचारि व्यवहरत जगत्, खरच लाभ अनुमान॥"

–वही गृहस्थ चतुर और भाग्यशाली माना जाता है जो अपने लाभ अर्थात् आय को देखकर खर्च करता है, वह कभी पछताता नहीं, कहीं लज्जित नहीं होता। आय-व्यय का हिसाब सामने आने से मितव्ययिता भी आती है।

आज उपभोक्तावादी संस्कृति ने यह परम्परा भी तोड़ दी है। आज का भोगवादी मानव तो कहता है–अपने पास पैसा नहीं है तो उधार लो, किश्तों पर लो। कार, टी. वी., घर, फर्नीचर सभी कुछ किश्तों पर लेते रहो। कमाते जाओ, चुकाते जाओ, खर्च करते जाओ। परन्तु इस संस्कृति का परिणाम बड़ा भयंकर आता है। जब आय के स्रोत सूख जायेंगे, कमाई कम हो जायेगी तब किश्तें चुकाना भी भारी पड़ेगा और फिर नौबत ऐंसी आ जायेगी कि एक दिन लोग घर से फर्नीचर, टी. वी., कार उठाकर ले जायेंगे। किश्तों के मकान से भी निकलने का नोटिस दे देंगे। सामान सड़कों पर फिंकवा दिया जायेगा।

इन बुरे हालातों से बचने के लिए भारतीय नीतिकारों ने पहले से ही सावधान कर दिया है कि खर्चा उतना ही करो, जितनी आय हो। बल्कि आय के चार भाग करके एक भाग खर्च करो, एक भाग भविष्य के लिए सुरक्षित रखो, एक भाग शुभ कर्म में खर्च करो और एक भाग अपनी संतान एवं अतिथियों के लिए व्यय करो। भारतीय अर्थशास्त्र की यही कुशल नीति है।

इस प्रकार धन-तेरस के दिन आप अपनी आय-व्यय की समीक्षा करें तो इससे आपके कार्य की कुशलता, सम्पर्कों की उचित-अनुचितता की समीक्षा हो जाती है। आप अपने उत्तरदायित्व में कितने जागरूक व प्रामाणिक हैं इसका भी पता चलता है।

धन-तेरस की यह प्रक्रिया यदि आप अपने जीवन में भी लागू कर लेवें, सप्ताह, पक्ष या मास में एक बार अथवा वर्ष में एक बार जीवन की समीक्षा भी करें। अपनी जीवन-शैली पर दृष्टिपात करें कि आपका यह वर्ष, आपके जीवन की उन्नति, विकास, सद्‌गुणों के विस्तार व व्यक्तित्व को सँवारने–निखारने की दृष्टि से घाटे का रहा या मुनाफे का? आपने जीवन-साधना की दृष्टि से प्रगति की या अवनति? मैं समझता हूँ धन-तेरस का दिन आपके भौतिक धन की अभिवृद्धि की तरह आत्मिक धन की वृद्धि में सहायक बनेगा। आप अन्तर्मुखी बनेंगे और जीवन का परिष्कार होता रहेगा।

यम का एक दीया जैसे द्वार पर जलाया जाता है, उसी प्रकार दुर्गुणों की विदाई के लिए संकल्प का एक दीया मन में भी जलायें कि मैंने इस वर्ष जो-जो भूलें की हैं, जो-जो असद्प्रवृत्तियाँ की हैं आज मैं उनको विदाई देता हूँ और दीप जलाकर भीतर में सद्‌गुणों की ज्योति का आलोक प्राप्त करता हूँ।

नया संकल्प भी लीजिये

धन-तेरस के दिन नये वस्त्र, नये बर्तन, चाँदी के सिक्के आदि खरीदने की तरह जीवन के लिए कुछ नये उदात्त संकल्प भी ग्रहण कर लीजिए। इस वर्ष क्या विशेष काम करना है, किस शुभ काम में अपनी लक्ष्मी का कितना नियोजन करना है, इसकी एक कल्पना भी मन में लायेंगे तो धन-तेरस आत्मिक धन व पुण्य लक्ष्मी कमाने में आपकी सहायता करेगी।

महाभारत में धन कमाने के आठ साधन बताये हैं—शान्ति, दक्षता, मनोनिग्रह, बुद्धिमत्ता, विचारशीलता, धैर्य, शौर्य और स्थान व काल-विषयक सावधानता।

धन का लेखा-जोखा बनाते समय इन बातों को भी अपनी चौपड़ी में, डायरी में कहीं जरूर नोट कर लें कि आपके धन कमाने में झूठ, चालाकी, छल व शोषण आदि सहायक नहीं होते, धन-सम्पत्ति कमाने के सच्चे साधन तो ये ही गुण हैं।

धन कमाने की कुशल नीति

व्यापार का अर्थ है विशेष दक्षता के साथ लेना-देना। जिससे आप कमाते हैं, उसके साथ नीति, सहानुभूति और मानवीय सद्‌व्यवहार को मुख्यता दें। प्राचीन नीतिकारों का कहना है—जैसे ग्वाला गाय को दुहता है, गाय से दूध प्राप्त करता है तो उसे चारा-पानी भी समय-समय पर खिलाता है। पहले गाय का पोषण करता है फिर उसका दोहन करता है। अगर पोषण किये बिना दोहन करते रहे तो फिर वह दोहन शोषण बन जायेगा और एक दिन दूध देने वाली गाय मर जायेगी।

विदुर नीति में कहा है—

"यथा मधु समादत्ते रक्षन् पुष्पाणि षट्पदः।
तद्वदर्थान् मनुष्येभ्यः आदद्याद् अविहिंसया॥"

—विदुर नीति

जैसे भँवरा फूलों से रस लेता है, किन्तु फूलों को कोई तकलीफ नहीं देता। फूलों की रक्षा करता हुआ उनसे रस ग्रहण करता है। व्यापारी को भी यही नीति अपनानी चाहिए। जिन श्रमिकों से, जिन कारीगरों से, जिन सहयोगियों व जिन ग्राहकों से आप धन कमा रहे हैं, भले कमाएँ। परन्तु भँवरों की तरह उनका भी ध्यान रखकर। कहीं आपके रसास्वाद में यह नहीं हो कि सारा रस आप ही चूस लें, आपके ग्राहक, सहयोगी या दूध देने वाली गाय की हड्डी-पसली निकल आये। भगवान महावीर कहते हैं–"**महुगार समा बुद्धा।**"–बुद्धिमानों का व्यवहार मधुकर यानी भँवरे के समान होता है, जो थोड़ा-थोड़ा लेकर किसी को कष्ट नहीं पहुँचाता। व्यापार की कुशल नीति भी यही है–**पोषणपूर्वक दोहन।** किन्तु आज व्यापारी, उद्योगपति पोषण की नीति भूल गया है, केवल शोषण करने लगा है। व्यापारी यदि खून चूसने वाला बन गया तो उस व्यापारी में और कसाई में फर्क क्या रहेगा? व्यापारी समाज आज बदनाम हो रहा है, गरीब लोगों की आँखों में काँटे की तरह खटक रहा है, इसमें कुछ गलती व्यापारियों की भी है, क्योंकि वे पोषणपूर्वक फूलों से रस लेने वाले भँवरे नहीं रहे, किन्तु कुल्हाड़ी मारकर पूरा वृक्ष उखाड़ लेने वाले लकड़हारे बन गये।

बनिया का अर्थ है बनकर चले, बनाकर चले। **खुद बने तथा दूसरों को भी बनाये रखे। दूसरों को जिलाकर जीयेंगे, दूसरों को खिलाकर खायेंगे तो आपकी व्यापार नीति सदा फलती-फूलती रहेगी।**

श्रीमद् राजचन्द्र जी का उदाहरण हमारे सामने है–वे रत्नों का व्यापार करने वाले प्रसिद्ध जौहरी थे। एक व्यापारी के साथ हीरों का सौदा हुआ। उन्हें उससे काफी बड़ी मात्रा में हीरे लेने का करार किया। संयोगवश बाजार में एकदम तेजी आ गई। करार के अनुसार माल लेने में राजचन्द्र जी को लाखों का लाभ हो रहा था, सामने वाले को घाटा। एक दिन वह व्यापारी राजचन्द्र जी के पास आया। उसका उदास चेहरा, सुस्त बोली देखकर राजचन्द्र भाई समझ गये–सौदे में इसे भारी घाटा हो रहा है इसीलिए यह चिंतित है। उसके बोलने से पहले ही राजचन्द्र भाई ने कहा–"भाई, आप किसलिए आये हो, क्या कहना चाहते हो? यह मैं समझ गया।"

उस व्यापारी ने कहा–"मैं सौदे से इन्कार नहीं करता हूँ, किन्तु इस तेजी के माहौल में कुछ दिन का समय मुझे दो, मैं किसी भी तरह अपना माल बेचकर आपके सौदे का माल सप्लाई कर दूँगा।"

राजचन्द्र भाई हँसे, अपनी जेब से वह सौदे का करारनामा निकाला और उसी के सामने फाड़ दिया। वह बोला–"यह क्या कर रहे हो आप?"

राजचन्द्र भाई ने कहा–"मैं जैन श्रावक हूँ, व्यापारी हूँ, कसाई नहीं। किसी का खून नहीं पी सकता।"

आज धन-तेरस के दिन इस घटना पर विचार करें–राजचन्द्र भाई की जगह यदि आप होते तो क्या करते? आप भी व्यापारी हैं, जैन कुल में जन्मे हैं, शास्त्र सुनते हैं, सामायिक प्रतिक्रमण भी करते हैं, दान देते हैं, शुभ कार्य करते हैं, परन्तु व्यापार की नीति और प्रामाणिकता भी रखते हैं या नहीं? किसी का खून तो नहीं चूसते? कवि की यह व्यंग्य उक्ति आप पर लागू नहीं होनी चाहिए–

"बाण्या थांरी बाण, कोई नर जाणे नहीं।
पाणी पीवे छाण, लोही अणछाण्यो पिवै॥"

–आप धन कमाते हैं, लक्ष्मी कमाते हैं परन्तु नीति एवं न्यायपूर्वक यदि कमायेंगे तो वह धन, लक्ष्मी आपको सुख-चैन दे सकेंगी। अन्याय, अनीति से कमाया हुआ पैसा दुःख भी देगा, सन्तान को दुर्बुद्धि देगा और कुल का नाश भी करेगा।

लक्ष्मी को माता नहीं, दासी मानें

आज व्यापारी लक्ष्मी की पूजा करते हैं तो कहते हैं–"लक्ष्मी माता ! हमें यह वरदान दो, हम पर कृपा करो।" वे यह नहीं जानते कि माता का क्या स्थान है। माता सदा पूजनीय होती है, उससे सेवा का काम नहीं लिया जाता। अगर आपने लक्ष्मी को माता के स्थान पर विराजित कर दिया तो वह शोभा की वस्तु तो बन गयी परन्तु आपको उससे क्या सुख मिला? आपने अपने जीवन में उसका कुछ भी उपयोग नहीं किया। प्रसिद्ध लेखक फ्रेंकमिन ने कहा है–"धन उसका नहीं जिसके पास है। धन उसका है जो उसका उपयोग करता है।"

जिसने धन से यश कमाया, सुख प्राप्त किया, वह भाग्यवान है।

जिसने धन कमाया, उसकी चिन्ता में घुला और छोड़कर मर गया, वह संसार में भाग्यहीन है।

इसलिए धन कमाया तो उसका अपने लिए, समाज व राष्ट्र के लिए उपयोग करो।

दान दो तो संसार में यश होगा, परलोक में सुख मिलेगा।

भोग करो तो संसार में सुख भोगोगे। यदि दोनों नहीं किया तो धन छोड़कर एक दिन चले जाओगे–लोग कहेंगे बेवकूफ ! कंजूस ! चला गाया।

आज धन-तेरस के दिन मैं आपको यही सन्देश देना चाहता हूँ कि धन के पीछे मत दौड़ो, छाया को पकड़ने के लिए पागलों की तरह मत भटको, किन्तु धन से मुँह मोड़कर खड़े हो जाओ, धन स्वयं आपके पास आयेगा।

अमृत बाँटो : धन्वन्तरी बनकर

धन-तेरस के दिन आयुर्वेद के प्रवर्त्तक धन्वन्तरी का प्रादुर्भाव होने की पौराणिक कथा भी प्रसिद्ध है। इसलिए आज आयुर्वेद जगत् में स्थान-स्थान पर धन्वन्तरी जयन्ती भी मनाई जाती है। पौराणिक कथा के अनुसार जब देव-दानवों ने सुमेरु पर्वत की मंथान और शेषनाग की रस्सी बनाकर समुद्र का मंथन किया तो उससे चौदह रत्न प्रगट हुए। एक प्राचीन श्लोक में बताया है–

"लक्ष्मी-कौस्तुभ-पारिजातक-सुरा-धन्वन्तरिश्चन्द्रमा,
गावः-कामदुधा-सुरेश्वर गज-रम्भादि देवाङ्गना।
अश्वः सप्तमुखः सुधा-हरिधनः शंखो विषं-चाम्बुधेः,
रत्नानीति चतुर्दशः प्रतिदिनं कुर्युः सदा मंगलम्॥"

–लक्ष्मी, कौस्तुभ मणि, कल्पवृक्ष, मदिरा, धन्वन्तरि वैद्य, चन्द्रमा, कामधेनु गाय, ऐरावत हाथी, रम्भा आदि अप्सराएँ, सात मुँह वाला उच्चैश्रवा घोड़ा, अमृत, धनुष (विष्णु का), शंख और विष यह १४ रत्न समुद्र-मंथन से प्राप्त हुए।

इस पौराणिक वर्णन के अनुसार धन्वन्तरी हाथ में अमृत-कलश लिए समुद्र से प्रगट हुए। जिस-जिस स्थान पर वह अमृत-कलश रखा गया या उसका अमृत गिरा उस-उस स्थान पर आज भी कुंभ का मेला लगता है यह एक पौराणिक मान्यता है।

धन्वन्तरी एक प्रतीक है। मनुष्य अपने संसार के लिए शुभ भावनाओं का अमृत-कलश लेकर इस धरती पर अवतरित हुआ है। दूसरों के लिए सदिच्छा और मंगल कामना रूप अमृत बाँटें। जीवन में सदा ही शुभ कर्म करें, जितना हो सके दूसरों का उपकार करें। यही अमृत बाँटना है।

एक कवि ने कहा है–

"लगा सको तो बाग लगाओ, आग लगाना मत सीखो।
पिला सको तो सुधा पिलाओ, जहर पिलाना मत सीखो॥"

मनुष्य के भीतर जो मानवीय गुण हैं, वे ही वास्तव में अमृत हैं। अमृत का स्वभाव है मधुरता तथा रोगनाशक शक्ति। अमृत एक प्रकार का मधुर रस है, जीवनदायी पेय है। जो पीता है, उसे इतनी तृप्ति अनुभव होती है कि उसकी भूख-प्यास तो मिटती ही है, शरीर के रोग भी शान्त हो जाते हैं। कहा जाता है–असुर राहु ने देवताओं के बीच छुपकर अमृत-पान कर लिया था। उसे अमृत पीते हुए सूर्य-चन्द्र ने देख लिया तो उन्होंने तुरन्त विष्णु से शिकायत कर दी।–"महाराज, दोनों बड़े असुर छुपकर अमृत पी रहे हैं।" विष्णु को क्रोध आया कि "चोरी-छुपे देवताओं की पंक्ति में बैठकर अमृत क्यों पिया?" विष्णु ने चक्र से उसका मस्तक काट दिया। किन्तु अमृत पीने के कारण मस्तक कटने पर भी वह मरा नहीं, उसका मस्तक राहु और धड़ केतु हो गया। शिकायत करने के कारण सूर्य-चन्द्र से वैर बँध गया। इसी कारण वह सूर्य-चन्द्र को ग्रसता रहता है।

मानव जीवन में मैत्री, प्रेम, क्षमा, भक्ति, करुणा, वत्सलता आदि गुणों को अमृततुल्य माना गया है। इन गुणों के कारण मनुष्य की अनेक क्रूर वृत्तियाँ, भोगतृष्णा आदि शान्त हो जाती हैं। उसके जीवन में बाहरी वस्तु कुछ भी नहीं मिले तब भी परम तृप्ति और परम स्वस्थता बनी रहती है। वह स्वयं भी सदा सन्तुष्ट और सुखी रहता है। ऐसा गुणी व्यक्ति संसार में जीवित रहे तो सुखी और यशोभागी होता है, मरकर भी वह अपने गुणों के कारण अमर हो जाता है। राम, कृष्ण, महावीर, गौतम बुद्ध, इन्द्रभूति गौतम, वाल्मीकि, तुलसी, मीरा, गाँधी और मदर टेरेसा आदि आज भी जन-जन की वाणी पर बसे हैं, वे मरकर भी अमर हैं इन्हीं गुणों के कारण। धन्वन्तरी जयन्ती के दिन आज सद्गुणों का अमृत-पान करने और दूसरों में भी इन सद्गुणों का अमृत बाँटने की प्रेरणा लेनी है।

इस प्रकार धन-तेरस के दो प्रतीक अर्थ आपके लिए प्रेरणा के दीपक जला रहे हैं–पहला धन कमाने में सदा नीति और प्रामाणिकता बरतो।

दूसरा–सद्गुणों का अमृत स्वयं पीओ और दूसरों को भी पिलाओ।

● ●

पंचपर्व : बहुरंगी प्रेरणा के स्त्रोत

कार्तिक महीना पर्वों की हलचल/उमंग-उल्लास और दीपों के उजाले का महीना है। पर्व संस्कृति की आत्मा होती है। किन्तु हमने पर्वों के भावार्थ और प्रतीकार्थ को भुलाकर केवल उनके बाह्य रूप को पकड़ लिया है। वास्तव में आज पर्वों के पारदर्शी स्वरूप पर चिन्तन-मनन की अपेक्षा है और उन पर्वों के रूप में अभिव्यक्त होती सांस्कृतिक व आध्यात्मिक चेतना का स्वरूप पहचानने की आवश्यकता है। आइए, हम पर्वों के पर्वों (संधियों) में बसी प्रेरणाओं का दर्शन करें।

छह ऋतुओं में शरद ऋतु और बसन्त ऋतु स्वास्थ्य/आरोग्य, मनोरंजन एवं आराधना/उपासना की दृष्टि से अतीव महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। बसन्त ऋतु के चैत्र मास व शरद ऋतु के आश्विन मास में नवरात्रि तथा नवपद ओलीतप आराधना का महत्त्वपूर्ण पर्व आता है, तो शरद ऋतु के दूसरे कार्तिक मास में दीपावली जैसे ज्योति पर्व की जगमगाहट होती है। दीपावली का भारतीय संस्कृति में अत्यधिक महत्त्व है। यह स्वच्छता और प्रकाश का पर्व है, तो साथ ही लक्ष्मी-पूजा का सम्बन्ध भी जुड़ जाने से बड़े-छोटे सभी के लिए दिलचस्पी व आकर्षण का केन्द्र भी है। क्योंकि लक्ष्मी की पूजा संसार में सर्वत्र होती है। हर कोई लक्ष्मीपति बनना चाहता है और इसलिए लक्ष्मी की पूजा, उपासना कर उसे प्रसन्न करने में कोई पीछे नहीं रहता।

पंचपर्वी

कार्तिक मास की धन-तेरस से कार्तिक सुदी २ तक के पाँच दिन पंचपर्वी के नाम से प्रसिद्ध हैं। प्रत्येक दिन एक-एक पर्व लगातार आने से यह पंचपर्वी कही जाती है। हम इस पंचपर्वी के धार्मिक, सांस्कृतिक तथा सामाजिक पक्ष पर संक्षेप में चिन्तन करेंगे। चूँकि विस्तार में जाने पर तो पाँच पर्वों के पाँच प्रसंगों और प्रेरणाओं पर पूरी एक पुस्तक भी तैयार हो सकती है, किन्तु आज भागमभाग के जमाने में सभी के पास समय की कमी है। आपके पास भी और मेरे पास भी। अतः संक्षेप में ही बिन्दु में सिन्धु की दृष्टि से इस पर विचार करेंगे।

१

धन-तेरस : परोपकार का संकल्प

भारतीय पुराणों में धन-तेरस के पीछे आयुर्वेद के प्राण-प्रतिष्ठापक धन्वन्तरि के प्रादुर्भाव की कथा जुड़ी हुई है। महाभारत और पुराणों के अनुसार यह माना जाता है कि देव-दानवों ने मिलकर जब समुद्र-मंथन किया तो उसमें चौदह दुर्लभ रत्न प्राप्त हुए। उसी समुद्र-मंथन में धन्वन्तरि हाथ में अमृत-कलश लिए प्रकट हुए। धन्वन्तरि चिकित्सा विज्ञान के आदि पुरुष माने जाते हैं। धन्वन्तरि शब्द का अर्थ है–शल्यशास्त्र में पारंगत पुरुष। किन्तु सुश्रुत संहिता के अनुसार आयुर्वेद के आठों अंगों का निपुण वैद्य धन्वन्तरि कहा जाता है। कुछ पुराणों के अनुसार काशी का राजा दिवोदास धन्वन्तरि नाम से प्रसिद्ध हुआ जो आयुर्वेद का महान् विद्वान् था।

धन्वन्तरि देवताओं के चिकित्सक–आज की भाषा में फेमिली डॉक्टर माने जाते हैं।

महाभारत आदि पुराणों के अनुसार कार्तिक वदी १३ के दिन धन्वतरि प्रकट हुए इसलिए यह धन-तेरस धन्वन्तरि के जन्म-दिन के रूप में मनायी जाती है। धन्वन्तरि के हाथ में अमृत-कलश यह सूचित करता है कि संसार में रोग के विषाणुओं का नाश करने के लिए उसने औषधि रूप अमृत प्रदान किया। समस्त संसार को आधि-व्याधि, रोग आदि से मुक्त करके मानव को सुखी और स्वस्थ बनाना ही धन्वन्तरि का लक्ष्य है। भगवान ने प्रसन्न होकर जब धन्वन्तरि से कहा–"तुम जो चाहो सो वर माँगो।" तो उसने भगवान से एक ही प्रार्थना की–

"न त्वहं कामये राज्यं, न स्वर्गं नाऽपुनर्भवम्।
कामये दुःख क्लृप्तानां, प्राणिनामर्तिनाशनम्॥"

–प्रभो, न तो मुझे राज्य चाहिए, न स्वर्ग। मुझे मोक्ष की भी कामना नहीं है। मेरी एक ही कामना व हार्दिक इच्छा है कि संसार के दुःखी, रोगी और पीड़ितजनों की पीड़ा दूर करूँ।

रामायण में प्रसंग है कि जब रणभूमि में लक्ष्मण जी शक्ति-प्रहार से मूर्च्छित हो जाते हैं तब हनुमान जी सुषेण वैद्य को लंका से उठाकर लाते हैं

और उससे प्रार्थना करते हैं–"हे वैद्यराज, वीर लक्ष्मण की पीड़ा दूर करो, इनकी चिकित्सा करो।" सुषेण वैद्य कहता है–"तुमने मुझ पर विश्वास कैसे किया? मैं शत्रु पक्ष का वैद्य हूँ। मैं तुम्हारे रोगी का अहित भी कर सकता हूँ।" तब रामचन्द्र जी कहते हैं–"वैद्य का कोई शत्रु-मित्र नहीं होता, वैद्य का एक ही धर्म है, रोगी की पीड़ा दूर करना। रोगी और वैद्य के बीच सिर्फ एक ही रिश्ता है–विश्वास का। विश्वास के भरोसे रोगी वैद्यराज के हाथ में अपनी जीवन-डोर सौंप देता है और वैद्य पूरे मनोयोग से उसकी जीवन-रक्षा करने का प्रयास करता है।

जैन आगम उपासकदशांगसूत्र में भगवान महावीर का एक विशेषण आता है–महाभिषग्वर–महावैद्य। वैद्य प्राणियों के शरीर के रोगों की चिकित्सा कर उन्हें शान्ति पहुँचाता है, भगवान प्राणियों के आध्यात्मिक, मानसिक रोगों की चिकित्सा करते हैं, उनके जन्म-मरण, जरा-शोक की व्याधि दूर करने वाले महावैद्य हैं। वैद्य शब्द का अर्थ ही है–जो दूसरों की वेदना–पीड़ा को जानता हो, वह है वैद्य। दूसरों की पीड़ा नहीं समझने वाला अथवा दूसरों के दुःख-दर्द में भी जिसका दिल नहीं पसीजता हो, वह वैद्यराज नहीं। दूसरों की पीड़ा से बेपरवाह धन का लोभी वैद्य या डॉक्टर वैद्य नहीं, यमदूत होता है। ऐसे लोभी वैद्यों के लिए कवि कहता है–

"वैद्यराज ! नमस्तुभ्यं, यमराज सहोदरः।
यमस्तु हरति प्राणान्, वैद्यः प्राणान् धनानि च॥"

–हे यमराज के बंधु वैद्यराज, तुम्हें दूर से ही नमस्कार करता हूँ। तुम वैद्यराज नहीं, यमराज से भी बढ़-चढ़कर हो, क्योंकि यमराज तो सिर्फ प्राणी के प्राणों का ही हरण करता है, किन्तु तुम तो प्राण भी ले लेते हो और धन भी ले जाते हो।

वास्तव में वैद्य का आदर्श बहुत ऊँचा गुरु के समान माना गया है। क्योंकि उसके हाथ में मनुष्यों के प्राणों की रक्षा होती है। स्वार्थ, लोभ, पक्षपात, आलस्य और लापरवाही ये पाँच महादोष हैं। जिस वैद्य में ये दोष होते हैं वह वैद्य के आदर्श धर्म का पालन नहीं कर सकता।

आज धन-तेरस धन्वन्तरि का जन्म-दिन हमें इस आदर्श की प्रेरणा देता है कि संसार में आये हो तो प्रेम का, सेवा का अमृत बाँटो, दूसरों के दुःख-दर्द–पीड़ा दूर करो। दूसरों की सेवा करना ही तुम्हारा धर्म है। सब जीवों की सुख-शान्ति चाहना ही तुम्हारी अन्तर् इच्छा हो। इन आदर्शों पर

चिन्तन करो और अपने जीवन को इन आदर्शों पर चलाने का संकल्प करो–यह आज धन-तेरस की प्रेरणा है।

धन-तेरस का अर्थ–धन की वर्षा से नहीं है। लोग आज के दिन चाँदी व ताँबे-स्टील के बर्तन खरीदकर धन-तेरस मनाते हैं, किन्तु असली धन-तेरस है–दुःखियों के दुःख-दर्द दूर करने का संकल्प लेना। संस्कृत में इसका अर्थ होता है–धन + ते + रसः–तुम्हारा रस यानी प्राण, मनोभाव धन्य हो जाये, दूसरों की सेवा करके तुम्हारा जीवन-रस कृतार्थ हो जाये तो समझो आज धन-तेरस हो गई। यदि आज के दिन आपने एक भी दुःखी प्राणी का दुःख-दर्द मिटा दिया। किसी अस्पताल में जाकर रोगियों की सार-सँभाल ले ली, उन्हें सान्त्वना दी और उनको कुछ सुख-शान्ति पहुँचाई तो समझ लो आपकी धन-तेरस वास्तव में धन्य तेरस हो गई। अन्यथा धन की पूजा करके चाहे तेरस मनाओ या चौदस, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता।

दीपावली के पंचपर्वों की आदि में पहला धन-तेरस का पर्व आपको जीवन में परहित एवं परोपकार की प्रेरणा देता है। निःस्वार्थ और निरपेक्ष भाव से जितना बन सके दूसरों की सेवा-सहायता का संकल्प करना और उसके लिए अपनी धन-सम्पत्ति का सदुपयोग करना–यह लक्ष्मी के आमन्त्रण की पूर्व भूमिका है, बैकग्राउण्ड है। जो परोपकार करेगा लक्ष्मी स्वयं उसके द्वार पर आकर दस्तक देगी।

● ●

२

नरक चतुर्दशी : बाहर-भीतर स्वच्छ बनो !

धन-तेरस के पश्चात् आने वाली काली चौदस को भारतीय संस्कृति में **नरक चतुर्दशी** कहा गया है। पुराणों के अनुसार नरकासुर नाम का राक्षस प्राणियों को कष्ट देता था। स्थान-स्थान पर गन्दगी, अशुचि फैला देता, ऋषियों के यज्ञ-स्थलों को अपवित्र कर देता। स्वर्ग में जाकर उसने देवताओं को भी परेशान किया। देवमाता अदिति के कुण्डल छीनकर ले गया। उसके उत्पातों से मनुष्य देव सभी परेशान हो गये। सबने मिलकर भगवान विष्णु के अवतार श्रीकृष्ण से प्रार्थना की–"हे वासुदेव ! त्राहि माम् ! इस नरकासुर से हमारी रक्षा करो, इस अपवित्र और अशुचिमय राक्षस के दुष्ट हाथों से हमारा त्राण करो। इस दुष्ट के उपद्रवों से हमारी रक्षा करो।" तब श्रीकृष्ण ने नरकासुर का वध किया और उसके द्वारा फैलाई हुई गन्दगी हड्डियाँ व माँस के ढेर को साफ करके भूमि को स्वच्छ किया गया। चारों तरफ सफाई अभियान चलाकर धरती को साफ-सुथरी मनुष्यों के रहने योग्य बनाया। उस दिन की स्मृति में इस तिथि का नरक चतुर्दशी नाम प्रचलित है।

विद्वान् लोग मानते हैं कि पौराणिक कथाएँ प्रतीकात्मक होती हैं, उनका सामाजिक, राष्ट्रीय एवं आध्यात्मिक प्रतीक होता है और उस प्रतीक को सूचित करने के लिए, एक विशेष लक्ष्य को उद्घाटित करने के लिए धार्मिक एवं पौराणिक रंग में रंग दी जाती है, ताकि लोक नीरस बात को सरसता के साथ समझ सकें, आध्यात्मिक एवं सामाजिक कृत्य को धर्म के रूप में स्वीकार कर सकें।

चातुर्मास के प्रारम्भ के दो मास वर्षा ऋतु के होते हैं, वर्षा के कारण गाँव, नगर, गली, सड़क, राजमार्ग चारों तरफ गंदगी, कीचड़, सीलन आदि की भरमार होती है। उस कारण डाँस, मच्छर आदि अनेक प्रकार के जहरीले कीट-पतंग पैदा हो जाते हैं। जगह-जगह पानी सड़ता है, कूड़ा सड़ाँध पैदा करता है और उस पर तरह-तरह के जहरीले मच्छर, कीड़े अण्डे देते हैं। बीमारियाँ फैलाते हैं। डेंगू बुखार का प्रकोप आप सब देख चुके हैं। इस प्रकार की संक्रामक बीमारियाँ वर्षा ऋतु के बाद फैलती हैं, गाँवों-शहरों का वातावरण एकदम नरक जैसा गंदा हो जाता है। उस नारकीय गंदगी को दूर कर सफाई–स्वच्छता करने के लिए नरकासुर को

मारना पड़ेगा अर्थात् गंदगी दूर करके स्वच्छता–सफाई करना ही नरकासुर का नाश करना है। नरक का अर्थ है–गन्दगी। सूत्रकृतांग चूर्णि में कहा है–

"न रमन्ति वा तस्मिन्निति नरकाः।"

–जहाँ प्राणी को सुख-चैन, आनन्द नहीं मिलता हो, उस स्थान को नरक कहते हैं।

आगमों में नरक का वर्णन करते हुए बताया है–"**निच्चंधकारतमसा।**" –जहाँ निरन्तर अंधकार रहता है। सूर्य-चन्द्र की किरणें नहीं पहुँचती हैं। "**चिक्खललित्ताणु लेवणतला।**"–जहाँ हर समय कीचड़ चिक्खल रहता है। भूमि में सड़ाँध-दुर्गन्ध आती हो और असुचिविसा–चारों तरफ गन्दगी के, अशुचि के ढेर लगे हों। जहाँ दुर्गन्ध उछल रही हो, जहाँ के वातावरण में क्षणभर भी ठहरने को मन नहीं होता हो, ऐसे अपवित्र स्थान को नरक कहा गया है।

आपके नगर, गली, भवन आदि जहाँ पर भी इस प्रकार की गन्दगी हो, वह स्थान वास्तव में नरक ही माना जाता है। मैं देखता हूँ लोग नहा-धोकर कपड़े साफ-सुथरे पहनते हैं, घरों पर सफेदी व कीमती रंग-रोगन करते हैं, किन्तु दूसरी तरफ उनके रसोईघरों के पास कूड़ेदान में मक्खी-मच्छर भिनभिनाते रहते हैं। नालियों पर कूड़े के ढेर लगे रहते हैं। जहाँ से निकलना भी मुश्किल होता है। यह कैसी सफाई है? सफाई में भी विवेक होना चाहिए। अपना घर, अपना मुहल्ला अगर साफ रखने की आदत बन जाये तो गन्दगी अपने आप दूर हो जायेगी।

भीतर की सफाई भी करो

यह तो हुई बाहरी सफाई की बात। केवल बाहरी सफाई करने से ही नरक चतुर्दशी की सार्थकता नहीं होती। बाहरी सफाई के साथ मन की सफाई, जीवन की सफाई भी जरूरी है।

"देखो बंदे का धन्धा, तन उजला मन गंदा।"

तो यह तो कोई सफाई नहीं हुई। मन में अपवित्र विचार भरे हों, दूसरों की निन्दा, चुगली, ईर्ष्या का कूड़ा पड़ा हो, काम-क्रोध की अशुचि सड़ रही हो तो मन पवित्र कैसे होगा? दीपावली को लक्ष्मी-पूजा करना है तो उसके लिए मन की सफाई करना भी जरूरी है। तेरस के पहले-पहले आपने घर, दुकान, मकान सब साफ-सुथरे कर लिये, लीप-पोत, झाड़-बुहारकर कचरा फेंक दिया, यह तो एक तरह की तैयारी हो गई। फिर तेरस आई, तो कुछ परोपकार का, सेवा का, दीन-दुःखियों के दुःख-दर्द दूर करने का संकल्प

किया, सेवा की तब धन-तेरस मन गई। अब विचारों की शुद्धि से, शुभ भावनाओं से, मन की पवित्रता से, चिन्तन-ध्यान-सद्भाव से मन को और माँजकर उज्ज्वल कर लिया तो नरक चतुर्दशी सार्थक हो गई। यह दोनों पर्व दीपावली की तैयारी के हैं। दीपावली कैसे मनानी है यह इसका साफ-साफ सन्देश इन दोनों पर्वों में बता दिया है।

नरक के कारण

नरक चतुर्दशी के प्रसंग में मैं एक आध्यात्मिक और नैतिक बात भी कहना चाहूँगा। नरक चतुर्दशी का एक सन्देश है–नरक के कारणों से बचने का चिन्तन। मन की गन्दगी, विचारों की अपवित्रता तो नरक का कारण क्या, प्रत्यक्ष नरक है। इसके अलावा शास्त्रों में नरक के अन्य अनेक कारण बताये हैं। स्थानांगसूत्र में बताया है–

"चउहिं ठाणेहिं जीवा, णेरइयत्ताए कम्मं पकरेंति।"

–चार बातों से प्राणी नरक जाने योग्य पापकर्म करता है। जैसे– महाआरम्भ, महापरिग्रह, पंचेन्द्रिय जीवों का वध और माँसाहार। इन चारों कारणों में गागर में सागर की तरह सब कुछ बता दिया है। हिंसा, धन की लालसा, तीव्र आसक्ति, माँसाहार–जिह्वा के स्वाद की लिप्सा, नृशंसता, कठोरता, क्रूरता, उद्योग-व्यापार में नीति और धर्म की उपेक्षा कर अप्रामाणिकता, अत्यन्त लोभ आदि सभी दुर्गुण इन चारों में आ गये हैं। इसलिए संक्षेप में चार बातों के द्वारा भगवान महावीर ने बता दिया है–जो व्यक्ति पीछे बताये दुर्गुणों से युक्त होगा, उसका यहाँ भी जीवन अशान्त होगा, उद्विग्न होगा और मरकर परलोक में भी नरक में जायेगा।

गीता के १६वें अध्याय में अर्जुन के एक प्रश्न के उत्तर में योगीश्वर श्रीकृष्ण बताते हैं–नरक में जाने के तीन रास्ते हैं–

"त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभ स्तमादेतत् त्रयं त्यजेत्॥"

–काम (मोह-वासना), क्रोध तथा लोभ (आसक्ति) ये तीन नरक जाने के मार्ग हैं। आत्मा का पतन कर ये तीनों उसे नरक में पहुँचा देते हैं।

'मैं' नरक में जाता है

एक बार स्वामी रामतीर्थ किसी सभा में प्रवचन कर रहे थे। एक तार्किक व्यक्ति ने पूछा–"स्वामी जी, यह बताइए नरक में कौन जाता है?" स्वामी जी ने गीता, महाभारत के उदाहरण देकर बताया–"अमुक कर्म करने वाला नरक में जाता है।"

तार्किक बोला–"यह सब तो पुरानी बातें हैं। हम नहीं मानते।"

स्वामी जी बोले–"यह प्रश्न कौन कर रहा है?"

वह व्यक्ति बोला–"मैं कर रहा हूँ।"

स्वामी जी बोले–"बस, यह मैं ही नरक में ले जाता है। जहाँ 'मैं' अर्थात् अहंकार है वहीं पतन है। पतन का मतलब है नरक। उत्थान का मतलब है स्वर्ग। तो यह तुम मानते हो न? अहंकार से पतन होता है। अहंकार 'मैं' यह अहंकार का दुत्कार है। इसलिए अहंकार भी नरक में जाने का कारण है।"

पंचतंत्र में कहा गया है–

"मित्रद्रोही कृतघ्नश्च यश्च विश्वासघातकः।
ते नरा नरकं यान्ति यावच्चन्द्र दिवाकरौ॥"

–मित्रद्रोही, कृतघ्न और विश्वासघात करने वाले नरक के मेहमान होते हैं।

आज नरक चतुर्दशी के दिन आप दोनों पक्षों पर विचार करें; बल्कि जीवन के समग्र पक्षों पर विचार करें, तन को, मन को, जीवन को, घर-परिवार को, समाज व राष्ट्र को नरक से बचाने का प्रयास करें। बाहरी गन्दगी से भी मुक्त हों।

एक बात ध्यान देवें–कुछ अज्ञान लोग आक्षेप करते हैं कि जैन-मुनि नहाते नहीं, इसलिए गन्दे रहते हैं। यह उनकी भ्रान्ति है। जैनधर्म कभी भी गंदगी व अशुद्धता को बर्दाश्त नहीं करता, जहाँ गंदगी पड़ी हो, अशुचि, रक्त आदि का दाग-धब्बा लग गया हो तो उसे साफ किये बिना शास्त्र-स्वाध्याय करना भी मना है। अशुचि में शास्त्र-स्वाध्याय का निषेध है। अस्वच्छता में जीवोत्पत्ति होती है, जीवोत्पत्ति से हिंसा होती है, रोग पैदा होते हैं। अस्वच्छता जैनधर्म के सिद्धान्तों के ही प्रतिकूल है। अतः जैनधर्म में सफाई, स्वच्छता, शुद्धता पर उतना ही ध्यान दिया गया है जितना जीवन के लिए अत्यन्त आवश्यक है। यह नहीं कि बार-बार मिट्टी से मल-मलकर नहाओ, गंगा में डुबकियाँ लगाओ या देश की जल-सम्पदा का दुरुपयोग कर व्यर्थ बहाओ और मन को मैला रख विचारों को अपवित्र रखो।

जैनधर्म में तन की स्वच्छता, घर की स्वच्छता, मन की स्वच्छता सबका सन्तुलित विचार है और इस समग्र स्वच्छता के विवेक का यह अवसर है। मन से नरक मिटाओ, विचार से नरक दूर करो और घर से भी नरक दूर करके चतुर्दशी की भावना के दूसरे आदर्श को सार्थक करो।

●●

३

जीवन को ज्योतित करो : दीपपर्व की सार्थकता

कार्तिक कृष्ण पक्ष की अमावस्या की सघन काली रात में ज्योति का झिलमिल प्रकाश करके दीपावली मनाने की यह परम्परा भारतीय संस्कृति के बहुमुखी चिन्तन को प्रकट करती है। समाजशास्त्रियों का मत है कि विजयादशमी खासकर क्षत्रियों का पर्व है। इस अवसर पर शासक वर्ग अपनी राज-व्यवस्था, राष्ट्र-व्यवस्था का निरीक्षण-परीक्षण कर उसके गुण-दोषों की समीक्षा करते थे और राज-व्यवस्था को हर दृष्टि से मजबूत व व्यवस्थित करने का प्रयास करते थे। विजयादशमी के बाद दीपावली आती है। यह वैश्यों का पर्व है। वैश्य–व्यापारी वर्ग राष्ट्र की आर्थिक धुरा का संचालक है। किसी भी राष्ट्र व समाज की सुदृढ़ता, सुस्थिरता और सम्पन्नता केवल सेना और शस्त्र-बल के आधार पर नहीं हो सकती। राष्ट्र की धुरी का अर्थ है–धन। धन से ही राष्ट्र की व्यवस्था चलती है। इसलिए राष्ट्र की आर्थिक प्रगति का लेखा-जोखा, निरीक्षण-परीक्षण कर नवीन योजनाएँ बनाने का अवसर मिलता है दीपावली के दिन। इसलिए समाजशास्त्र की दृष्टि से राष्ट्र की अर्थव्यवस्था को सुसंचालित करने वाला पर्व दीपावली है। अतः इसे राष्ट्र की सुख-समृद्धि का प्रतीक भी माना गया है।

लक्ष्मी और गणेश की जोड़ी क्यों ?

दीपावली को लक्ष्मी और गणेश की पूजा की जाती है। पौराणिक कथाओं के प्रकाश में देखें तो लक्ष्मी और गणेश के बीच कोई सम्बन्ध या रिश्ता नहीं है, फिर दोनों को एक ही केन्द्र पर एक साथ पूजने का अभिप्राय क्या हो सकता है? इस पर चिन्तन करना होगा। पुराणों में गणेश को बुद्धि का देवता माना गया है। विघ्न-विनाशक और मंगलकारक है गणेश, तो लक्ष्मी सम्पत्ति-समृद्धि की देवी है। कुबेर यक्ष को भी धन का देवता बताया गया है। फर्क यह है कि कुबेर केवल धन का रक्षक है, वह रखवाली करने वाला पहरेदार मात्र है, लक्ष्मी धन प्रदात्री देवी है। इसलिए कुबेर-पूजा का प्रचलन नहीं है, किंतु धन देने वाली लक्ष्मी जी की पूजा होती है और उसके साथ गणेश जी की पूजा की जाती है। इस बात पर विचार करने से लगता है–संसार में धनवान का नहीं, धन देने वाले दानी

का महत्त्व है और उससे भी अधिक महत्त्व है बुद्धि का, सद्बुद्धि का। समृद्धिवान, धनवान अनीति व दुर्बुद्धि से ग्रस्त हो सकता है। क्योंकि लक्ष्मी मोह उत्पन्न करने वाली है, मनुष्य के विवेक पर पर्दा डालती है। इसलिए लक्ष्मीवान होने के साथ ही बुद्धिमान् होना भी जरूरी है। धन के साथ विवेक जाग्रत रहना चाहिए। समृद्धि के साथ बुद्धि रहेगी तो वह सम्पत्ति समाज, धर्म और राष्ट्र के लिए कल्याणकारी हो सकती है। लगता है इसी दूर दृष्टि से विचार करके प्राचीन समाजशास्त्रियों ने हमारी समाज-व्यवस्था की रीति, नीति, त्यौहार, पर्व आदि का विधान करने वालों ने लक्ष्मी के साथ गणेश को महत्त्व दिया है। अर्थात् धन के साथ विवेक का बंधन किया है ताकि धन आपके लिए अहितकारी/विनाशकारी न होकर मंगलकारी हो।

गणेश-पूजा का प्रतीकार्थ समझो

दूसरी बात यह भी है कि लक्ष्मी जिस प्रकार पवित्रता चाहती है उसी प्रकार गणेश जी गंभीरता चाहते हैं। धनपति में यदि गंभीरता नहीं है, छिछोरापन है तो वह धनी समाज में आदर का प्रतीक नहीं हो सकता। इस बात का संकेत करने के लिए गणेश जी को लक्ष्मी जी के साथ बैठाया जाता है।

दीपावली पर घर-घर में लक्ष्मी-गणेश की पूजा होती है। यों भी गणेश जी को विघ्न-विनाशक मानकर प्रत्येक कार्य की आदि में पूजा की जाती है। इसका क्या रहस्य है? हाथी का सिर और अन्य प्रतीक स्वयं इन रहस्यों को व्याख्या दे रहे हैं।

लम्बोदर–गणेश जी का लम्बा और विशाल उदर यह सूचित करता है कि समाज का भला करने वाले नेता को दूसरों की सभी बातें सुनकर हजम कर लेनी चाहिए। नेता को दूसरों की गुप्त बातें व समाज की भलाई-बुराई सुनकर अपना हाजमा दुरुस्त रखना जरूरी है।

लम्बे कान–नेता को भली-बुरी सभी बातें सुननी पड़ती हैं। गणेश जी के लम्बे-लम्बे कान बताते हैं कि नेता कानों का भी पक्का होना चाहिए। कानों का कच्चा नेता बहुत खतरनाक होता है। इसलिए कान का पक्का होना नेता का दूसरा गुण है।

बड़ा सिर–गणेशजी के स्कन्ध पर हाथी का विशाल माथा है। बड़ा माथा–चिन्तनशीलता का प्रतीक है। साथ ही समाज की प्रत्येक चिन्ता,

जिम्मेदारी अपने माथे पर लेकर स्वयं ही पूरा करने का प्रतीक है हाथी का बड़ा माथा।

छोटी जीभ–अन्य जीवों की जीभ सदा बाहर की ओर लपलपाती रहती है, परन्तु हाथी की जीभ बड़ी विचित्र होती है, वह छोटी होती है और भीतर छुपी रहती है। नेता को अपनी जीभ हमेशा छोटी रखनी चाहिए। अर्थात् न तो अधिक बातें करनी चाहिए न ही अपनी प्रशंसा और दूसरों की निन्दा में जीभ हिलाना चाहिए। कहा जाता है, बड़ी जीभ घातक होती है। इसलिए हाथी हमें जिव्हा पर संयम रखने की प्रेरणा देता है।

चूहे की सवारी–गणेश जी का विशाल शरीर और चूहे की सवारी बड़ा कुतूहल पैदा करती है, परन्तु उनका यह वाहन सूचित करता है कि नेता में संयोजन का विचित्र गुण होता है, वह छोटे-बड़े सभी को अपने काम में जुटा कर कार्य-सिद्धि का साधन बना लेता है। चूहे जैसे क्षुद्र जीव का भी उचित उपयोग कर उससे कार्य सिद्ध करने की कुशलता नेता में होनी चाहिए।

इस प्रकार जिस नेता में गणेश जी के समान उदारता, गम्भीरता, सहिष्णुता, चिन्तनशीलता, वाणी-संयम और सभी के साथ मिल-जुलकर कार्य साधने की कला होती है वही गुणवान नेता गणेश की तरह लोक-पूज्य हो सकता है।

दीपावली की पृष्ठभूमि

दीपावली भारत का सांस्कृतिक पर्व है। इसका त्यौहार के रूप में प्रचलन कब हुआ यह कहना मुश्किल है। कुछ लोगों की मान्यता है कि राजा बलि ने देवताओं को बन्दी बनाया तब उनके साथ लक्ष्मी को भी बन्दी बना लिया था। तब विष्णु ने वामन रूप धारणकर देवताओं सहित लक्ष्मी को बलि के बन्दीगृह से आज ही के दिन मुक्त कराया। इस कारण इस दिन लक्ष्मी की पूजा प्रारम्भ हो गई।

कुछ विद्वानों का यह कथन है कि मर्यादा पुरुषोत्तम राम लंका-विजय करके सीता-लक्ष्मण सहित अयोध्या लौटे तो अयोध्यावासियों ने पूरे राज्य में विशाल उत्सव मनाया। घर-घर पर दीपक जलाये गये। इसलिए कार्तिक अमावस्या के दिन दीपमालिका करने की प्रथा चली। संत तुलसीदास जी ने गीतावली में भी इसका रोचक वर्णन किया है–

"सांझ समय रघुवीर पुरी की, शोभा आज बनी।
ललित-दीपमालिका विलोकहिं, हितकर अवधधनी॥"

जैन-परम्परा के अनुसार भगवान महावीर अपने जीवन के ७२वें वर्ष में पावापुरी में चातुर्मास बिताते हैं और अपना निर्वाण समय नजदीक आया देखकर कार्तिक वदी १४ से ही छठम तप करके उसी दिन से अन्तिम उपदेश प्रारम्भ करते हैं जो अमावस्या की रात्रि तक निरन्तर अविरल चलता रहा। हजारों देव, दानव, मानव उनके समवसरण में एकाग्रचित्त बैठे उपदेश रस का अमृत-पान कर रहे हैं कि १६ प्रहर की देशना देते ही अमावस्या की प्रथम रात्रि में भगवान मानव-देह त्यागकर मोक्ष को प्राप्त हो जाते हैं। भगवान का निर्वाण होते ही चारों तरफ शोक, उदासी, उद्विग्नता छा जाती है।

भगवान के इस अन्तिम समवसरण में अठारह गण राजाओं ने भी उपवास-पौषध करके धर्माराधना की थी। निर्वाण प्राप्त होते ही समूचे लोक में एकदम सघन अंधकार छा जाता है। चारों तरफ शोक-उदासी का वातावरण सबको भयाकुल-सा बना देता है। इस सघन अन्धकार को दूर करने के लिए देवता और मानवों ने मिलकर प्रकाश करने का निश्चय किया। देवताओं ने रत्न एवं मणि-दीपों से प्रकाश किया तो मानवों ने घर-घर माटी के दीये जलाकर उद्योत किया, अन्धकार भगाया। संकल्प किया–

"गते से भावुज्जोये दव्वुज्जोयं करिस्सामो।"

–भाव उद्योत चला गया, अध्यात्म जगत् का केवल सूर्य अस्त हो गया इसलिए अब दीप-पंक्तियाँ प्रज्वलित करके हम द्रव्य उद्योत करेंगे।

आचार्य श्री हेमचन्द्रसूरि आदि जैन इतिहासकारों का कथन है–उसी दिन से भारत में दीपमालिका पर्व का प्रारम्भ हुआ।

"ततस्तु लोकः प्रतिवर्षमादराद् प्रसिद्धं दीपावलिका भारते।"

राम-राज्याभिषेक उत्सव तथा भगवान महावीर निर्वाण की दोनों घटनाओं में समानता यही है कि जनता ने दीप जलाकर प्रकाश उत्सव मनाया। इससे यह भी सम्भव है कि राम युग में अमावस्या को दीपमालिका करने की एक घटना मात्र घटी हो। परन्तु शायद उसे उत्सव का रूप नहीं दिया गया हो और न ही प्रतिवर्ष कार्तिक अमावस्या को दीप जलाने की प्रथा चली हो, क्योंकि राम और महावीर के बीच समय में कहीं भी

दीपोत्सव पर्व मनाने की कोई सूचना प्राप्त नहीं होती है। वात्स्यायन कामसूत्र में इस रात्रि को यक्ष उत्सव मनाने का उल्लेख अवश्य मिलता है, किन्तु उसे दीप-पर्व या ज्योति-पर्व नहीं कह सकते। परन्तु जैन इतिहास इसका साक्षी है कि भगवान महावीर के निर्वाण दिवस पर इस स्मृति में प्रतिवर्ष कार्तिक अमावस्या को दीपमालिका मनाने की परम्परा थी, कब से चली इसके लिए आचार्य श्री हेमचन्द्रसूरि का उक्त कथन प्रमाण है।

दीपावली और लक्ष्मी-पूजन

भगवान महावीर का निर्वाण दिवस होने के कारण जैन-परम्परा में दीपावली को ज्योति-पर्व तो माना गया है, किन्तु इस दिन लक्ष्मी-गणेश पूजन की प्रथा क्यों चली; इसका कोई समाधानकारक उत्तर नहीं मिलता है। लगता है श्रमण संस्कृति के इस उत्सव को ब्राह्मण-परम्परा ने भी स्वीकार कर लिया और जैन इस दिन भगवान महावीर का ध्यान-पूजन गुण-स्मरण करते हो तो ब्राह्मणों ने इस दिन लक्ष्मी-गणेश पूजन की प्रथा चालू कर दी। इस प्रकार एक तरफ ज्ञान-लक्ष्मी की पूजा होने लगी तो दूसरी तरफ धन-लक्ष्मी पूजी जाने लगी।

मिट्टी के दीपक तो रातभर टिमटिमाकर थोड़ा-सा प्रकाश फैलाकर बुझ जाते हैं, किन्तु इस दिन की प्रेरणा प्राप्त करना, घट के भीतर चैतन्य दीपक जलाना है, विवेक, ज्ञान, बुद्धि का प्रकाश पुनः प्रज्वलित होता है। जिसका आलोक युग-युग तक मानवता को सन्मार्ग दिखाता रहेगा। अन्धकार में भटकने वाले लाखों लोगों के लिए प्रकाश-स्तम्भ बन जायेगा।

जैनधर्म में ज्ञान का सर्वाधिक महत्त्व है, किन्तु वह यह भी नहीं कहता कि ज्ञान के सिवाय अन्य कुछ नहीं चाहिए। जीवन जीने के लिए मनुष्य को धन की भी जरूरत होती है। जैन गृहस्थ के लिए यह नहीं कहा गया है कि वह धन नहीं कमाए। गरीब दीन-हीन-दरिद्र बना रहे। क्योंकि नीति की दृष्टि से दरिद्रता मनुष्य को पाप के लिए प्रेरित करती है। "**बुभुक्षितः किं न करोति पापं।**"—भूखा चोरी करेगा। झूठ बोलेगा, अन्याय, अनीति आदि पाप करेगा। इसलिए जैनधर्म में परिग्रह का त्याग जरूर बताया है किन्तु दरिद्रता को भी स्वीकार नहीं किया है और इसका मध्यम मार्ग बताया है धन-ऐश्वर्य वैभव के प्रति ममता का त्याग करो, मूर्च्छाभाव छोड़ दो। श्रावक के लिए इच्छा परिमाण व्रत है। कहा गया है—इच्छाओं पर नियंत्रण करो, धन की सीमा करो, अगर धन होगा ही नहीं तो कोई सीमा क्या करेगा। इच्छा

परिमाण किसका होगा। ''नास्ति ग्रामः कुतः सीमा?''–गाँव नहीं हो तो सीमा क्या होगी? इसलिए यह ध्यान देने की बात है कि जैनधर्म का आदर्श दरिद्रता नहीं है, किन्तु धन की दासता का त्याग करने का ही वह उपदेश देता है। धन के स्वामी बनो, धन की ममता के नीचे दबो मत, किन्तु उसका समाज, राष्ट्र व जीव मात्र के लिए सदुपयोग करो। दान, सेवा, पुण्य-कार्य करने के लिए धन का सदुपयोग करना–यह जैन आदर्श है। इसलिए जैनधर्म में लक्ष्मी को भी उतना ही महत्त्व दिया है जितना सरस्वती को।

लक्ष्मी हो, परन्तु पुण्यानुबंधी

आपको पता होना चाहिए तीर्थंकर भगवान की माता १४ स्वप्न देखती है, उसमें एक स्वप्न लक्ष्मी का भी है। एक स्वप्न में रत्न-मणियों का ढेर भी देखती है जो लक्ष्मी की सृष्टि है। तो लक्ष्मी से जैनों का कोई विरोध नहीं है। बल्कि आज तो लोग कहते हैं–जैनों पर लक्ष्मी की विशेष कृपा है। लक्ष्मी और सरस्वती, चक्रेश्वरी और पद्मावती ये सभी जैन संस्कृति की देवियाँ हैं। फिर दीपावली को लक्ष्मी-पूजन करें, सफाई, स्वच्छता, शुद्धता रखें, समाज में पारस्परिक प्रेम, बंधु भाव, स्वधर्मी-सहयोग भाव बढ़े, मिष्टान्न का आदान-प्रदान हो यह सब तो सामाजिक सौहार्द एवं राष्ट्रीय बंधु भाव की सांस्कृतिक धरोहर है–इसमें जैनधर्म का कहीं कोई विरोध नहीं है। किन्तु लक्ष्मी-पूजा के साथ आप जब गणेश जी की पूजा करते हैं तो यह जरूर ध्यान रखिए कि लक्ष्मी के उपभोग के लिए सद्बुद्धि की जरूरत है। धन कमाना एक अलग बात है। धन तो पापियों के पास भी आता है। ''सुत-दारा और लक्ष्मी पापी के भी होय।'' किन्तु पाप से कमाई हुई लक्ष्मी के साथ सद्बुद्धि नहीं, दुर्बुद्धि आती है। वह दुर्बुद्धि लक्ष्मी का तो नाश करती है, लक्ष्मीवान का भी नाश कर डालती है। जैसे कभी-कभी गाँव में, खेतों में बाढ़ का पानी घुस जाता है तो वह जब वापस जाता हो तो अपने साथ खेतों की उपजाऊ मिट्टी, खेतों में खड़ी फसल और घरों की संचित सम्पत्ति को भी बहा ले जाती है। इसी प्रकार पाप से, अनीति व भ्रष्टाचार से कमाई हुई लक्ष्मी जाती-जाती अपने साथ पहले की कमाई हुई सम्पत्ति और सुख-चैन को भी साथ ले जाती है। इसलिए लक्ष्मी के साथ सद्बुद्धि की जरूरत होती है। विवेक की आँख खुली रहनी चाहिए। शायद इसी दूर दृष्टि से भारतीय संस्कृति रक्षकों ने लक्ष्मी के साथ गणेश-पूजा का विधान किया है कि धन भले ही कमाओ, परन्तु विवेक की आँख खुली रखो। अंधे होकर धन के पीछे मत पड़ो वर्ना धन अनर्थकारी हो जायेगा।

हमारे आचार्यों ने बताया है—लक्ष्मी की तीन प्रकार की परिणति है—

(१) जो लक्ष्मी शुभ कर्म से, सदाचार, न्याय-नीतिपूर्वक आती है और न्याय-नीतिपूर्वक ही उसका भोग होता है यह पुण्यानुबंधी पुण्य फलदा लक्ष्मी मानी जाती हैं। लक्ष्मी जो अमृत की जड़ी, अमृत ही देती है।

(२) दूसरी—पापानुबंधी पाप फलदा है—शोषण, लूट, चोरी, डकैती, हिंसा, तस्करी आदि बुरे कर्मों में प्राप्त होती है। तस्कर, स्मगलर अरबों की संपत्ति के मालिक हो जाते हैं। परन्तु उनकी लक्ष्मी पाप से उत्पन्न होने वाली और पाप फलदा होती है, उस धन से उन्हें आनन्द, शांति नहीं मिल सकती। पापोपार्जित धन अपने साथ चिंता, शोक, भय, रोग और अशांति लेकर आता है। पाप से कमाई हुई लक्ष्मी पाप का ही फल देती है। किसी का युवक पुत्र मर जाता है। किसी की जवान पत्नी चली जाती है। किसी को हार्ट अटैक हो जाता है तो कोई टाडा कानूनों के आश्रित जेल की सींखचों में सड़ता है। जहर की बेल जहरीले फल पैदा करती है।

(३) तीसरा है पापानुबंधी-पुण्य फलदायिनी—मनुष्य, झूठ, चोरी, फरेब करके पैसा कमा लेता है। यद्यपि लक्ष्मी की प्राप्ति तो तभी होती है जब लाभान्तराय टूटती है, परन्तु लक्ष्मी कमाने के साधन दूषित, भ्रष्ट व अन्यायपूर्ण होने के कारण वह पापानुबंधी कही जाती है। फिर भी पूर्व के किंचित् शुभ कर्मों के प्रभाव से सद्बुद्धि और विवेक उसका जाग्रत रहता है। अतः वह उस लक्ष्मी को केवल अपने भोग विलास में ही नहीं, किन्तु समाज-सेवा में, परोपकार में, गरीबों की सहायता में दान करता है। यह तीसरे प्रकार की लक्ष्मी आज अधिक दिखाई देती है। यह जहर से उत्पन्न नागमणि है—जहर से अमृत पैदा करती है। जहरीली बेल का मीठा फल है।

आज लक्ष्मी-पूजन के दिन दीपावली के अवसर पर आपको सोचना है, आप जीवन में कौन-सी लक्ष्मी की कृपा चाहते हैं? अमृत जड़ी अमृत फल की या दूसरी-तीसरी श्रेणी की। यह निष्कर्ष आपके विवेक पर निर्भर है।

लक्ष्मी का निवास-स्थान कहाँ है ?

लक्ष्मी की प्राप्ति के लिए संसार लालायित है। उसे जगह-जगह खोज रहा है, परन्तु उसे यह नहीं पता कि लक्ष्मी इन सोने-चाँदी के ढेर में नहीं रहती या तिजोरियों में बंद भी नहीं रहती। लोग कहते हैं—लक्ष्मी चंचला है, वह एक जगह आसन जमाकर नहीं बैठती, परन्तु सच बात तो यह है कि

लक्ष्मी को अपना मनपसन्द स्थान नहीं मिलता, इसलिए उसे बार-बार स्थान बदलना पड़ता है। यदि मनपसन्द स्थान मिल गया तो वह फिर वहाँ से उठना ही नहीं चाहती।

एक बार लक्ष्मी जी कहीं जा रही थीं। मार्ग में इन्द्र महाराज मिल गये। लक्ष्मी जी ने इन्द्रदेव को नमस्कार किया। इन्द्रदेव ने पूछा–"लक्ष्मी जी, आजकल आपका निवास कहाँ है?"

लक्ष्मी जी मुस्कराईं, बोलीं–"महाराज, मैं तो वहीं हूँ। मेरा तो निवास-स्थान वही है, जहाँ सदा रहता है।"

इन्द्र महाराज ने पूछा–"बताइए तो आपका निवास कहाँ है?"

लक्ष्मी जी ने कहा–

"गुरुवो यत्र पूज्यन्ते, यत्र वाणी सुसंस्कृता।
अदन्त कलहो यत्र, तत्र शक्र ! वसाम्यहम्॥"

–हे महाराज ! जहाँ गुरुजनों की पूजा होती है, जहाँ मीठी वाणी बोली जाती है तथा जहाँ कभी कलह नहीं होता, प्रेम रहता है, वहीं मेरा निवास-स्थान है। मैं वहाँ पर स्थायी रूप में रहती हूँ।"

लक्ष्मी जी मन की पवित्रता चाहती हैं

लक्ष्मी जी का आसन कमल है। लक्ष्मी जी का नाम भी कमला है। लक्ष्मी जी के एक हाथ में कमल है। सोचना है, लक्ष्मी जी को कमल से इतना प्रेम क्यों है?

कमल जल के ऊपर तैरता है। कीचड़ में पैदा होकर भी निर्लिप्त रहता है। कमल की जड़ें जल में होकर नीचे गहरी जाती हैं। कमल में सुगंध और सौन्दर्य दोनों गुण हैं। यह सब बातें संकेत करती हैं–धन अन्याय, अनीति, कठोरता, शोषण, कृपणता और आतंक आदि के कीचड़ में पैदा होता है परन्तु जो व्यक्ति धन पाकर इन दुर्गुणों से दूर रहता है वह कीचड़ में कमल की भाँति जीता है।

कमल की जड़ें जल में गहरी जाती हैं। यह सूचना करती हैं कि अपनी जड़ हमेशा गहरी रखो। धर्म की भूमि तक जिसकी जड़ें जाती हैं वह जल्दी से विनष्ट नहीं होता।

धन पाकर जिसमें उदारता और विनम्रता का गुण आता है, उसमें कमल की सुन्दरता और सुगंध मानी जाती है।

महावीर गौतम स्मरण

यह विचित्र संयोग देखिए कि जिस प्रकार हिन्दू संस्कृति में दीपावली के साथ गणेश-पूजा जुड़ी है उसी प्रकार भगवान महावीर निर्वाण के साथ गुरु गौतम का प्रसंग भी जुड़ा है। हिन्दू-परम्परा में जो महत्त्व गणेश का है, जैन-परम्परा में वही महत्त्व गुरु गौतम का है। गणेश गण + ईश अर्थात् गण के स्वामी हैं इसलिए गणपति भी कहलाते हैं। गौतम भी गणधर हैं, गणपति हैं, गण के स्वामी हैं, आदि मंगलकारक हैं। प्रत्येक शुभ कार्य की आदि में "**सर्वलब्धि निधानाय गौतमस्वामिने नमः।**" यह मंगल मंत्र बोला जाता है, तो इस प्रकार भगवान महावीर जहाँ अनन्त चैतन्य के शाश्वत दीप-स्तम्भ हैं, वहाँ गुरु गौतम सुख-समृद्धिदाता, विघ्न-निवारक, मंगलकारक गणपति हैं और दीपावली की उत्तर रात्रि में उनका ध्यान-स्मरण कर इस दीप पर्व को पूरे वर्ष के लिए मंगलमय बनाने की भावना की जाती है। इसलिए लक्ष्मी-पूजा के साथ मन में यह तीन संकल्प करने चाहिए कि–

(१) हमारी लक्ष्मी न्यायोपार्जित हो, हम सद्‌विवेकपूर्वक इसका उपभोग व उपयोग करें। दीपक संसार में जलकर प्रकाश करता है। इसी तरह स्वयं अपना बलिदान देकर दूसरों के जीवन में प्रकाश करें। अंधकार में भटकते लोगों को ज्ञान-ज्योति, नेत्र-ज्योति और आनन्द की ज्योति प्रदान कर अपने जीवन को सार्थक बनाएँ।

(२) दीपावली शुचिता का पर्व है। हमारा बाह्य वातावरण, वस्त्र, घर आदि जिस प्रकार स्वच्छ हैं, उसी प्रकार हमारा जीवन भी साफ-सुथरा हो, मन भी पवित्र हो, जीवन-व्यवहार भी पवित्र हो। कपट, द्वेष, मिथ्याचार, अहंकार की गंदगी दूर करें।

(३) दीपावली पर लड्डू आदि विविध मिष्टान्नों का भोग चढ़ता है। मित्र, स्वजनों, परिचितों को मिष्टान्न का आदान-प्रदान करने के साथ मधुरता का भाव बढ़ाएँ। हमारी वाणी मधुर हो। हमारा व्यवहार शालीन हो। किसी के प्रति कटुता व क्षुद्रता नहीं रखें। कहावत है–खाने में चीनी की मात्रा कम रखें, किन्तु वचन में मिठास घोलकर मधुरता की सृष्टि करें।

● ●

४

गौतम प्रतिपदा[१] और गोवर्धन-पूजा

अमावस्या की रात को धर्मदेशना करते-करते पावापुरी में भगवान महावीर निर्वाण को प्राप्त हो गये। संसार ने मणि-रत्नों और दीपकों का प्रकाश कर उजाला किया। गौतम स्वामी भगवान से कुछ दूर सोम शर्मा ब्राह्मण की शाला में उसे उपदेश देने गये हुए थे। जब पता चला कि भगवान का निर्वाण हो गया है तो वे एकदम स्तंभित और खिन्न हो गये। भगवान महावीर के प्रति उनके हृदय में अत्यधिक अनुराग और मोह था। उस मोह की प्रबलता में बह गये। बालक की तरह विलाप करने लग गये। गौतम जैसे महान् ज्ञानी भी भावाकुल होकर बच्चों की भाँति कहने लगे– "प्रभो ! आप मुझे छोड़कर क्यों चले गये? मुझे अपने से दूर क्यों भेज दिया? क्या मैं आपके पास रहता तो मोक्ष जाते-जाते आपको रोक लेता, सो मुझे आपने पहले ही दूर भेज दिया।" इस प्रकार भावना और अनुराग ही धारा में बहते हुए गौतम करुण विलाप करने लग गये। थोड़ी देर बाद सँभले–'अरे गौतम ! तू किसके लिये विलाप कर रहा है? जो वीतराग थे, निर्मोह थे, उनके मन में तेरे प्रति कुछ भी मोह नहीं था, तू उन निर्मोही से मोह लगाता है?' आत्म-चिन्तन करते हुए गौतम संभल गये।

मोह का प्रभाव तो सभी के मन पर होता है किन्तु मूर्ख अज्ञानी उस प्रवाह में बहकर गोता खाते रहते हैं जबकि ज्ञानी तुरंत सँभल जाते हैं और धारा को मोड़ देते हैं, प्रवाह में बहने के बजाय प्रवाह को अपनी मंजिल की तरफ ले जाते हैं और लक्ष्य तक पहुँच जाते हैं। ज्ञानी गौतम कुछ ही क्षणों में सँभल गये। वीतराग के शिष्य वीतरागता का चिन्तन करते हुए स्वयं वीतराग बन गये। प्रतिपदा का सूर्य पूर्वांचल में उगता है। इधर गौतम के जीवन में केवलज्ञान महासूर्य उदित होता है। उधर भगवान के निर्वाण उत्सव की तैयारी हो रही है और इधर गणधर गौतम का कैवल्य उत्सव मनाने हजारों देवगण स्वर्ग से उतरकर आ रहे हैं। रात्रि के आरंभ में एक चैतन्य दीपक बुझा परन्तु रात्रि समाप्त होते-होते पुनः एक अनन्त चैतन्य

---

१. गौतम प्रतिपदा का स्वतंत्र प्रवचन प्रथम खण्ड के पृष्ठ ६७ पर पढ़िए।

दीपक जल उठा। इस प्रकार प्रकाश का यह दिव्य प्रवाह गुरु से शिष्य तक संचारित होता रहा है।

गौतम स्वामी के केवलज्ञान की यह घटना प्रतिपदा को हुई इसलिए यह प्रतिपदा भी **गौतम प्रतिपदा** के नाम से इतिहास में अमर हो गई। गौतम प्रतिपदा मोह-विजय की प्रतीक बन गई। अन्तर् जागरण का सन्देश देने वाली यह प्रतिपदा हमें कह रही है भूल होना मनुष्य का स्वभाव है, मोह व प्रमाद के कारण मनुष्य स्वयं को भूल जाता है, परन्तु महान् वह है जो मोह की तंद्रा तोड़कर जागरण का सूर्योदय देखता है, भूल को मूल से मिटाकर प्रबोध और सम्बोध का शाश्वत शंखनाद करने वाला ही संसार में महान् होता है। हम उसे गौतम की तरह मंगलमय मानकर श्रद्धा से सिर नवाते हैं।

गोवर्धन-पूजा

दीपावली के बाद की प्रतिपदा (पड़वा) को वैदिक-परम्परा में गोवर्धन-पूजा के रूप में मनाया जाता है। लोग अपने घरों के सामने गोवर्धन पर्वत का प्रतीक गोबर का पहाड़ बनाकर उसकी पूजा करते हैं और अपने पशुधन की संवृद्धि की कामना करते हैं।

गोवर्धन-पूजा के साथ श्रीकृष्ण की एक प्रेरक घटना जुड़ी है। किशोर श्रीकृष्ण ने देखा, लोग इन्द्रदेव की पूजा करते हैं और उनसे अपने धन-धान्य की समृद्धि की कामना करते हैं। श्रीकृष्ण ने पूछा–"यह इन्द्र-पूजा क्यों करते हैं?" लोगों ने कहा–"इन्द्र महाराज समय पर जल-वृष्टि करते हैं, खेतों में धन्य-धान्य की वृद्धि होती है इसके लिए हम इन्द्र की पूजा करते हैं।" श्रीकृष्ण ने कहा–"समय पर वृष्टि होना, धूप तपना, खेतों में धन्य-धान्य उत्पन्न होना यह तो सृष्टि का सहज क्रम है, इसमें इन्द्र का लेना-देना क्या है? अगर इन्द्र यह सब करता भी है तो प्रजा का पालन करना, संरक्षण करना इन्द्र का कर्त्तव्य है, इसमें एहसान व उपकार की क्या बात है? उसकी पूजा करके अपनी हीनता क्यों प्रगट करते हो?" श्रीकृष्ण के समझाने से लोगों ने इन्द्र-पूजा बन्द कर दी। इन्द्रदेव कुपित हो गये और सात दिन तक लगातार गोकुल में मूसलाधार वर्षा होती रही, तूफान आते रहे। चारों तरफ जलप्रलय-सा मच गया। गोकुल की जनता और गायें आदि इधर-उधर अपने बचाव के लिए भागने लगे। तब श्रीकृष्ण ने गोवर्धन पर्वत को छत्र की तरह उँगली पर उठा लिया और सब प्रजा को उसके नीचे आश्रय दिया। सात दिन तक मूसलाधार बरसने पर भी

गोवर्धन के नीचे आश्रय लेने वाले बचे रहे। अन्त में इन्द्रदेव ने हार मान ली और श्रीकृष्ण के सामने क्षमा माँगने लगा। श्रीकृष्ण ने कहा–"संसार में समय पर जल बरसाना, खेतों में अन्न धान्य को पकाना और प्रजा की परिपालना करना तो तुम्हारा कर्त्तव्य है। इस कर्त्तव्य-पालन के बदले तुम प्रजा से पूजा की कामना क्यों करते हो? जो राजा प्रजा-पालन के अपने धर्म को यदि उपकार करना मानकर उसके बदले पूजा, यश, धन चाहता है तो वह कर्त्तव्य-च्युत होता है। इस कर्त्तव्य का भान कराने के लिए ही प्रजा ने इन्द्र-पूजा बन्द कर दी। वास्तव में धरती का संरक्षक और भूमि को उर्वरा बनाने वाला तो यह पर्वत है जो युगों-युगों से मूक भाव से खड़ा शीत, धूप, ताप, वर्षा सब कुछ सहता हुआ भी बदले में कुछ नहीं माँगता।

इस प्रकार गोवर्धन-पूजा एक प्रतीक रूप में अधिकारियों व सत्ताधारियों को उनके कर्त्तव्य का भान कराने की प्रेरणा है और जो मूक सेवक हैं उनका अभिनन्दन करने की सूचना भी इसी में सन्निहित है।

जैन-परम्परा गौतम प्रतिपदा को ज्ञान-पूजा के रूप में यह ध्वनित करती है कि शिष्य में जब गुरु का आत्म-प्रकाश उद्‌भासित हो उठता है तो शिष्य भी गुरु के सदृश बन जाता है। गौतम महावीर के शिष्य थे, परन्तु महावीर के वीतरागभाव को धारण करते हैं और स्वयं भगवान महावीर के समान परम ज्योतिर्मान बन जाते हैं।

● ●

५

भैयादूज : भाई-बहन के पवित्र प्रेम की प्रतीक

पंचपर्वी का पाँचवाँ संलग्न पर्व है भैयादूज। हम यों भी कह सकते हैं गौतम प्रतिपदा जहाँ गुरु-शिष्य के पवित्र भावों को आत्मसात् कर गुरुता के मार्ग पर बढ़ने की प्रेरणा देता है वहीं भैयादूज बहन-भाई के मधुर, पवित्र स्नेह-सम्बन्धों में जीवन्तता लाने का इंगित करती है।

जैन इतिहास व परम्परा में बताया जाता है कि भगवान महावीर के निर्वाण के कारण बड़े भाई नन्दीवर्धन के मन में शोक व उदासीनता छा गई। वे इतने व्याकुल हुए कि दो दिन तक भूखे-प्यासे घर में अकेले बैठे रहे। जबकि अन्य राज-परिवारों ने प्रतिपदा को पारणा कर लिया। इसकी खबर जब बहन सुदर्शना को मिली तो वह प्यारे भाई नन्दीवर्धन के पास पहुँची। मधुर व विवेकयुक्त वचनों से भाई की व्यथा कम करके आग्रहपूर्वक पारणा कराया। भाई ने बहन सुदर्शना को वस्त्राभूषण देकर सम्मानित किया और बहन ने भैया का टीका कर शोक निवारण कर इस दिन को पर्व का, खुशियों का रूप प्रदान कर दिया।

कहा जाता है उस दिन की स्मृति में भाई-बहन का यह पवित्र पर्व स्नेह और माधुर्य के प्रतीक रूप में मनाया जाता है। बहन-भाई को अपना पवित्र स्नेह देती है। भाई-बहन को माता के रूप में पाकर उसका आशीर्वाद ग्रहण करता है। भाई-बहन के इस पवित्र प्रेम की प्रेरणा देने वाला यह पर्व भैयादूज के नाम से वैदिक-परम्परा में भी एक पौराणिक कथा के आधार पर मनाया जाता है।

कहा जाता है यमुना जी जो यमी के नाम से भी प्रसिद्ध थी अपने भाई यमराज को घर आकर भोजन करने के लिए बार-बार प्रार्थना व आग्रह करती रहती, किन्तु यमराज अपने काम में इतने व्यस्त रहते कि कभी बहन के घर जाने की फुरसत भी नहीं मिलती। भाई की इस उपेक्षा के कारण यमी नाराज हो गई और भाई से कहा–"तुम तो बड़े निःस्नेही और कठोर हृदय हो गये जो कभी बहन की याद ही नहीं करते।" यमुना जी का अत्याग्रह देखकर आखिर यमराज बहन के घर आये। बहन ने बड़े प्रेम, श्रद्धा और सत्कार के साथ भाई को भोजन कराया। यमराज ने भी

वस्त्र-आभूषण-अलंकारों के साथ मधुर वचनों से बहन को प्रसन्न कर दिया और कहा—"बहन, आज तो स्नेह से मेरा हृदय गद्‌गद हो गया, जो चाहे सो वर माँग लो।" यमुना जी ने कहा—"भाई ! आप प्रतिवर्ष आज के दिन भोजन करने के लिए मेरे घर पधारें और आज के दिन जो भी व्यक्ति यमुना-स्नान करके बहन के घर भोजन करने आए, अपनी सामर्थ्य के अनुसार बहन को भेंट देवे, उसे यमलोक में कष्ट सहना नहीं पड़े।"

यमराज ने कहा—"तथास्तु !"

आज के दिन की स्मृति में भाई बहन के घर जाता है, भोजन करता है और अपनी इच्छानुसार प्रेमपूर्वक बहन को भेंट देता है। आज की सामाजिक परिस्थितियों में बहुत से परिवार कुछ कारणों से भाई-बहन के स्नेह को भूल गये या पारस्परिक प्रेम व सद्‌भाव का नाता तोड़ दिया, बहनों व लड़कियों को देखकर प्रसन्न नहीं होते, उन सब के लिए यह प्रेरणा है कि बहन तो माँ का रूप है। भाई-बहन का सद्‌भाव बना रहे। यह पवित्र प्रेम दोनों के हृदयों में एक-दूसरे के लिए सद्‌भाव की सृष्टि करता रहे। इस स्नेह-सम्बन्ध को याद दिलाने वाला यह पवित्र प्रेम पर्व है भैयादूज।

दूज का चाँद

रामायण का एक पावन प्रसंग है। सीता माता अशोक वाटिका में शोक-मुद्रा में बैठी हुई थीं। उसके अन्तर् मानस में राम बसे हुए थे। वह विविध कल्पनाएँ सँजोए हुए थी कि राम कैसे आयेंगे? उसी क्षण रावण सामने आकर खड़ा हो गया? उसने सीता से पूछा—"सीता यह तो बता कि राम में और मेरे में क्या अन्तर है? मैं तो राम से भी बढ़कर हूँ, देख मेरा विराट् वैभव।"

सीता ने नीची निगाह किये कहा—"रावण, तुम तो पूनम के चाँद हो और राम दूज के चाँद हैं।" पूनम का चाँद शब्द सुनते ही रावण का मुख-कमल खिल उठा। मन-मयूर नाच उठा। वह मन में सोचने लगा—'सीता अब मुझे चाहती है, इसीलिए उसने मुझे पूनम का चाँद कहा है और राम को दूज का चाँद।'

सीता ने अपनी बात का स्पष्टीकरण करते हुए कहा—"मूर्ख, मेरी बात का रहस्य समझे बिना ही उछल रहा है तू ! पता है पूनम का चाँद पूर्ण

विकसित होता है, किन्तु उस विकास के पश्चात् उसका ह्रास प्रारम्भ हो जाता है। वैसे ही भौतिक दृष्टि से तुमने पूर्ण विकास कर लिया है। पर अब अनैतिक आचरण के कारण तुम्हारा ह्रास प्रारम्भ हो गया है। पर राम तो द्वितीया का चाँद हैं। द्वितीया का चाँद सदा-सदा बढ़ता ही रहता है। वह निरन्तर वृद्धि को पाता है। यही कारण है सभी दूज के चाँद को देखना चाहते हैं, सभी उसके मंगल दर्शन करना चाहते हैं।''

आप देखेंगे हिन्दू-परम्परा के शिव पुराण में वर्णन है कि महादेव के सिर पर चन्द्रमा रहा हुआ है, पर वह चन्द्र पूनम का चाँद नहीं, दूज का चाँद है। मुसलमानों में भी दूज के चाँद को देखकर ही रोजा अफ्तार करते हैं और दूज का चाँद भी उनके ध्वज में अंकित है।

पुराणकारों का मत है दूज का चाँद प्रतिपल-प्रतिक्षण विकास की ओर अपने कदम बढ़ाता है। वैसे ही भाई और बहन का प्यार भी प्रतिपल-प्रतिक्षण विकसित होता है।

आज भी भैयादूज है। भाई और बहन का पवित्र प्रेम भारतीय संस्कृति का पावन प्रतीक रहा है। भाई-बहन के प्यार में विकार नहीं होता, विशुद्ध विचार होते हैं। उसमें स्वार्थ नहीं, परमार्थ की भव्य भावना अठखेलियाँ करती हैं। भाई-बीज का अर्थ है कि दोनों में प्यार-स्नेह और सद्भावनाएँ निरन्तर अभिवृद्धि को प्राप्त हों।

एकबार स्वामी विवेकानन्द अमेरिका पहुँचे। उन्होंने भाषण के लिए समय माँगा। यह भारत का संन्यासी है, इसलिए बहुत ही कठिनता से उन्हें दो मिनट का समय दिया गया। स्वामी विवेकानन्द ने भाषण प्रारम्भ किया, सर्वप्रथम उन्होंने सम्बोधन में कहा–''सिस्टर एण्ड ब्रदर्स'' यह सम्बोधन सुनकर अमेरिका के निवासी प्रसन्नता से झूम उठे और तालियों की गड़गड़ाहट से सारा हॉल गूँज उठा। क्योंकि इसके पूर्व इस प्रकार का सम्बोधन किसी से सुना नहीं था। भाई और बहन का रिश्ता एक पवित्र रिश्ता है। इसमें वासना नहीं, उपासना होती है। इसमें लेने का नहीं देने का, ग्रहण का नहीं त्याग का भाव छिपा रहता है। एक-दूसरे के प्रति पूर्ण समर्पण होता है। एक बार जिसे मुँह से भाई या बहन कह दिया फिर जीवनभर वह सम्बन्ध बना रहता है। उसमें कभी भी वासना का जहर नहीं मिलता।

बहन-भाई : वासनारहित उच्च रिश्ता

गुजरात की एक घटना है, एक बालक की सगाई अत्यन्त छोटी उम्र में कर दी गई। उस अबोध बालक को कुछ भी पता नहीं था। एक बार पिता ने आदेश दिया कि तुम्हें धोलका जाना है और मोहन भाई के वहाँ पर यह पत्र देना है। वह युवक जिसका नाम लोचनदास था, पिता का पत्र लेकर चल पड़ा। वह प्रथम बार उस गाँव में आया था। पनघट के कुएँ पर उसने पानी पीया, आवश्यक कार्य से निवृत्त हुआ। पनघट पर पानी भरती हुई एक लड़की से उसने पूछा–"बहन, इस गाँव के अन्दर मोहनलाल भाई का घर कहाँ है? मैं अपरिचित हूँ। अतः मुझे पता बताओ।" 'बहन' शब्द का सम्बोधन सुनकर उस लड़की ने कहा–"भाई, तुम इस रास्ते चले जाना और सामने ही उनका घर है।"

वह लोचनदास वहाँ पहुँचा। पत्र देकर पुनः अपने घर की ओर चल पड़ा। कुछ समय के बाद लोचनदास का विवाह उसी घर में हुआ। जब शयन-कक्ष में दोनों पहुँचे और लोचनदास ने उस लड़की के चेहरे को देखा तो उसे स्मरण आया कि यह तो वही लड़की है जो कुएँ पर पानी भर रही थी और मैंने इसे 'बहन' के सम्बोधन से पुकारा था। उसने भ्रम निवारण हेतु उसे पूछा–"क्या तुम ही थीं उस दिन कुएँ पर?" उस लड़की ने भी आँखें ऊपर कर देखा, उसे भी स्मरण हो आया यह वही है जिसे मैंने एक दिन भाई कहा था। दोनों एक-दूसरे को देखकर विस्मित थे। अन्तर् मानस में एक नया द्वंद्व चलने लगा, हमने एक-दूसरे को भाई और बहन कहा है। भाई और बहन का सम्बन्ध बहुत ही पवित्र सम्बन्ध है। उसमें कहीं पर भी वासना नहीं होती। दोनों ने प्रतिज्ञा की कि हम आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करेंगे और अपने भाई और बहन के सम्बन्ध को सदा अक्षुण्ण बनाये रखेंगे। यह भाई और बहन शब्द का चमत्कार है जिसने पति और पत्नी के सम्बन्ध को भी भुला दिया। वे वासना के दलदल में न फँसकर ब्रह्मचर्य की उपासना में संलग्न हो गए।

बहन का भार भाई ने उतारा

एक बार बड़ौदा के यशस्वी नरेश सियाजीराव अपने महामंत्री अश्विनी घोष के साथ घोड़े पर बैठकर घूमने के लिए प्राकृतिक सौंदर्य सुषमा को निहारकर पुनः बड़ौदा लौट रहे थे। रास्ते में एक महिला बैठी हुई थी,

उसने जंगल में से कण्डे एकत्रित किए थे पर वह पोटला उठा नहीं पा रही थी। वह राह देख रही थी कि कोई भी व्यक्ति इधर से आये और वह मेरे सिर पर यह भार रख दे। उसने घोड़े पर चढ़े हुए दो व्यक्तियों को देखा, उसने आवाज दी-"अरे भाई, जरा इधर आना और मेरे टोकरे को मेरे सिर पर रख देना।" भाई शब्द सुनते ही सियाजीराव घोड़े से नीचे उतर पड़े और उन्होंने वह टोकरा उठाया और बहन के सिर पर रख दिया। अश्विनी घोष यह देखकर मुस्कराने लगे, सियाजीराव ने पूछा-"आप कैसे मुस्करा रहे हैं? कोई कारण होना चाहिए।" अश्विनी घोष ने कहा-"राजन् ! बहन के सिर पर भाई भार रखता है या बहन के सिर का भार उतारता है? आपने तो बहन के सिर पर भार रख दिया है? क्या यह उचित है?" सियाजीराव को अपनी भूल का परिज्ञान हुआ। उन्होंने पुनः उसके सिर पर रखा हुआ टोकरा उतार दिया और अपने पास जितना भी पैसा और आभूषण थे वे उस बहन को दे दिये और बहन का अता-पता लेकर कहा कि "मैं तुम्हारा भाई हूँ। मेरा नाम सियाजीराव है। तुम निश्चिन्त रहो-तुम्हें कोई कष्ट नहीं होगा। तुम्हारे बाल-बच्चों को अध्ययन आदि की सारी सुविधा भाई की ओर से हो जायेगी।"

सियाजीराव का नाम सुनते ही वह बहन पहले तो काँप रही थी-"अरे वह तो हमारे मालिक हैं, मैंने इनको भार उठाने के लिए कहा।" सियाजीराव ने उसे आश्वस्त करते हुए कहा-"बहन, घबरा मत। तू बिना संकोच राजमहल में आ जाना। जिस किसी वस्तु की आवश्यकता हो संकोच न करना। मैं तेरा भाई हूँ, तू मेरी बहन है। कितना प्रेम और स्नेह होता है बहन शब्द में।

भाई भार नहीं होता

प्रातःकाल का समय था। एक लड़की एक लड़के को पीठ पर बाँधकर पहाड़ पर चढ़ रही थी। पहाड़ की चोटी पर से एक संत नीचे आ रहा था-तलहटी की ओर उसने उस लड़की को देखा और पूछा-"बहन ! इतना भार लेकर पहाड़ कैसे चढ़ेगी? तेरी पीठ पर तो लड़के का इतना भार है? लड़की ने उस संत को नमस्कार किया और कहा-"गुरुदेव ! भार नहीं है, यह तो मेरा भैया है। भैया का भार नहीं होता। भैया तो हमेशा ही हल्का ही होता है।" जहाँ अपनत्व होता है वहाँ पर भार नहीं लगता, वहाँ पर भार भी आभार बन जाता है।

बहन के स्नेह ने भाई की प्रतिभा को चमकाया

मारवाड़ में प्रायः दुष्काल पड़ते रहे हैं। और दुष्काल की स्थिति कितनी भयानक होती है यह सहज कल्पना की जा सकती है। कोसों तक एक घूँट पानी के लिए व्यक्ति को जाना पड़ता है। उस दुष्काल की विकट स्थिति में मारवाड़ का एक नौजवान चलते-चलते सिद्धपुर पाटन पहुँचा। कई दिनों का भूखा और प्यासा था। चलने के कारण अत्यधिक थका हुआ था वह। एक उपाश्रय के बाहर विश्राम के लिए बैठा। उपाश्रय में आचार्यदेव प्रवचन कर रहे थे। प्रवचन समाप्त हुआ। श्रोतागण अपने घर की ओर लौट रहे थे, पर किसी श्रोता ने उस युवक की ओर देखा तक नहीं। एक बहन जो जैन श्राविका थी, जिसका नाम लक्ष्मी था, उसने देखा उस नौजवान को जिसका चेहरा भूख से म्लान था। उस तेजस्वी युवक का चेहरा एकदम मुरझाया हुआ था। उसने सन्निकट जाकर पूछा–"भाई ! तुम कौन हो? यहाँ पर कैसे बैठे हो और कहाँ से आये हो?"

नौजवान ने कहा–"बहन, मारवाड़ में भयंकर दुष्काल है और उस दुष्काल से पीड़ित होकर मैं मजदूरी करने के लिए यहाँ पर आया हूँ।"

बहन ने कहा–"भाई, घर चलो, स्नान आदि कर भोजन करो।"

नौजवान ने कहा–"मैं भिखारी नहीं हूँ। मैं मेहनत करके भोजन करूँगा।" उस श्राविका ने मधुर मुस्कान बिखेरते हुए कहा–"मैंने तुम्हारे को भाई कहकर सम्बोधित किया है और तुमने मुझे बहन कहा है। बहन के यहाँ पर चलने में भाई को तनिक मात्र भी संकोच नहीं होना चाहिए। बहन के यहाँ पर भोजन करने में शर्म किस बात की, तुम्हारा अधिकार है।" उस बहन के अत्याग्रह से वह नौजवान उसके साथ घर पहुँचा। भोजन आदि किया। उस बहन ने उसे रहने के लिए स्वतंत्र मकान दे दिया और प्रबल पुरुषार्थी उस नौजवान ने धीरे-धीरे प्रतिभा के आधार पर विकास किया और एक दिन वह महागुजरात का महामंत्री बन गया। उसका नाम उदयन था।

यह भाई और बहन के शब्द की अनूठी निष्ठा थी, बहन ने एक प्रतिभा-पुरुष की प्रतिभा को विकसित करने में पूर्ण योगदान किया।

उपसंहार

इस प्रकार आप देखेंगे कि भारतीय संस्कृति में त्यौहार व पर्व केवल मिष्टान्न, खाना व नये कपड़े पहनकर मौज-शौक करने के लिए नहीं है किन्तु इन पर्वों के साथ उच्च सांस्कृतिक, आध्यात्मिक और सामाजिक आदर्श जुड़े हुए हैं। संस्कारों की एक धारा प्रवाहित है इन पर्वों के बीच, जो हमारे समाज को, त्याग, पराक्रम, पुरुषार्थ, स्वच्छता, उदारता, परस्पर सहयोग-भावना, ज्ञानाराधना, गुरु-शिष्य का गौरवपूर्ण सम्बन्ध और भाई-बहन के समर्पण, त्याग व पवित्र मनोभावों को एक सुरम्य आकार प्रदान करते रहते हैं।

पर्व के प्रतीकों से, उनके साथ जुड़े कथानकों से आप सब प्रेरणा लेवें। पर्व आपके जीवन में "प्रति पर्व रसोदयः।" अर्थात् प्रत्येक पर्व सद्भावों के रस की वृद्धि करे। इसी शुभ भावना के साथ।

● ●

ज्ञान और वैराग्य का पर्व है : वसन्त पंचमी

धर्म, इतिहास और संस्कृति–तीनों मनुष्य जीवन के चित्र में हरे, लाल, पीले रंगों की तरह गहरे घुले-मिले तत्त्व हैं, यद्यपि इनमें तीनों के रंग अलग-अलग हैं। फिर भी इनकी पहचान करने में हम भूल कर सकते हैं, परन्तु पहचान करना कठिन नहीं है।

धर्म वह शाश्वत तत्त्व है, जो अनादिकाल से मनुष्य के जीवन में आनन्द, सुख और शान्ति का कल्पवृक्ष बनकर लहरा रहा है। धर्म मानव की आन्तरिक चेतना की उपज है, आन्तरिक चेतना से ही उसका सीधा सम्बन्ध है। दया, करुणा, प्रेम, सद्भाव एक-दूसरे के प्रति निःस्वार्थ समर्पण, भौतिक इच्छाओं पर विवेक का अंकुश, सद्-असद् का विवेक और उसके अनुरूप आचरण–यह सब धर्म का रूप है। धर्म हमारी चेतना को ऊर्ध्वमुखी बनाता है, धर्म से ही मन में विराटता और भावों में पवित्रता की प्राणधारा संचरित होती है।

इतिहास एक बीता हुआ सत्य है, भोगा हुआ अतीत है। मनुष्य ने भला-बुरा, सद्-असद् जो कुछ भी किया है, प्रेम और युद्ध, निर्माण और विध्वंस, उद्दाम इच्छाओं का खुला खेल अथवा किसी की रक्षा के लिए अपना बलिदान यह सब इतिहास के पृष्ठों पर अंकित है। इतिहास का रंग लाल और पीला है। जो मानव के द्वारा खेले गये खूनी खेल और किये गये निर्माणों का प्रतीक है। इतिहास मनुष्य की मूर्खता और समझदारी का जीता-जागता दस्तावेज होता है। वह दर्पण है, जिसमें मानव जाति का अतीत प्रतिबिम्बित है।

संस्कृति हरे, पीले, लाल, सफेद फूलों का एक गुलदस्ता है। यह मनुष्य की उस जीवन धारा को सूचित करती है, जिसमें वह बह रहा है, बहता रहा है। उसकी मानसिक रुचियाँ, सुख-दुःख की संवेदनाएँ, खेलकूद, आमोद-प्रमोद की अभिव्यक्तियाँ, अतीत के प्रति जुड़ा अनुराग और भविष्य के प्रति जगे सपने, आशाएँ, अपेक्षाएँ जहाँ, जिस रूप में अभिव्यक्त होती हैं, वह है संस्कृति।

संस्कृति एक प्रवाह है, जो निरन्तर गतिशील भी है, परिवर्तनशील भी है। देश, काल, समाज की परिस्थितियों के अनुसार संस्कृति बदलती रहती है। वातावरण, सम्पर्क और वैचारिक आदान-प्रदान से भी संस्कृति में संस्कार या विकार आते रहते हैं। संस्कृति की तस्वीर में इतिहास और धर्म दोनों ही अपना-अपना रंग लिए रहते हैं। इसलिए संस्कृति कभी सभ्यता, कभी रीति-रिवाजों और कभी पर्व-त्यौहारों के रूप में भी प्रकट होती रहती है।

संस्कृति जीवन का अंग है

भारतीय संस्कृति की एक विशेषता है कि उसमें समाज और धर्म का प्रतिबिम्ब एक साथ समाया रहता है। संस्कृति हमेशा ही मानव सभ्यता को विकास और विराटता की ओर ले जाती है। इसलिए हम संस्कृति को जीवन से अलग नहीं कर सकते। मानव-जीवन का एक पहलू धर्म से जुड़ा है तो दूसरा पहलू संस्कृति से जुड़ा हुआ है। पर्व, त्यौहार, उत्सव आदि सभी हमारी सांस्कृतिक चेतना के प्रतीक हैं। संस्कृति के पवित्र सन्देशों को घर-घर और जन-जन तक पहुँचाने वाले दूत हैं–पर्व।

आज वसन्त पंचमी का पर्व है, चारों ओर नये पीले केसरिया कपड़े नजर आ रहे हैं। लाउडस्पीकरों पर धुन गूँज रही है–मेरा रंग दे वसन्ती चोला। खेत-खलिहान सरसों के पीले-पीले फूलों की शोभा लिए दूर-दूर तक चमक रहे हैं। ऐसा लग रहा है, मानो प्रकृति ने फूलों के बहाने खेतों में सोना फैला दिया है और खेतों की स्वर्णिम आभा देखकर किसान का कोमल मन नाच रहा है। किसान के पसीने की बूँदें ही मानो स्वर्ण-फूल बनकर धरती के अंचल में दमक रही हैं। वसन्त ऋतु की यह सुहावनी छटा कुछ अलौकिक है। बड़ी जीवनदायिनी, आनन्द की वर्षा करने वाली और मन को प्रफुल्लता देने वाली है।

वसन्त : निर्माण का प्रतीक है

पतझड़ के बाद वसन्त ऋतु का आगमन नव-निर्माण का प्रतीक है। विनाश के बाद नये विकास की सूचना लेकर वसन्त ऋतु आती है। जर्जर, मृतप्रायः प्राकृतिक वनस्पतियों में नव-जीवन अँगड़ाई लेने लगता है। सूखे वृक्षों पर नई-नई कोपलें लगती हैं। मुर्झाये पौधों पर जैसे जीवन खेलने लगता है। सर्वत्र उल्लास उमड़ रहा है। इस अलौकिक शोभा के कारण ही वसन्त ऋतु को सब ऋतुओं से श्रेष्ठ और ऋतुराज कहा जाता है। गीता में

कर्मयोगी श्रीकृष्ण कहते हैं–"**ऋतूनां कुसुमाकरः।**"–मैं ऋतुओं में कुसुमाकर अर्थात् वसन्त हूँ। जैसे यज्ञों में जप-यज्ञ सर्वश्रेष्ठ है–"**यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि ऋतूनां कुसुमाकरः।**"–उसी प्रकार ऋतुओं में वसन्त ऋतु सबसे उत्तम है।

उपहार के चालीस दिन

आपको एक बात बताना चाहूँगा, ऋतु-चक्र के अनुसार वसन्त ऋतु चैत्र मास से प्रारम्भ होती है, चैत्र और वैशाख ये दो महीने वसन्त ऋतु के हैं। परन्तु वसन्त पंचमी चैत्र के चालीस दिन पहले ही आ जाती है, इसके विषय में वैदिक साहित्य में एक कवि की सुन्दर कल्पना है कि एक बार पाँचों ऋतुओं ने मिलकर सोचा–एक संवत्सर में छह ऋतुएँ होती हैं। इनमें वसन्त हम सब ऋतुओं का राजा है। राजा के आगमन पर कुछ न कुछ भेंट देना चाहिए तो हम ऋतुराज को कोई ऐसी अमूल्य भेंट देवें जो सबसे श्रेष्ठ हो। सोचा गया–जीवन सबसे श्रेष्ठ है। प्रत्येक ऋतु ६०-६० दिन की होती है। तो हम अपने जीवन के कुछ दिन ऋतुराज को भेंट कर देवें तो यह हमारा सबसे बड़ा अमूल्य उपहार होगा। यही सोचकर पाँचों ऋतुओं ने अपने जीवन के ८-८ दिन ऋतुराज को भेंट कर दिये। इस प्रकार वसन्त ऋतु को ये ४० दिन अधिक मिल गये और चैत्र मास आने से ४० दिन पहले ही वसन्त पंचमी का त्यौहार आ गया। यह वसन्त ऋतु के आगमन का स्वागत द्वार है। शायद यही कारण है कि वसन्त पंचमी से होली तक का मौसम कभी ठण्डा, कभी गर्म, कभी बरसात और कभी तेज हवाएँ इस प्रकार इसमें हर मौसम का प्रभाव दीखता है। क्योंकि ये ४० दिन उपहार में मिले हुए अन्य ऋतुओं के दिन जो हैं। अस्तु !

विद्या या सरस्वती का अवतरण दिवस

यों तो वसन्त पंचमी एक ऋतु-परिवर्तन का पर्व है। प्राकृतिक जीवन में नव उत्साह और नई उमंग के संचार का त्यौहार है। किन्तु भारत के प्राचीन ऋषि-मनीषियों ने इस पर्व को विद्या की देवी सरस्वती के साथ जोड़ दिया है। और वैदिक पुराणों की कथा के अनुसार आज के दिन विद्या देवता सरस्वती का धरा पर अवतरण हुआ था। अर्थात् आदिमानव ने आज के दिन अक्षर ज्ञान का अभ्यास करना प्रारम्भ कर दिया था। मनुष्य ने वर्णमाला और लिपिविद्या का ज्ञान सीखना आज के दिन प्रारम्भ किया था। इसलिए वसन्त पंचमी को विद्या देवता के अवतरण का दिन माना गया है।

जैन दृष्टि में यों तो श्रुतज्ञान शाश्वत है। परन्तु श्रुतज्ञान में १४ भेदों जो अक्षरज्ञान–वर्णमाला, लिपिविद्या और अंकविद्या है, वह प्रत्येक युग में सिखाया जाता है। इस अवसर्पिणी काल में भगवान आदिनाथ ने अपनी पुत्रियों–ब्राह्मी और सुन्दरी को सर्वप्रथम अक्षरज्ञान सिखाया। हो सकता है वह अक्षरज्ञान आज के ही दिन सिखाना प्रारम्भ किया गया हो, इसलिए यह आज का दिन सरस्वती अवतरण का दिन माना जाता रहा है।

इस पौराणिक मान्यता के पीछे जो ज्ञान की दृष्टि है, वह बड़ी महत्त्वपूर्ण है। दीपावली का पर्व लक्ष्मी-पूजा का पर्व है। मनुष्य अपने जीवन में सुख-समृद्धि, धन-धान्य की अभिवृद्धि के लिए लक्ष्मी की उपासना करता है। लक्ष्मी प्राप्त करके वह जीवन का आनन्द लेना चाहता है। किन्तु भूल यह करता है कि वह लक्ष्मी का स्वामी बनने की जगह उसका दास बन बैठा है। लक्ष्मीपति कहलाने के स्थान पर वह लक्ष्मीपुत्र कहलाने लगा है। पति अपनी पत्नी को आज्ञा देता है, उससे सेवा लेता है और जीवन की सुख-समृद्धि के लिए उसका उपयोग करता है। जबकि पुत्र माता को केवल पूजा के स्थान पर रखता है। वह माता को कष्ट नहीं देना चाहता। माता को केवल देव-मूर्ति की तरह घर में सजाकर रखता है। आज का मनुष्य भी लक्ष्मीपुत्र बनकर लक्ष्मी को तिजोरी में बन्द करके रखना चाहता है, किन्तु लक्ष्मीपति बनकर उसका जीवन और समाज के विकास में उपयोग नहीं करना चाहता।

इसीलिए नीतिकारों ने कहा है–

"लक्ष्मीपति बनकर रहो, करो सदा उपयोग।
सरस्वती के पुत्र बन, पाओ विद्या-योग॥"

–लक्ष्मी के पति बनकर रहो और सरस्वती के पुत्र बनकर उसकी पूजा करो। सरस्वती प्रसन्न होकर आपके जीवन में ज्ञान का, विवेक का, सद्बुद्धि का प्रकाश देगी और यही प्रकाश आपके जीवन को आनन्दमय बनायेगा। खुशियों से भर देगा। सफलताओं से आपका जीवन लहलहाता रहेगा। वसन्त पंचमी विद्या-पूजा का दिन है। जैन परम्परा के अनुसार ज्ञान पंचमी भी ज्ञान-पूजा का दिन है। इन दिनों में स्वयं ज्ञानार्जन के लिए प्रयत्नशील बना जाता है। साथ ही ज्ञानियों की पूजा, सम्मान, अभिनन्दन किया जाता है। भारतीय संस्कृति में विद्वानों का सम्मान सदा-सदा से रहा है। कहावत है–

"स्वदेशे पूज्यते राजा विद्वान सर्वत्र पूज्यते।"

—राजा या श्रीमंत केवल अपने देश में; अपने क्षेत्र में ही पूजा जाता है किन्तु विद्वान् समूचे संसार में पूजा जाता है। विद्वान् अपनी विद्या के बल पर सर्वत्र यश, प्रतिष्ठा, सम्मान प्राप्त कर लेता है।

मुझे एक घटना याद आती है—

राजस्थान में एक करोड़पति सेठ ने अपनी विशाल हवेली बनवाई। बड़ी लम्बी-चौड़ी, सफेद बढ़िया संगमरमर लगाकर उसे ताजमहल जैसी चमका दी। हवेली के प्रवेश-द्वार पर उसने सबसे ऊपर चाँदी की सरस्वती की मूर्ति बनवाकर लगाई। उनके पड़ौस में ही एक वकील साहब रहते थे। जो हालात से साधारण थे, परन्तु बुद्धिमान् थे। वे सेठ जी से अक्सर हँसी-मजाक और छेड़छाड़ करते रहते थे। एक दिन हम उस गाँव में गये तो सेठ जी और वकील साहब दोनों ही बैठे थे। वकील साहब ने सेठ जी की हवेली पर विराजित सरस्वती की चाँदी की मूर्ति की चर्चा करते हुए कहा– "महाराज साहब, देखा आपने? सभी लोग अपने भवन-द्वार पर गणेश जी या लक्ष्मी जी को बैठाते हैं, इसने सरस्वती को क्यों बैठाया?"

हमने पूछा—"क्यों . . . . ?"

बोले—"इस मूर्खराज के पास लक्ष्मी की तो कमी नहीं है, इसलिए इसे लक्ष्मी की तो जरूरत ही नहीं है। परन्तु बुद्धि की कमी है इसमें। पूरा मूर्खराज है। इसलिए सरस्वती को प्रसन्न करने के लिए इसने चाँदी की सरस्वती की मूर्ति घर के प्रवेश-द्वार पर लगाई है। खैर, यह तो एक मजाक की बात है, परन्तु सच्चाई यह है कि मनुष्य के पास लक्ष्मी नहीं हो तो उसका काम चल जाता है, परन्तु अगर सरस्वती की कृपा न हो तो संसार में वह मूर्ख कहलाता है। इसलिए सभी देवताओं में सरस्वती का अपना खास महत्त्व है।"

जैन-परम्परा में चक्रेश्वरी देवी और पद्मावती देवी का बड़ा महत्त्व है, परन्तु आप देखेंगे कि सरस्वती देवी का उनसे भी अधिक महत्त्व है। स्वयं गणधर देव श्रुत (शास्त्र) रचना करने से पहले णमो सुय देवस्स—श्रुत देवता को नमस्कार करके इसका महत्त्व प्रतिपादित करते हैं।

शिक्षा के साथ संस्कार भी जरूरी हैं

आज साक्षरता के प्रचार हेतु राष्ट्रीय अभियान चल रहा है। कोई निरक्षर नहीं रहेगा। सब पढ़ें, अक्षरज्ञान प्राप्त करें, शिक्षा का विकास करें।

यह देश के विकास और उन्नति के लिए जरूरी है। किन्तु इससे भी जरूरी है, चाहे शिक्षित हो या अशिक्षित–संस्कारी अवश्य बनें। सुसंस्कार पहली शर्त है। अगर शिक्षित संस्कारी नहीं है, तो वह एक निरक्षर संस्कारी से गया-गुजरा माना जायेगा। इसलिए आज वसन्त पंचमी के दिन मेरा सम्पूर्ण देश, समाज और राष्ट्र को यही संदेश है कि शिक्षा के प्रचार के साथ संस्कार जागरण भी करें। शिक्षा और संस्कार दोनों विषयों में ही इसे बल देना है। संस्कारविहीन शिक्षा मनुष्य के विकास में सहायक नहीं होगी, किन्तु कुसंस्कारी शिक्षित देश को विनाश के गर्त्त में ढकेल देगा। इसलिए वसन्त पंचमी को केवल सरस्वती-पूजा का त्यौहार मनाने से काम नहीं चलेगा। किन्तु संस्कार-जागृति का पर्व बनाया जाये–यही मेरा संदेश है।

संस्कारों का जागरण सदाचार से होगा, इसलिए वसन्त पंचमी का अगला सन्देश भी ध्यान से सुनें–

वसन्त पंचमी : काम-पूजा नहीं, काम-विजय का पर्व है

इतिहासकारों का कहना है–प्राचीनकाल में भारत के गुरुकुलों में हजारों विद्यार्थी गुरुओं के चरणों में बैठकर विद्याध्ययन किया करते थे और अपने जीवन को सत्यं, शिवं, सुन्दरम् से जोड़ते थे। सबसे पहले सत्य का ज्ञान प्राप्त करते थे। फिर शिवं–कल्याण का मार्ग पहचानते थे। उसके बाद सौन्दर्य–कला-कौशल सीखते थे। परन्तु जब से भारत में वाम मार्ग का प्रभाव बढ़ा तो सत्यं, शिवं के स्थान पर केवल सुन्दर को महत्त्व दिया जाने लगा और लोग सरस्वती-पूजा छोड़कर कामदेव की पूजा करने लगे। वसन्त पंचमी के पवित्र पर्व पर सरस्वती-पूजा के स्थान पर मदन-महोत्सव मनाया जाने लगा। इसी कारण भारत में ज्ञान-विज्ञान का ह्रास हुआ और आचार-विचार में गिरावट आई। चरित्र का पतन हुआ। भारत के गुरुकुलों में जहाँ अन्य देशों से सैकड़ों, हजारों छात्र पढ़ने के लिए आते थे, ज्ञान प्राप्त करने आते थे। आज वहाँ भारत के छात्र ज्ञान प्राप्त करने विदेशों में जा रहे हैं। ज्ञान का, विद्या का यह ह्रास–पतन क्यों हुआ ? इसका कारण है कि सरस्वती के स्थान पर काम को महत्त्व दिया जाने लगा। सत्य के स्थान पर केवल 'सुन्दरं' की पूजा होने लगी।

यह सही है कि वसन्त ऋतु प्रफुल्लता की ऋतु है। प्रकृति की सुषमा अपने पूर्ण विकास में निखरती है। रंग-बिरंगे फूल खिलते हैं। न अधिक सर्दी, न अधिक गर्मी यह सब बातें मनुष्य के मन में भावनात्मक परिवर्तन

करती हैं। उसकी कोमल भावना और उमंगों को सहलाती हैं और इस कारण काम की जागृति भी हो सकती है। इसी कारण फूलों को कामदेव का शर–धनुष कहा गया है। कामदेव का एक नाम है–पुष्पधन्वा। संस्कृत काव्यों में बताया गया है–काम के पाँच बाण हैं–रक्त-कमल, अशोक-पुष्प, आम्र-मंजरी, नवमल्लिका के फूल और नीलोत्पल-कमल। इन पाँच बाणों से कामदेव मनुष्यों को अपना शिकार बनाता है। भावनात्मक रूप में–सम्मोहन, उन्मादन, शोषण, तापन और स्तंभन–ये पंचशर कहलाते हैं, जो मनुष्य के भीतर भावों को उत्तेजित करते हैं। उर्वशी, मेनका, रंभा ये अप्सराएँ कामदेव के हथियार हैं जिनसे वह संसार में ऋषि-मुनियों, तपस्वियों पर विजय प्राप्त करता है। वास्तव में फूल सौन्दर्य के प्रतीक हैं, तो ये अप्सराएँ सभी सम्मोहन की प्रतीक हैं। रति और प्रीति–ये कामदेव की पत्नियाँ हैं अर्थात् ये मनुष्य की भावनाएँ हैं। शारीरिक सुखों के प्रति लालसा प्रीति है और उनका उपभोग रति है। इस प्रकार कामदेव मनुष्य की भौतिक वैषयिक सुखों की भावना का प्रतीक है। उसके उद्दीपन के साधन हैं–सुगंधित शीतल पवन, फूल आदि। वसन्त ऋतु में इन सब का विकास और प्रभाव रहता है। इसलिए शरीर सौन्दर्य की पूजा करने वालों ने वसन्त-पूजा को काम-पूजा के रूप में परिवर्तित कर दिया और वसन्त पंचमी के दिन मदन-महोत्सव मनाया जाने लगा। हँसी-मजाक, उन्मुक्त आचरण, प्रेमालाप, प्रणय-प्रसंग यह सब क्रियाएँ वसन्त पंचमी के उपलक्ष्य में होने लगीं। ज्ञान के उच्च मार्ग पर बढ़ने वाला मानव पथभ्रष्ट होकर चारित्रिक पतन की ओर धकियाने लगा।

मदन-पूजा या मदन-दहन

वसन्त पंचमी के कुछ दिन बाद महाशिवरात्रि का पर्व आता है। भारतीय संस्कृति पर शोध करने वालों का अनुमान है कि वसन्त पंचमी और महाशिवरात्रि का परस्पर सम्बन्ध है। वे इस पर्व को मदन-पूजा की जगह कुमारसंभव में वर्णित मदन-दहन अर्थात् काम-विजय का पर्व मानते हैं। इसकी पौराणिक कथा इस प्रकार है कि पार्वती ने शिव को पतिरूप में पाने का संकल्प किया। पार्वती को अपने अद्भुत सौन्दर्य का गर्व था। वह सोचती थी अपने रूप-सौन्दर्य, हाव-भाव द्वारा वह शिव की तपश्चर्या भंग करके उन्हें मोह-मुग्ध कर लेगी। हिमालय के देवदारू वन में जहाँ शिव अखण्ड तप में लीन थे, पार्वती वहाँ पहुँची, सहायता के लिए कामदेव को

बुलाया, वह भी अपने बाण चलाकर शिव की समाधि भंग करने लगा। समाधि भंग होते ही पार्वती सामने बैठ अपने मोहक रूप का प्रदर्शन करने लगी। शिव सोचने लगे–'मेरी समाधि भंग क्यों हुई?' तभी उन्हें वृक्ष पर बैठा कामदेव दिखाई दिया। कामदेव की हरकतों पर शिव को क्रोध आया और अपना तृतीय नेत्र खोलकर नेत्र से तीव्र ज्वाला निकाली और कामदेव वहीं भस्म हो गया। शंकर फिर समाधि में लीन हो गये। तब पार्वती का रूप-गर्व खण्डित हो गया। वह सोचने लगी–'शिव जैसे महापुरुष को रूप-सौन्दर्य व मोह-ममता से नहीं, तपस्या से ही प्राप्त किया जा सकता है।' तब पार्वती ने तपस्या प्रारम्भ कर दी। पार्वती की दीर्घकालीन घोर तपस्या से शिव प्रसन्न हुए।

महाकवि कालिदास ने अपने विश्व प्रसिद्ध काव्य 'कुमारसंभव' में शिव द्वारा मदन-दहन का यह प्रसंग बहुत ही रोचक और आकर्षक शैली में प्रस्तुत किया है, जिसे पढ़ते-पढ़ते पाठक मुग्ध हो जाता है। यह एक प्रकार का आध्यात्मिक रूपक है, जिसका तात्पर्य है काम मनुष्य की वासनात्मक, मोह-प्रधान वृत्ति है। यह वासना मनुष्य के पतन का कारण है। इस अधम कुत्सित वृत्ति को ऊर्ध्वमुखी बनाने के लिए ध्यान और तपश्चर्या आवश्यक है। ध्यान एवं तपश्चर्या के द्वारा ही काम को भस्म करके संसार विजय किया जा सकता है। पार्वती अर्थात् आत्मा अपने सौन्दर्य से नहीं, किन्तु निष्काम-तप के द्वारा ही शिव (भगवान) को प्रसन्न कर सकती है। मनुष्य निष्काम-तप करके ही शिव गति अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। ध्यान देने की बात यह है कि वैदिक धर्म के देवताओं में शिवशंकर ही एक ऐसे देव हैं जो काम विजेता, मदनहन्ता और वीतराग भाव के प्रतीक हैं। अन्य देवों को सुन्दर वस्त्र, सोने, हीरे, मोती के आभूषण पहनाये जाते हैं, परन्तु शिवशंकर तो नग्न रहते हैं। केवल एक लँगोटी और शरीर पर भस्म रमाकर। अन्य देव सिंहासनों पर विराजित हैं। मुकुट धारण किये हुए हैं। शिवशंकर मृग चर्म के आसन पर बैठते हैं। जटा-जूट बढ़ाये हुए हैं। अन्य देवों को मिष्टान्न और सुगंधित फूल चढ़ाये जाते हैं। किन्तु शिवशंकर केवल दूध और बेल फल तथा धतूरे के फूलों से ही प्रसन्न हो जाते हैं। ये सब प्रतीक उनकी निस्पृहता और काम-विजेता स्वरूप को प्रदर्शित करते हैं कि भगवान शंकर को प्रसन्न करना है तो भौतिक प्रलोभनों से नहीं, किन्तु ध्यान और तप के द्वारा, संयम और उच्च पवित्र भावनाओं के द्वारा ही

उन्हें प्रसन्न किया जा सकता है। यह जैन संस्कृति का ही नहीं, अपितु वैदिक संस्कृति का भी स्वर है जो हमें तप का महत्त्व बताता है।

वसन्त पंचमी के साथ काम-पूजा का सम्बन्ध वास्तव में वाममार्ग की कुत्सित धारणा का चिह्न है, वास्तव में तो यह पर्व शिवशंकर की काम-विजय का पर्व है। पहले ज्ञान-पूजा करो, ज्ञान प्राप्त करो, फिर ज्ञान के द्वारा वैराग्य अर्थात् वीतराग भाव की प्राप्ति करो। इस प्रकार वसन्त पंचमी भारतीय संस्कृति का अध्यात्मोन्मुखी पर्व है और भगवान महावीर के इस सन्देश को चरितार्थ करती है—

"नाणस्स सव्वस्स पगासणाए, अन्नाण मोहस्स विवज्जणाए।
रागस्स दोसस्स य संखएणं, एगंत सोक्खं समुवेइ मोक्खं॥"

—उत्तरा. ३२/२

—अज्ञान और मोह का नाश होने पर सम्पूर्ण ज्ञान का आलोक प्राप्त होता है और ज्ञान द्वारा मनुष्य मोह पर विजय प्राप्त कर वीतराग बनता है। वसन्त पंचमी का यही सन्देश आज आपके लिए है।

● ●

निर्मल ज्ञान और विवेक की प्रतीक है : सरस्वती

प्रसिद्ध जैन आगम भगवतीसूत्र के प्रारम्भ में मंगलाचरण आता है–

नमो बंभीए लिविए : नमो सुयदेवस्स।

–ब्राह्मी लिपि को नमस्कार : श्रुत देवता को नमस्कार।

जैन शास्त्रों में वीतराग देव व संयमी आत्मा के सिवाय किसी भी दिव्य शक्ति या देवता को कहीं भी नमस्कार नहीं किया गया है। तब पाठकों को भगवतीसूत्र जैसे महान् आगम की आदि में 'नमो सुयदेवस्स' शब्द कुछ आश्चर्यकारक लगता है। जिज्ञासा होती है, यहाँ श्रुत देवता के रूप में किसको नमस्कार किया गया है। क्या श्रुत देवता–सरस्वती है, जिसे विद्या देवी भी कहा जाता है ?

सामान्य पाठक श्रुत देवता शब्द से सरस्वती या ज्ञान की अधिष्ठात्री देवी का ही बोध करते हैं। लक्ष्मी आदि के साथ भी सरस्वती का बुद्धि की देवी के रूप में उल्लेख मिलता है। **अंगविज्जा ग्रन्थ** में मेधा एवं बुद्धि के देवता के रूप में सरस्वती का नामोल्लेख किया गया है। किन्तु सोलह विद्या देवियों के परिवार में सरस्वती का नाम नहीं होना यह जिज्ञासा पैदा करता है कि क्या सरस्वती कोई विद्या देवी है या यह हमारी अन्तःस्थित निर्मल ज्ञान चेतना एवं श्रुत चेतना की प्रतीक है।

मंत्र शास्त्रगत सरस्वती मंत्रों में सरस्वती के लिए **ॐ अर्हन् मुख कमल वासिनी** का विशेषण प्रसिद्ध है, जो यह सूचित करता है कि यह कोई देवी नहीं, किन्तु तीर्थंकर देव की अध्यात्म-ज्ञान गर्भित वाणी है। तीर्थंकरों की अनन्त ज्ञानमय अतिशययुक्त वाणी जो प्राणिमात्र के अन्तःस्थित बोध, चेतना और विवेक को जगाने वाली है, जीवन के भीतर प्रकाश और विवेक-बुद्धि का अन्तःप्रवाह प्रकाशित करती है। उसके लिए ही यहाँ सरस्वती शब्द का प्रयोग हुआ लगता है। जैन श्रमणों का नित्य पठनीय षडावश्यक श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा में बड़ा विस्तृत है, उसमें नवस्मरण व अनेक स्तुतियाँ भी ग्रथित हैं, उसमें श्रुत-देवता की आराधना को एक पाठ आता है

सुए देवयाए भगवई, नाणावरणीय कम्मसंघायं।
तेसिं खवेउं सययं, जेसिं सुय सायरे भत्ती।

–जिनकी श्रुत-सागर के प्रति भक्ति है, वे श्रुत देवता की आराधना करते हुए ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय करते हैं। उक्त कथन से भी यह ध्वनित होता है, श्रुत देवता के रूप में श्रुतज्ञान की ही आराधना की जाती है और श्रुतज्ञान की आराधना करता हुआ साधक ज्ञानावरणीय कर्मों का क्षय करता है। इसलिए सरस्वती वन्दना में श्रुत देवता शब्द सार्थक होता है।

वेदों में सरस्वती को कहीं बुद्धि, कहीं मेधा और कहीं वाणी के रूप में बताते हुए वाग् देवता–ज्ञान देवता की संज्ञा दी गई है।

यजुर्वेद में एक मंत्र आता है–

वाचा सरस्वती भिषग्। –१९/१२

–वाणी ज्ञान की अधिष्ठात्री है, इसलिए वह सरस्वती है। सदुपदेश के द्वारा वह मानव समाज की विकृतियाँ–आचार-विचार की विकृति रूप रोग को दूर करने के लिए वैद्य रूप भी है।

पावका नः सरस्वती।

–हमारी वाणी सदा पवित्र रहे। इन मंत्रों के अनुसार भी यह बात स्पष्ट होती है कि बहुत प्राचीनकाल में विद्या, ज्ञान और वाणी को ही सरस्वती का रूप माना जाता रहा है।

इस प्रकार शब्दों व विशेषणों के भीतर छिपे भाव को ग्रहण करें तो यही स्पष्ट होता है कि जिनवाणी रूप ज्ञान चेतना को सरस्वती माना गया है। ज्ञान चेतना प्रत्येक मनुष्य के अन्तःकरण में स्थित है। इसलिए मानव-मस्तिष्क और मानव-हृदय ही सरस्वती का पवित्र मन्दिर है।

सरस्वती आत्मिक वैभव की प्रतीक है

मनुष्य स्वभाव से सुख, वैभव और प्रसन्नता चाहता है। यह प्रसन्नता धन से भी प्राप्त होती है, और बुद्धि से भी। धन वैभव से मिलने वाली प्रसन्नता और सुख वास्तव में पराश्रित है। धन है, पद है, राजसत्ता है तो आनन्द है, प्रसन्नता है और राजसत्ता का सुख छिन गया, धन नष्ट हो गया तो प्रसन्नता भी चिंता, शोक में बदल जाती है। लक्ष्मी के रूप में जो आनन्द और प्रसन्नता प्राप्त होती है वह स्थायी नहीं है। दूसरे पर निर्भर है, यह कामचलाऊ सुख है, किन्तु अपने ज्ञान, विवेक, सद्बुद्धि द्वारा जो प्रसन्नता,

जो आनन्द भीतर से उत्पन्न होता है वह स्थायी है। यह प्रसन्नता सरस्वती की कृपा से प्रगट होती है इसका आधार बाहर नहीं, भीतर है।

इसलिए सरस्वती वास्तव में हमारी ज्ञान चेतना, सद्बुद्धि और विवेक का रूप है। विभिन्न प्रतीकों द्वारा सरस्वती की यही विशेषता प्रकट की गई है।

लगता है धीरे-धीरे सरस्वती को एक देवता के रूप में मान लिया गया। जैसे लक्ष्मी धन की देवी है, वैसे सरस्वती को विद्यादेवी के रूप में प्रतिष्ठा मिली है।

एक बार का प्रसंग है–

विहार करते हुए हम एक दिन किसी विद्यालय में ठहरे थे। गर्मियों की छुट्टियाँ थीं। इसलिए विद्यालय का प्रार्थना हॉल ठहरने के लिए खोल दिया गया। प्रार्थना हॉल में सरस्वती का विशाल सुन्दर चित्र टँगा था। कला की दृष्टि से भी चित्र मनभावना था। मैं बहुत देर तक देखता रहा। अचानक दिनेश मुनि ने पूछा–"गुरुदेव ! इस चित्र को बहुत देर से आप देख रहे हैं, इसमें क्या खास बात है ?"

मैंने कहा–"सरस्वती विद्या एवं ज्ञान की देवता है। इसके ये प्रतीक कितने भावपूर्ण और अर्थवान हैं। इसी पर चिन्तन कर रहा था।"

दिनेश मुनि जी ने पूछा–"कैसे गुरुदेव ! मुझे भी समझाइए ?"

मैंने कहा–

"सरस्वती के एक हाथ में **माला** है–यह मन की एकाग्रता व ध्यान, चिन्तन का प्रतीक है। दूसरे हाथ में **वीणा** है। वीणा संगीत और ललितकला प्रेम को सूचित करती है। संगीत भी एकाग्रता व तन्मयता का साधन है। संगीत आनन्द का स्रोत है।

तीसरे हाथ में **पुस्तक** है–यह विद्या प्रेम, अध्ययन और साहित्य-सर्जना की सूचना देती है। इन प्रतीकों से मन की प्रसन्नता का सूचन होता है।

सरस्वती के चौथे हाथ में **कमल** है। कमल मन को पवित्र, निर्विकार रखने की प्रेरणा प्रदान करता है। कमल जैसा जीवन जीने की शिक्षा देता है।

सरस्वती का वाहन **मोर** है, कहीं-कहीं हंस भी बताया जाता है। मोर सर्पभक्षी है, सरस्वती का साधक दुर्गुणरूपी नागों का नाश करता है। अहंकाररूपी नाग का दमन करने के लिए सरस्वती का मोर सूचना देता है। जहाँ ज्ञानरूपी मोर आयेगा वहाँ अहंकाररूपी नाग भाग जायेगा। हंस निर्मल विवेक और सजग बुद्धि का प्रतीक है।

सरस्वती का आसन कमल है। ज्ञान और विद्या का उपासक भौतिक सुखों के कीचड़ में लिप्त नहीं होता। राजनीतिक छल-प्रवंचना से विद्वान् दूर रहते हैं इसकी सूचना देता है, कमल। ज्ञानी का मन सदा कमल समान कोमल, मृदुल और उज्ज्वल रहना चाहिए।

सरस्वती के वस्त्र-परिधान बर्फ जैसे उज्ज्वल व स्वच्छ हैं। विद्या उपासक का चरित्र ऐसा ही बेदाग और निर्मल रहना चाहिए।

निर्विकार निर्मल हृदय ही सरस्वती का मन्दिर है

सरस्वती की मूर्ति का जो चित्र भारतीय कलाकारों ने मूर्ति-शिल्प में अंकित किया है उस पर सरस्वती को कई स्थानों पर कमल पर विराजमान दिखाया जाता है तथा उसके दाहिने हाथ में विकसित कमल दिखाया है। बताया जाता है सफेद कमल सब फूलों का राजा है। भगवान महावीर को श्वेत कमल की उपमा देकर बताया गया है–"**पुप्फेसु वा जहा अरविंद माहु।**"–फूलों में जैसे अरविंद पुष्प अर्थात् श्वेत कमल श्रेष्ठ है। श्वेत कमल सरस्वती को प्यारा है, प्रिय फूल है। इससे यह संकेत किया गया है कि जो कमल की तरह सांसारिक विषयवासना से निर्लेप, पवित्र हृदय होता है, उसी पर माता सरस्वती की कृपा होती है, केवल सरस्वती के मंत्र जपने से ही सरस्वती प्रसन्न नहीं होने वाली है, इसके लिए सबसे बड़ी और पहली शर्त है मन की पवित्रता।

मंत्र शास्त्र के विद्वानों का कथन है–लक्ष्मी की आराधना कोई भी कर सकता है। लक्ष्मी किसी पर भी प्रसन्न हो जाती है और अधिकतर गृहस्थ ही लक्ष्मी मंत्र की आराधना करते हैं किन्तु सरस्वती की आराधना, उपासना के लिए ब्रह्मचारी होना जरूरी है। मंत्र-साधना काल में साधक का अन्तर्हृदय पूर्ण पवित्र और निर्मल रहे तभी साधना सफल हो सकती है। कहा जाता है आचार्य हेमचन्द्रसूरि ने सरस्वती मंत्र की साधना की तब उनके सामने एक नवयौवना सुन्दरी बस्त्ररहित दशा में बैठती थी और आचार्यश्री मंत्र-साधना करते रहे। उनके मन की दृढ़ता, पवित्रता और निर्विकारता कितनी उच्च-स्तर की थी यह इस अनुश्रुति से पता चलता है कि एक नवयौवना सुन्दरी ऐसी स्थिति में आँखों के सामने हो और साधक का एक रोम भी चंचल न बने, पूर्ण निर्विकार रहे।

निर्विकारता का एक उदाहरण आचार्य श्री बप्पभट्टीसूरि का भी प्रसिद्ध है। बप्पभट्टीसूरि विक्रम की आठवीं सदी के एक महान् प्रभावक आचार्य

हुए। आम्र राज को इन्होंने धर्मबोध देकर श्रावक धर्म में दीक्षित किया। जब वे मुनि पद पर थे तब उनके गुरु आचार्य श्री सिद्धसेनसूरि ने उनकी उत्कृष्ट निर्विकारता, दृढ़ता और ब्रह्मचर्य की नैष्टिकता देखकर उन्हें सारस्वत मंत्र दिया। मुनि बप्पभट्टी सारस्वत मंत्र की साधना में संलग्न हुए। मंत्र जब सिद्ध होने को आया तो माता सरस्वती उनकी दृढ़ता और निर्विकारता की परीक्षा लेने जलक्रीड़ा करती हुई सुन्दरी के रूप में प्रत्यक्ष हुई। पूछा–"मुझे क्यों याद किया?" मुनि बप्पभट्टी उस जलक्रीड़ा करती सुन्दरी को देखकर पीठ फेरकर बैठ गया। माता ने पूछा–"तुमने मुझे याद किया, फिर मुँह क्यों फेर लिया?" मुनिवर बोले–"माता, मैं तो आपके मातृरूप का दर्शन करना चाहता हूँ।"

देवी मुनिवर की उत्कृष्ट निर्विकारता और चारित्रिक श्रेष्ठता देखकर प्रसन्न हुई और कहा–"मैं प्रसन्न हूँ। तुझे वर देती हूँ तू शास्त्र विद्या में पारंगत हो।"

तो सरस्वती सदा ही पवित्र हृदय में निवास करती है। विद्या काल में इसीलिए अखण्ड ब्रह्मचर्य की साधना की जाती है। ब्रह्मचारी पर विद्या देवता शीघ्र प्रसन्न होती है।

इन सब तथ्यों पर चिन्तन करने से जो प्रमुख संकेत मिलते हैं वे इस प्रकार हैं–

१. सरस्वती–हमारी अन्तःस्थित ज्ञान चेतना है।

२. सरस्वती–तीर्थंकरों की वाणी रूप वाग् देवता है। इसे ही श्रुत देवता कहा जाता है।

३. सरस्वती का आधार प्रतिष्ठान–तीर्थंकरों का मुख-कमल है।

४. सरस्वती का मन्दिर–मनुष्य का निर्मल अन्तःकरण है।

५. सरस्वती का वरदान उसी को प्राप्त होता है जिसका अन्तःकरण निर्मल, विकाररहित होता है। चारित्रिक श्रेष्ठता ही सरस्वती का आधार है।

६. सरस्वती–हमारी एकाग्रता (माला), तन्मयता (वीणा), शास्त्र-स्वाध्याय (पुस्तक), विवेक (हंस), निरभिमानता (सर्पभक्षी मोर) तथा मन की विरक्तता (कमल) की सम्प्रेरक है और यह सूचना देती है कि सरस्वती के साधक में यह सब गुण अपेक्षित हैं अथवा इन गुणों का पात्र ही सरस्वती का कृपापात्र बन सकता है। ● ●

रंग-बिरंगी होली सबको कर देती इकरंग

त्यौहार और पर्वों की संस्कृति का देश है भारत ! इसमें हर दिन कोई न कोई त्यौहार मनाया जाता है। ये त्यौहार मानव-समाज की उमंगों एवं आशाओं के प्रतीक हैं। मनुष्य सहज ही आशावादी होता है, आशा ही उसे प्रसन्न और कार्यशील रखती हैं। इसलिए आशाओं को जीवित और प्रचण्ड रखने के लिए वह पर्व, त्यौहार आदि उत्सव मनाता रहता है। त्यौहारों में मानव जाति को संस्कार और विचार देने की एक अन्तरधारा इनमें छिपी रहती है। जैसे गंगा-यमुना के प्रवाह के भीतर सरस्वती का प्रवाह छिपा है। वैसे ही हमारे देश में हर त्यौहार व पर्व के भीतर एक आदर्श समाज की कल्पना और भावना, मानव जाति के पारस्परिक प्रेम, समानता, हर्ष-उल्लास का संस्कार और आदर्शों की कल्पना इन पर्वों के पीछे छिपी है।

होली का त्यौहार भारतीय त्यौहारों में एक अपने ढंग का अनोखा और निराला त्यौहार है। अन्य त्यौहारों में देव-मूर्तियों की पूजा होती है, परन्तु इस त्यौहार में किसी मूर्ति की पूजा नहीं की जाती, अपितु कूड़ा-कचरा, गंदगी आदि जलाई जाती है। यह त्यौहार बुराइयों के विध्वंस का प्रतीक है। होली रंगों का त्यौहार माना जाता है। गुलाल–अबीर उड़ाने–लगाने का त्यौहार है यह। अन्य त्यौहारों की भाँति इस त्यौहार के मूल में भी मानव जाति की समानता, भाईचारा और परस्पर का मनोमालिन्य मिटाकर एक-दूसरे के संग हर्ष-उल्लास मनाने की भावना निहित है, किन्तु धीरे-धीरे इसमें विकृतियाँ आ गई हैं। इसलिए आज सभ्य समाज होलीं जैसे त्यौहार से डरता है। इसे असभ्यता और अश्लीलता का त्यौहार बताने लग गया है।

वैसे हर एक परम्परा, पर्व या त्यौहार का प्रारम्भ किसी खास उद्देश्य के साथ ही होता है, परन्तु अज्ञान व अशिक्षा के कारण, पर्व की मूल भावना को लोक नहीं समझकर लीक पीटने के आदी हो जाते हैं। होली का त्यौहार भी इसी प्रकार विकृत हो गया है।

सामूहिकता की भावना

वैसे देखा जाय तो यह त्यौहार खेतों में फसल तैयार होने की खुशी में मनाया जाता है। होली की अग्नि में नये अन्न की बालों को भूनकर खाने के पीछे नई फसल का स्वाद और आह्लाद लेने की भावना छुपी है। इस त्यौहार की एक सबसे बड़ी विशेषता कहें या इसका उद्देश्य कहें कि इसमें सामाजिक समानता का बीज विद्यमान है। यह एक ऐसा त्यौहार है जब समाज का प्रत्येक व्यक्ति, प्रत्येक वर्ण व समुदाय का भाई एक-दूसरे भाई से खुलकर गले मिलता है। दिल खोलकर एक साथ मनोरंजन करते हैं। इसलिए ऊँच-नीच, गरीब-अमीर, ब्राह्मण और शूद्र सभी परस्पर के भेदभाव भूलकर एक-दूसरे को रँगते हैं, एक-दूसरे से मिलते हैं और परस्पर एक-दूसरे का मुँह मीठा करते हैं। महापुरुषों ने सबको गले लगाने की, सबके साथ समान व्यवहार करने की जो शिक्षा दी है, होली के त्यौहार पर वह साकार होती दिखाई देती है। परस्पर वे वैर, विद्वेष भुलाकर सामूहिकता का सूत्र जोड़ने में होली का त्यौहार अपना महत्त्व रखता है। हिन्दू धर्म में बताया है होली के दिन ब्राह्मण यदि चाण्डाल का स्पर्श कर लेवे तो भी अपवित्र नहीं होता। यह मानव जाति को एक मानने की भावना का स्वर है।

कूड़ा-कचरा जलाने का त्यौहार

होली जलाने के लिए लोग इधर-उधर पड़ा कूड़ा-कचरा, झाड़-झंखाड़ इकट्ठा करते हैं। चारों तरफ पड़ी गंदगी साफ करके एक जगह ढेर लगाकर जलाते हैं।

होली का संदेश यह है कि भीतरी और बाहरी गंदगी को ढूँढ़-ढूँढ़कर साफ कर डालो। जहाँ भी बुराइयों का ढेर लगा है, अन्याय का गुब्बार भरा है उसे उठाकर साफ कर डालो। सब मिलकर समाज का शुद्धिकरण करो। दीपावली समाज में स्वच्छता का प्रदर्शन करती है, परन्तु होली गंदगी, कूड़ा-कचरा को जलाकर वातावरण को साफ-सुथरा बनाने की प्रेरणा देती है। होली कहती है, बुराई को भीतर छिपाकर मत रखो, परन्तु निर्भीक होकर उसे बाहर निकाल दो, जहाँ भी गंदगी व कूड़ा-कचरा है उसे उठाकर साफ कर दो, ताकि आपके समाज का वातावरण स्वच्छ रहे। आपके आसपास का वातावरण स्वच्छ रहे।

होली में कीचड़, मिट्टी उछालना, असभ्य भाषा बोलना, भद्दे और अश्लील मजाक करना–यह तो मूर्खों व अज्ञानियों का काम है। मनोविनोद

और मनोरंजन के लिए अश्लीलता की जरूरत नहीं है। किसी के कपड़े गंदे करके उसे रँगना यह तो मूर्खता का काम है।

देवर-भाभी का परस्पर अश्लील, अभद्र व्यवहार होली में पशुता का प्रतीक माना गया है। वास्तव में यह सब विकृतियाँ मनुष्य की अशिक्षा, अज्ञान और मूढ़ता से पैदा होती हैं। शिक्षित, सुसंभ्रांत मनुष्य भी मनोविनोद करते हैं; मनोरंजन करते हैं। एक-दूसरे के गुलाल लगाकर उसका अभिवादन करके प्रेम प्रदर्शित करते हैं। इसलिए प्रत्येक त्यौहार व पर्व मनाने में विवेक व ज्ञान होना जरूरी है। विवेकपूर्वक त्यौहार मनाया जाये तो त्यौहार आनन्ददायी होता है, उल्लास और उमंग देता है। जीवन में नया उत्साह भरता है। यदि त्यौहार मनाने में विवेकहीनता और पशुता आ जाये तो वह त्यौहार भी तो-हार–तुम्हारी हार–अर्थात् पराजय का कारण बन जाता है। यही कारण है कि समाज में, जीवन में, अपने मुहल्ले में फैली गंदगी, अनावश्यक हानिकारक वस्तुएँ बटोर-बटोरकर होली में जलायी जाती हैं। यह सब इस बात का संकेत है कि समाज और व्यक्ति के जीवन में, राष्ट्र की धारा में जहाँ भी कूड़ा-कचरा, झाड़-झंखाड़, काँटों, बुराइयों और बीमारियों के रूप में जमा हो रहा है। उसे सामूहिक रूप से मिल-जुलकर हटाओ। समाज व राष्ट्र की स्वच्छता के लिए अकेला व्यक्ति प्रयत्न करे तो सफल नहीं हो सकता, यहाँ तो सामूहिक अभियान की जरूरत है। सब मिलकर समाज की बुराइयाँ दूर करें, राष्ट्रीय जीवन में आई गंदगी को सब मिलकर, उठाकर फेंकें और उसे जलाकर भस्म कर डालें, तभी समाज और राष्ट्र स्वच्छ रह सकता है।

रास्ते में काँटे और रुकावट आना एक प्राकृतिक नियम है। प्रकृति में फूल भी पैदा होते हैं और काँटे भी। यदि काँटे न हों, विघ्न-बाधाएँ न आवें तो पुरुष की जागरूकता, क्रियाशीलता, चैतन्यता व विचारकता ही नष्ट हो जायेगी। रगड़ में वह शक्ति है जो लोहे को हथियार बना देती है, लकड़ी से चिंगारी पैदा करती है। विज्ञान का सिद्धान्त है संघर्षण ही शक्ति को पैदा करता है। यदि जीवन में संघर्ष नहीं है, तो मनुष्य की जागरूकता समाप्त हो जायेगी। सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक विकृतियाँ संघर्ष से ही मिटती हैं। संघर्ष से डरकर भाग्य के भरोसे बैठने वाले शुतुरमुर्ग की तरह बालू में मुँह गाड़कर निश्चिन्त बैठ जाएँ तो वे निष्क्रिय हो जायेंगे। ऐसा निष्क्रिय समाज गरीबी, गुलामी और बीमारियों का शिकार होता है। पारस्परिक प्रेम और एकता के त्यौहार पर भी कभी-कभी झगड़े, हिंसा

और हत्याकाण्ड भी हो जाते हैं। इसका कारण है होली पर अपने होश-हवास खो देना, मदिरापान या मानसिक असंतुलन के कारण होली कई बार प्रेम की व शांति की होली भी जला देती है।

कच्चे रंग क्यों ?

वास्तव में होली का त्यौहार भारतीय समाज में सबसे अधिक सामूहिकता और उमंग, उल्लास का परिचायक है। इसलिए अमीर लोग ही नहीं, गरीब से गरीब भी नाचता-कूदता है, प्रसन्नता में एक-दूसरे के गले लगता है। होली में रंग उड़ाया जाता है। इसलिए कच्चे रंगों का उपयोग होता है। कच्चा रंग हमें सूचित करता है—जीवन में सुख-दुख के प्रसंग होते हैं। कटुता, मान-अपमान आदि के भी प्रसंग बनते हैं। परन्तु उन रंगों को मन पर जमने मत दो। किसी को कटु शब्द, अपमानजनक व्यवहार, द्वेष और शत्रुता के भाव जो भी तुम्हारे साथ हुए उन्हें मिटा दो। उन रंगों को उड़ा दो। उन रंगों को मन पर जमाकर रखने से तुम्हारी प्रसन्नता और खुशियों का रंग बदरंग हो जायेगा। इसलिए गुलाल के रंगों की तरह इन पुराने व्यवहारों को भूल जाओ और मन को फिर साफ-सुथरा रखो तभी तो रंग-बिरंगी होली आपके जीवन को सुख और प्रसन्नता देगी, आनन्द और उल्लास देगी। अतः होली को यदि समझदारी और विवेकपूर्वक मनाया जाय, इसमें निहित सामाजिक एकता व सामूहिकता के आदर्शों को ध्यान में रखा जाय तो यह पर्व समाज के लिए आनन्ददायक बन सकता है।

पुराण कथाओं का हार्द

होली की पौराणिक कथा हिन्दू पुराणों में भी आती है और जैन कथा साहित्य में भी आती है। हिन्दू पुराणों के अनुसार जो होली का उपाख्यान प्रसिद्ध है उसमें भक्त प्रह्लाद ने असत्य और अन्याय का प्रतिरोध करके सत्य की रक्षा की थी। न्याय के लिए वह प्रतिबद्ध था और सर्वस्व समर्पित करने को तैयार था। हिरण्यकश्यप उसमें बाधा डाल रहा था। तब भगवान विष्णु ने नृसिंह रूप धारण कर उस असुर का वध किया और भक्त प्रह्लाद की रक्षा की। नृसिंह रूप का मतलब है प्रत्येक नर सिंह बनकर असत्य से लड़े। अन्याय से संघर्ष करे। बुराइयों के सामने घुटने नहीं टेके। कायर और डरपोक व्यक्ति, कमजोर और दुर्बल मनःशक्ति वाले संसार में विजयी नहीं हो सकते। इसलिए मनुष्य अपने भीतर छुपे नृ-सिंह स्वरूप को प्रकट करे, शक्ति को जगाये और अन्याय का नाश करे। नरसिंह का अवतार अन्याय

का नाश करने के लिए है, असत्य से युद्ध करने के लिए है। अन्याय व असत्य से चोली दामन रखना नरसिंह स्वरूप का अपमान है।

जैन कथा ग्रन्थों में हुताशिनी की कथा प्रसिद्ध है। होलिका नाम की कोई वणिक् कन्या है जो स्वभाव से चंचल और कामुक प्रवृत्ति की है। वह चरित्र से पतित होकर भी लोगों में अपने सतीत्व की झूठी प्रतिष्ठा स्थापित करना चाहती है और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वह अपनी शिक्षिका, परिव्राजिका को मोहरा बनाती है। परिव्राजिका पर्णकुटी में रहती है। होलिका ने अवसर देखकर फाल्गुनी पूर्णिमा के दिन पर्णकुटी में सोयी परिव्राजिका समेत कुटिया जला दी। लोगों ने चारों ओर यह मिथ्या प्रचार कर डाला कि होलिका सती हो गई। उसने अपनी शील रक्षा के लिए आत्म-दाह कर लिया। लोग उस कुटिया की राख को पवित्र राख मानकर शरीर पर लगाने लगे। तब परिव्राजिका, जो व्यन्तरी बन गई थी, उसने उस होलिका के दुराचार का भंडा फोड़ा। तब लोग होलिका के नाम पर कीचड़ उछालने लगे। उसे गालियाँ देने लगे और प्रतिवर्ष उस दुराचारिणी को जलाने का उपक्रम होने लगा। जैसे दशहरे पर रावण का पुतला जलाया जाता है, वैसे ही होली पर दुराचारिणी होलिका को जलाया जाता है।

इस कथा के पीछे दुराचार को भस्म करने का संकेत है। आज के सामाजिक एवं राजनैतिक जीवन में दुराचार-भ्रष्टाचार कितने भयानक रूप में व्याप्त है, यह किसी से छिपा नहीं। घोटाले सबको घोंट रहे हैं और हवाले सबकी हवा निकालकर रख रहे हैं। लोग एक-दूसरे पर मिथ्या दोषारोप-आरोप-प्रत्यारोप की राजनीति खेल रहे हैं। होलिका की तरह अपने भ्रष्टाचार और दुराचार को छिपाने की वे भी घिनौनी हरकतें कर रहे हैं। स्वयं बचने के लिए दूसरों को जलाकर भस्म करने की हरकतें कर रहे हैं। दुराचारिणी होलिका का रूपक आज की राजनीति पर लागू हो रहा है। अब हमें साहस करके इस दुराचार का पर्दा फाश करना चाहिए। असदाचार भ्रष्टाचार के ऊपर सदाचार की विजय करना—यही होलिका के आख्यान का संदेश है।

इस प्रकार हिन्दू एवं जैन—दोनों ही परम्परा के पौराणिक आख्यान हमें होली को असत्य और दुराचार का नाश करने वाले त्यौहार के रूप में मनाने की प्रेरणा देते हैं। पर्व-त्यौहार और उत्सव के पीछे रही इस भावना को राष्ट्रीय जागरण के रूप में मनाने की जरूरत है, तभी होलिका-दहन की

वास्तविक सार्थकता होगी और होली का रंग-बिरंगा रंगारंग पर्व आपके जीवन को सदाचार के रंगों से रंगीन बना सकेगा।

इस कथा के पीछे दुराचार को भस्म करने का संकेत है. आज के सामाजिक एवं राजनैतिक जीवन में दुराचार-भ्रष्टाचार कितने भयानक रूप में व्याप्त है, यह किसी से छिपा नहीं। घोटाले सबको घोंट रहे हैं और हवाले सबकी हवा निकालकर रख रहे हैं। लोग एक-दूसरे पर मिथ्या दोषारोप-आरोप-प्रत्यारोप की राजनीति खेल रहे हैं। होलिका की तरह अपने भ्रष्टाचार और दुराचार को छिपाने की वे भी घिनौनी हरकतें कर रहे हैं। स्वयं बचने के लिए दूसरों को जलाकर भस्म करने की हरकतें कर रहे हैं। दुराचारिणी होलिका का रूपक आज की राजनीति पर लागू हो रहा। अब हमें साहस करके इस दुराचार का पर्दा फाश करना चाहिए। असदाचार भ्रष्टाचार के ऊपर सदाचार की विजय करना–यही होलिका के आख्यान का संदेश है।

इस प्रकार हिन्दू एवं जैन–दोनों ही परम्परा के पौराणिक आख्यान हमें होली को असत्य और दुराचार का नाश करने वाले त्यौहार के रूप में मनाने की प्रेरणा देते हैं। पर्व-त्यौहार और उत्सव के पीछे रही इस भावना को राष्ट्रीय जागरण के रूप में मनाने की जरूरत है, तभी होलिका-दहन की वास्तविक सार्थकता होगी और होली का रंग-बिरंगा रंगारंग पर्व आपके जीवन को सदाचार के रंगों से रंगीन बना सकेगा।

● ●